Usha Satyavrat
Kamala Nehru College
New Delhi.

अमरभारती
के
प्रिय पाठकों को

निवेदन

संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, के अध्यक्ष डा. रसिकविहारी जोशी के स्नेहशील अनुरोध, मोतीलाल बनारसीदास के सञ्चालक लाला सुन्दरलाल जैन की तत्परता तथा डा. रविशंकर नागर के सक्रिय एवं सुयोग्य सहयोग से अमरभारती का शीघ्र प्रकाशन सम्भव हो सका है।

आज संस्कृत-ज्ञान और उसके शिक्षणस्तर में ह्रास की जो स्थिति है उसका प्रधान कारण, हमारी दृष्टि में, मूल ग्रन्थ और उसकी प्राचीन टीकाओं का सहारा छोड़कर विस्तृत पर अधकचरे नोट्स के कान्तार में रास्ता भूल जाने का है। इस वात की आवश्यकता का कोई भी शिक्षा-शास्त्री निषेध नहीं करेगा कि जहाँ तक सम्भव हो संस्कृत-शिक्षा में प्राचीन और प्रामाणिक भाष्यों और व्याख्याओं का आश्रय लेना चाहिए। इसी दृष्टि से हमने मूल के साथ भाष्यादि को स्थान दिया है। सुगमता से अर्थ समझने के लिए सरल अनुवाद की आवश्यकता निस्सन्दिग्ध है; प्रत्येक अंश का हिन्दी अनुवाद उसी अपरिहार्य अपेक्षा की पूर्ति करता है। हमारा यह विनीत अनुरोध है कि अनुवाद की सहायता से मूल का अर्थ समझने के बाद, प्रारम्भ से ही संस्कृत की टीका पढ़ने की विद्यार्थी आदत डालें। इस पद्धति से उन्हें संस्कृत-ज्ञान में जितना लाभ होगा उतना दूसरे किसी मार्ग से नहीं। इस कार्य में उन्हें अनेक बार अपना सिर खुजलाना पड़ेगा और कई बार अध्यापक द्वारा अङ्गुलिनिर्देश के बिना उनका काम नहीं चलेगा। पर कोई भी पाठ्य-ग्रन्थ सुयोग्य अध्यापक और उसकी कक्षा का स्थान नहीं ले सकता, उसके लिए प्रामाणिक सामग्री जुटाना पाठ्यग्रन्थ के सम्पादक का कर्तव्य अवश्य है। यही कार्य हमने किया है। हमें विश्वास है इससे अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों को ही लाभ होगा और अध्यापक की आवश्यकता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

प्राचीन एवं दुर्लभ टीकाओं (जैसे महीधर आदि के भाष्य तथा कादम्बरी पर भानुचन्द्र की टीका) को एकत्र करने में, भूमिका में कवियों का परिचय देने तथा अनेक अंशों (जैसे वैदिकस्तबक, दशकुमारचरित तथा शुकनासोपदेश) का नये सिरे से अनुवाद करने तथा अलंकार और छन्द के निरूपण में डा. नागर ने अत्यधिक श्रम और समय लगाया है। रघुवंश तथा किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग का अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास के यहां से प्रकाशित ग्रन्थों से संग्रहीत है। उसका यथोचित सम्पादन अवश्य किया गया है। इच्छा थी कि इन अंशो का अनुवाद हम स्वयं प्रस्तुत करते पर समय प्रत्येक इच्छा पूरी नहीं करता है। अस्तु, इस संग्रह के इस रूप में सम्पादन से हमें कहाँ तक सफलता मिली है इसके निर्णय का अधिकार अध्यापन के साथियों और तरुण विद्यार्थियों का है, हमारा नहीं।

इस निवेदन के साथ प्रस्तुत कृति उन्हीं प्रिय पाठकों को समर्पित है जिनके लिए यह लिखी गई है।

—सम्पादक

दिल्ली
१३ जुलाई, १९६६

विषयानुक्रमणी

निवेदन	क-ख
भूमिका	(i-xxiv)
वैदिकस्तबकः	१-१७
दशकुमारचरितेऽष्टमोच्छ्वासः	१८-७८
कादम्बर्यां शुकनासोपदेशः	७९-१२४
रघुवंशे प्रथमः सर्गः	१२५-१७९
किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः	१८०-२२६
अलङ्कारदर्पण	२२७-२४३
छन्दोमञ्जरी	२४४-२५०
लघुकौमुद्यां सन्धिप्रकरणम्	२५१-३४७

भूमिका

कालिदास (४०० ई० के लगभग)

कालिदास संस्कृत के उत्कृष्ट महाकवि हैं, कविकुल के गुरु हैं। इनके समय, स्थान, तथा इतिवृत्त के विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। परिणामस्वरूप इतिहासज्ञों ने विविध तर्कों तथा प्रमाणों द्वारा, इस कवि-कुल-केसरी का स्थितिकाल, अलग-अलग, विक्रम संवत् के आरम्भ में (२६ ई० पू०), गुप्तकाल में (४०० ई० लगभग) तथा छठी शती ईस्वी में निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। अधिकतर विद्वान् इनका समय गुप्तकाल (४०० ई०) में मानते हैं।

इसी प्रकार कालिदास की जन्मस्थली काश्मीर है या उज्जयिनी—यह विषय भी विवादग्रस्त रहा है। प्रायः उज्जयिनी को ही इनकी जन्म-स्थली स्वीकार किया जाता है। उनका साहित्यिक जीवन वहीं पुष्पित हुआ था।

जनश्रुति के अनुसार कालिदास अत्यन्त मूर्ख थे, और उन्होंने भगवती काली की कृपा से काव्यरचना में निपुणता प्राप्त की थी। अतएव उनका नाम कालिदास, अर्थात् काली का दास, पड़ गया। उनमें किसी अधूरी कविता को पूरा करने तथा तत्काल कविता बनाने की विलक्षण प्रतिभा थी। कहते हैं—जब वे लङ्का में राजा कुमारदास के अतिथि थे, तो किसी लालची वेश्या ने उनकी हत्या कर दी। उन्होंने अपनी पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर विद्याध्ययन किया और जब वे पूर्ण विद्वान् बनकर अपनी पत्नी से मिलने आए, तो आते ही उसने उनसे संस्कृत में पूछा—'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः ?' इसी वाक्य के एक-एक शब्द को लेकर उन्होंने क्रमशः अपने 'कुमारसंभव' नामक महाकाव्य, 'मेघदूत' नाम के गीतिकाव्य तथा 'रघुवंश' नामक महाकाव्य की रचना की। परन्तु ये सब लोकवाद हैं। ऐतिहासिक

दृष्टि से इनकी यथार्थता पर अभी तक प्रश्न-चिन्ह ही लगा है। कुछ भी हो कालिदास की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्हें जीवन का व्यापक अनुभव था। अन्यथा वे प्रकृति तथा मानव का इतना सुन्दर तथा यथार्थ चित्र अङ्कित करने में समर्थ न हो पाते।

कालिदास द्वारा रचित कुमारसंभव तथा रघुवंश महाकाव्य, ऋतु-संहार तथा मेघदूत गीतिकाव्य, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नाटक प्रसिद्ध हैं।

कालिदास काव्यरूपी काञ्चन में उपयुक्त उपमान को यथास्थान जड़ देने वाले मर्मज्ञ जौहरी हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य ऐसे उपमानरूपी रत्नों से देदीप्यमान है। खण्डकाव्य हो या महाकाव्य, प्रकृति-चित्रण हो या मानव की चित्तवृत्ति का विश्लेषण सर्वत्र उनकी उपमाएँ सूक्ष्म, स्पष्ट, अनुकूल तथा भावों को उद्दीप्त करने वाली होती हैं। जैसे—रघुवंश के प्रथम अध्याय में ही कवि का अपने को वामन कहना (१, ३) तथा समाधि में लीन वसिष्ठ ऋषि की सुप्तमीन सरोवर से तुलना करना (१, ७३) आदि उपमाएँ अर्थ को अभिव्यक्ति की दृष्टि से बड़ी ही उपयुक्त हैं। अतएव काव्य-तत्त्ववेत्ताओं ने 'उपमा कालिदासस्य' कहकर उन्हें उपमा-सम्राट् बना दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में वैदर्भी रीति के गुण ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। जैसे—निष्ठुर वर्णों का अभाव, सुकुमार वर्णों का सन्निवेश, शब्दों का उनके प्रचलित अर्थों में प्रयोग, उनमें रसाभिव्यक्ति की शक्ति, लम्बे तथा जटिल समासों का अभाव, लालित्य, कोमलता, सरलता आदि। इन्हीं गुणों को देखते हुए कहा गया है—'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते'।

कालिदास निश्चित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिधा की अपेक्षा व्यञ्जना का अधिक आश्रय लेते हैं। अतः उनके काव्य में शब्दों के साधारण वाच्यार्थ के साथ-साथ ध्वनित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ भावात्मक प्रभाव की अभिवृद्धि करता है। परिणामस्वरूप सहृदय तन्मय होकर

रसानुभूति के परमानन्द में निमग्न हो जाता है। जिस प्रकार कालिदास शब्दों के चयन तथा उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं, वैसे ही छन्दोयोजना में भी वे अत्यन्त कुशल हैं। अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता आदि छन्द भावों के अनुकूल हैं और उनके काव्य में अपेक्षित नाद सौन्दर्य उत्पन्न कर देते हैं।

इन्हीं अद्भुत गुणों के कारण कालिदास न केवल भारतीय अपितु काव्यगुण-ग्राही विदेशी विद्वानों के भी हृदय-सम्राट् बन गए हैं। बाणभट्ट से लेकर आज तक काव्यमर्मज्ञ अपनी मधुर प्रशस्तियों की पुष्पमाला से उनका अभिनन्दन करते आए हैं।

रघुवंश के प्रथम सर्ग का सार

रघुवंश संस्कृत के महाकाव्यों में अग्रगण्य है। इसमें प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के सारे लक्षण घट जाते हैं। इसमें १९ सर्ग हैं, जिनमें भगवान् राम की जीवन-लीला के वर्णन के साथ उनके पूर्वजों (दिलीप, रघु आदि) तथा उनके परवर्ती उत्तराधिकारी पुत्रों-पौत्रों आदि का वर्णन है।

रघुकुल का आरम्भ भगवान् वैवस्वत मनु से हुआ। अतएव इस शुद्ध कुल में जन्म लेने वाले सम्राट् हमारे सम्मुख आदर्शपूर्ण जीवन उपस्थित करते हैं। इसी कुल में दिलीप का जन्म हुआ जैसे दूध के समुद्र में से चन्द्रमा का। वे विषयों में अनासक्त, धर्मपरायण, विद्वान्, प्रजापालक, गुणग्राही, परोपकारी तथा नीतिज्ञ सम्राट् थे। सुदक्षिणा नाम की अनुकूल तथा सुन्दरी पत्नी के होते हुए भी उनके कोई सन्तान न हुई। अतः दिलीप रात-दिन चिन्तित रहने लगे।

एक दिन उन्होंने अपने राज्य का भार योग्य मंत्रियों के कन्धों पर रख कर, वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में प्रस्थान करने की इच्छा की। वे दोनों पति-पत्नी सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर मार्ग में पुष्पों की पराग से

सुगन्धित वायु का सेवन करते हुए, तथा मोरों की मधुर केका-ध्वनि सुनते हुए, हरिणों को देखते हुए, ग्राम के वृद्धों के स्वागत को स्वीकार करते हुए तथा प्रकृति की सुन्दर छटा का स्थान-स्थान पर निरीक्षण करते हुए, सन्ध्यासमय वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में पहुँचे। आश्रम की शोभा भी उस समय दर्शनीय थी। समिधाएँ तथा कुशाएँ लिये हुए ऋषि वन से आश्रम को लौट रहे थे। उधर आश्रम में कुटिया के द्वार पर सन्तान की तरह पाले हुए मृग ऋषिपत्नियों से नीवार नामक धान को पाने के लिए होड़ लगाए हुए थे। ऋषि-कन्याएँ वृक्षों को सींच रही थीं। आश्रम में यज्ञ का पवित्र धुआँ उठ रहा था।

वसिष्ठ ऋषि ने राजा तथा रानी का विधिवत् स्वागत किया तथा राजा से कुशलक्षेम पूछा। तब दुःखी दिलीप ने कहा कि राज्य में आपके आशीर्वाद से सब प्रकार की सुख-समृद्धि होते हुए भी सन्तान के अभाव में हम दोनों अत्यन्त दुखी हैं।

तब ऋषि वसिष्ठ ने समाधि द्वारा सन्तान के अभाव का कारण जाना और सम्राट् दिलीप को कहा कि इन्द्र का दर्शन करके लौटते हुए, संयोगवश उन्होंने इन्द्र की पवित्र धेनु (कामधेनु) के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया था। अतः उस धेनु ने उन्हें शाप दे दिया है। उस शाप के प्रतिकार के लिए राजा दिलीप को पृथ्वी पर उपस्थित उसकी पुत्री नन्दिनी की दिन-रात सेवा करनी पड़ेगी। उन्हें राजसी सुख-भोगों का परित्याग करना पड़ेगा तथा मुनियों का-सा जीवन व्यतीत करना होगा। दिन रात नन्दिनी के साथ-साथ रहना होगा। जब वह चले तब चलना होगा, वह खड़ी रहे तो खड़ा रहना पड़ेगा, उसके जल पी लेने पर ही राजा को जलपान करना होगा। इस प्रकार निरन्तर सेवा करते रहने से शाप का परिमार्जन होकर सन्तान-प्राप्ति होगी। देश और काल को पहचानने वाले उस बुद्धिमान् राजा ने वसिष्ठ ऋषि के इस आदेश को प्रीतिपूर्वक स्वीकार किया और दोनों पति-पत्नी नन्दिनी गौ की सेवा में लग गए।

भारवि (५५० ई० के लगभग)

संस्कृत-काव्य के गगन में भारवि उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमकते हैं। जैसा कि उनकी प्रशस्ति में लिखे निम्न पद्य से स्पष्ट है—

प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सतां मुदे।
प्रबोधनपरा हृद्या भा रवेरिव भारवेः॥

उनका स्थितिकाल ई० ६३४ से पूर्व आंका जा सकता है क्योंकि ऐहोल के शिलालेख (६३४ ई० में) में कालिदास के साथ उनके भी नाम का उल्लेख है। उन पर कालिदास का प्रभाव पड़ा है तथा उन्होंने अपनी काव्यशैली से परवर्ती महाकवि माघ को प्रभावित किया है। बाण-भट्ट ने अपने गद्यकाव्य 'हर्षचरित' की भूमिका में अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि कवियों के समान भारवि का कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि बाण के समय तक भारवि इतने प्रख्यात नहीं हो पाये होंगे कि बाण अपनी कृति में उनका उल्लेख करना आवश्यक समझते। अतः भारवि का काल ५५० ई० के लगभग प्रतीत होता है।

भारवि को अमर बना देने वाला उनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है—'किरातार्जुनीय'। इसके अध्ययन से अनुमान किया जा सकता है कि भारवि राजनीति में निष्णात थे तथा राज-सभाओं में सम्मिलित होने के अवसर उन्हें मिलते रहे होंगे। 'अवन्तिसुन्दरी' नामक ग्रंथ के आधार पर प्रतीत होता है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन (६१५ ई० के लगभग), के सभापण्डित थे। 'किरातार्जुनीय' की कथा के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे परम शिवभक्त रहे होंगे। कालिदास तथा भर्तृ-मेण्ठ के समान भारवि के काव्यत्व की परीक्षा भी संभवतः विद्वद्गोष्ठियों में हुई होगी। अतएव अग्नि-परीक्षा में स्वर्ण के समान शुद्ध निकलने पर उन्हें 'भारवेरर्थगौरवम्' कहकर सम्मानित किया गया।

वस्तुतः जैसे कालिदास का काव्य उपमा के लिए प्रसिद्ध है, वैसे ही भारवि का 'किरातार्जुनीय' अर्थगौरव की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। थोड़े से शब्दों में विस्तृत तथा गम्भीर अर्थ का सन्निवेश कर देना 'अर्थगौरव' है। भारवि का यह गुण उनके काव्य में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी मधुर सूक्तियाँ अर्थ-गाम्भीर्य के कारण उच्च कोटि के सुभाषितों में अग्रगण्य हैं। जैसे—'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', 'अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता', 'सहसा विदधीत न क्रियाम्', 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः' आदि। उनकी वर्णन-शक्ति अत्युत्तम है। उन्होंने प्रकृति, स्त्री-सौन्दर्य, तथा राजनीति के गूढ तत्त्वों का विशद, यथार्थ और हृदयग्राही वर्णन किया है। जैसे, शरद ऋतु का वर्णन करते हुए उन्होंने निम्न पद्य में आकाश में उड़ते हुए शुकों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र अङ्कित किया है—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखा पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥

इसी प्रकार किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में वनेचर और युधिष्ठिर के संवाद तथा द्रौपदी के उत्तेजनापूर्ण वचनों में कवि की वर्णन-शक्ति की सजीवता दर्शनीय है। इसी प्रकार अर्जुन की तपस्या, सुराङ्गना-विहार तथा किरात एवं अर्जुन के युद्ध का वर्णन बड़ा सुन्दर है।

अलकारों तथा छन्दों के प्रयोग में भी वे सिद्धहस्त हैं। अर्थान्तर-न्यास अलंकार तो आज्ञाकारी सेवक के समान उनकी सेवा में सदा उपस्थित रहता है। इसके अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, श्लेष, काव्यलिङ्ग, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का भी उन्होंने यथोचित प्रयोग किया है। छन्दों पर भी उनका पूर्ण अधिकार है। पाँचवें सर्ग में सोलह और अठारहवें में भी सोलह विभिन्न छन्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका आदि प्रचलित

छन्दों के साथ उन्होंने उद्‌गाता जैसे अप्रचलित तथा कठिन छन्द का भी प्रयोग किया है।

'किरातार्जुनीय' की गणना 'वृहत्त्रयी' (प्रसिद्ध तीन महाकाव्यों) में की जाती है। इसमें प्रधान रस वीर है परन्तु यथास्थान श्रृङ्गार और अन्य गौण रस भी विद्यमान हैं। वीर रस की प्रधानता के कारण शैली ओजपूर्ण है, पदावली गम्भीर और भावानुकूल है। लम्बे समासों का भारवि के काव्य में प्रायः अभाव सा ही है। भारवि ने अप्रत्यक्ष रूप से युधिष्ठिर के मुख से अपनी शैली का स्वयं परिचय दे दिया है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥
(कि० २, २७)

ऐसा होने पर भी भारवि का काव्य सर्वथा दोषमुक्त नहीं है। वे व्याकरण के पाण्डित्य तथा भावशून्य अत्यधिक कृत्रिम काव्यशैली के प्रदर्शन के मोह से बच नहीं पाये हैं। जैसे न, च, र आदि केवल एक ही अक्षर में पूरा पद्य लिख देना, कहीं-कहीं पद्य में ओष्ठ्य वर्ण का बिलकुल अभाव, कुछ पद्यों में उल्टी पंक्ति का भी ठीक उसी तरह पढ़े जाना जैसे पहली पंक्ति, तथा एक पद्य में श्लेष के बल से अनेक अर्थों की प्रतीति होना, आदि। उनकी इस दोषपूर्ण शैली का प्रभाव परवर्ती माघ, बाणभट्ट आदि कवियों पर पड़ा, जिससे संस्कृत-साहित्य में कृत्रिम पर कुतूहलोत्पादक शैली का जन्म हुआ, जिससे काव्यों में भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा शब्दाडम्बर को ही महत्त्व दिया जाने लगा।

किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग का सार

'किरातार्जुनीय' की कथा महाभारत पर आधारित है। पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ द्वैतवन में चले आते हैं। वहाँ युधिष्ठिर किसी वनेचर (भील) को दुर्योधन की शासन-प्रणाली का भेद जानने

के लिए भेजते हैं। वह पूर्ण समाचार प्राप्त करने के बाद वापस लौट कर दुर्योधन के शासन तथा उसकी कूटनीति की प्रशंसा करता है और युधिष्ठिर को सावधान रहने के लिए प्रेरित करता है। वह वनेचर कहता है—मुझे शत्रु के गुणों की प्रशंसा करते हुए तनिक भी संकोच नहीं है क्योंकि मैं यथार्थ स्थिति आप (युधिष्ठिर) के सम्मुख उपस्थित कर देना चाहता हूँ। अपने स्वामी के हितैषी दूत को स्वामी से सच-सच बात ही कहनी चाहिए। यद्यपि दुर्योधन आपसे सदा शङ्कित ही रहता है, परन्तु फिर भी वह अपने सद्व्यवहार से प्रजा के हृदय से आपकी स्मृति मिटा देना चाहता है। अतएव वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है। अपने सेवकों के साथ भी मित्र-जैसा व्यवहार करता है। खूब दान देता है और गुणवान् व्यक्तियों का सत्कार करता है। शत्रु और पुत्र में भी भेद-भाव किए बिना वह न्याय के अनुसार अपराधी को दण्ड देता है। उसका सभामण्डप घोड़ों और हाथियों से निरन्तर भरा रहता है। सामन्त तथा सम्राट् दूर-दूर से आकर उसके चरणों में अपना मस्तक रखते हैं। उसके राज्य में किसानों को अनायास खेती से अन्न प्राप्त होता है। उसके वीर सैनिक पराक्रमी तथा अत्यन्त विश्वासपात्र हैं। वे दुर्योधन के लिए प्राणों का बलिदान करने के लिए भी उद्यत रहते हैं। उसके अधीन रहने वाले सम्राट् भय और आतंक के बिना उसकी आज्ञा को पुष्पमाला के समान सिर पर धारण करते हैं।

इस प्रकार दुर्योधन की नीति का प्रतिकार करने के लिए युधिष्ठिर को प्रेरित करके जब वनेचर चला गया तो युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के सामने ये सब बातें कहीं। द्रौपदी शत्रु की उन्नति सहन न कर सकी। युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली ओजपूर्ण वाणी में उसने कहा—

मैं अब स्त्री-मर्यादा के बन्धन को तोड़ रहीं हूँ, क्योंकि धैर्य का बाँध टूट चुका है। आप (युधिष्ठिर) ने कुल-परम्परा से प्राप्त राज्यलक्ष्मी

को अपनी कायरता और मूर्खता के कारण ऐसे छोड़ दिया जैसे कोई मस्त हाथी गले में पहनाई हुई माला को उतार फैंकता है। कपटी व्यक्तियों के साथ कपट न करने वाले मूर्ख व्यक्ति निस्सन्देह जीवन में अपमान सहते हैं। देखिये तो सही, वन में निवास करने के कारण भीम, अर्जुनादि आपके पराक्रमी भाइयों की दशा कितनी शोचनीय हो गई है। जो भीम पहले लाल चन्दन से अपने शरीर को अलङ्कृत करता था, वही आज जंगल की धूल से मलिन होकर पैदल घूमता फिरता है। उत्तरवर्ती कुरुदेशों को विजित करके सुवर्ण रजत की राशि से कोष भर देने वाले इन्द्र के सदृश पराक्रमी अर्जुन के पास केवल भीलों के से वल्कल-वस्त्र ही पहनने के लिए हैं। ऐसी दशा देखकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित है और तुम हो कि कायर के समान आँखें बन्द करके बैठे हो तथा शत्रु से वैरशोधन के लिए उद्यत नहीं होते। अतः युद्ध के लिए कमर कस लो। स्वाभिमानी वीर शत्रुओं को जीत कर ही सफलता पाते हैं। वे निस्पृह मुनियों की तरह वनों में एकान्तवास नहीं करते।

इस प्रकार द्रौपदी ने अपनी ओजस्विनी वाणी से युधिष्ठिर को कौरवों से तत्काल बदला लेने के लिए प्रोत्साहित किया।

दण्डी (छठी शताब्दी)

संस्कृत के प्रसिद्ध गद्यकार दण्डी के स्थिति-काल तथा उनकी कृतियों के विषय में बहुत मतभेद रहा है। बल्लाल द्वारा विरचित 'भोज-प्रबन्ध' ग्रन्थ के आधार पर, दण्डी धाराधिपति भोज (१०वीं शती के लगभग) के सभाकवि थे। जनश्रुति उनका सम्बन्ध कालिदास तथा भवभूति से भी जोड़ती है। एक बार भगवती सरस्वती इन तीनों कवियों के सम्मुख उपस्थित हुई और इन तीनों ने उसके स्वरूप के वर्णन में पृथक्-पृथक् श्लोक बनाए। इस प्रकार के और भी लोकवाद उनके विषय में प्रचलित हैं जिनसे यह तो प्रतीत होता है कि दण्डी काव्य-कला में कालिदास और भवभूति के समकक्ष थे, परन्तु इन बातों से उनके काल-निर्धारण में

कोई सहायता नहीं मिलती। ऐसी किंवदन्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बिलकुल अप्रामाणिक हैं, परन्तु उनसे इस कवि के महत्व का परिचय व्यक्त होता है।

दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' काव्य का उल्लेख किया है, जो लगभग पाँचवीं शती की रचना है। अमोघवर्ष नृपतुंग ने, जिनका समय नवों शती के मध्य में आँका जा सकता है, कन्नड़ भाषा में लिखे 'कविराजमार्ग' नामक अपने ग्रन्थ में दण्डी के काव्यादर्श के श्लोकों का भावानुवाद किया है। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री विज्जिका ने निम्न पद्य में

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

दण्डी का उल्लेख किया है। यदि इस विज्जिका को पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की, जिसका काल ६६० ई० के लगभग है, पट्ट-महिषी विजय भट्टारिका मान लिया जाय तो दण्डी का समय छठी शती ई० निर्धारित किया जा सकता है।

एम. आर. कवि महोदय द्वारा सम्पादित 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को यदि दण्डि-प्रणीत स्वीकार कर लिया जाय तो दण्डी के समय तथा जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इसके अनुसार दण्डी महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। वे दक्षिण भारत के निवासी थे। हिन्दुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक काँजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। वहाँ पल्लव नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया था। कहते हैं, पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिए इन्होंने प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' की रचना की थी।

दण्डी निश्चय ही महाकवि कालिदास से परवर्ती हैं क्योंकि उनके 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः' पर कालिदास के 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' की स्पष्ट छाया पड़ी है।

दण्डी का गद्य बाण तथा सुबन्धु के गद्य के समान श्लेषानुप्राणित तथा समास-बहुल नहीं है। वह सरल और विकासशील है। इससे दण्डी का बाणभट्ट से पूर्ववर्ती होना अनुमानित किया जा सकता है। दश-कुमारचरित में वर्णित देश की भौगोलिक दशा तथा सामाजिक प्रथाओं से उसकी रचना हर्षवर्धन से पूर्व मानी जा सकती है। इन बाह्य प्रमाणों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि दण्डी ईसा की छठी शती में विद्यमान रहे होंगे तथा वे कालिदास से परवर्ती और बाण से पूर्ववर्ती हैं।

दण्डी ने तीन ग्रन्थ लिखे, यह 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' इस उक्ति से प्रमाणित होता है। काव्यादर्श और दश-कुमारचरित दण्डी की ही रचना हैं इस पर आधुनिक विद्वान् सहमत हैं। परन्तु उनकी तीसरी कृति पर अभी तक प्रश्नचिह्न लगा है। वह रचना छन्दोविचिति है या कलापरिच्छेद अथवा अवन्तिसुन्दरीकथा, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पिशल तथा उनके मतानुयायी करमरकर के मत से तो 'मृच्छकटिक' नाटक दण्डी की तीसरी कृति है।

गद्यकार के रूप में दण्डी की ख्याति उनके दशकुमारचरित के कारण है। इसके तीन भाग हैं —(१) पूर्व पीठिका, जिसमें पाँच उच्छ्वास हैं। (२) 'चरित' जो आठ उच्छ्वासों का है। (३) उत्तर पीठिका, जो ग्रन्थ का उपसंहार है और 'दशकुमारचरितशेष' कहलाता है।

दण्डी का गद्य ललित तथा सुव्यक्त है। उसमें शब्द-विन्यास की चारुता और कल्पना की उर्वरता है तथा दीर्घ और क्लिष्ट समासों की दुरूहता का अभाव है। वह उपयुक्त अलङ्कारों से अलङ्कृत, सुगठित, सरल तथा विषय-प्रतिपादन में सक्षम है। उन्होंने अपने गद्य को यथा-संभव कर्णकटु ध्वनियों, उलझी वाक्य-योजनाओं, अत्युक्ति तथा शब्दा-डम्बर से बचाने का प्रयत्न किया है। उसमें बाण और सुबन्धु के गद्य की सी क्लिष्टता नहीं है। यद्यपि दण्डी ने अपने गद्य को काव्य की शैली में ढाला है, परन्तु फिर भी उनमें भाव की उपेक्षा

कर शैली के ही आडम्बरपूर्ण चमत्कार के प्रदर्शन की कुत्सित रुचि नहीं है। उनका गद्य पञ्चतंत्र आदि के सरल सुबोध गद्य और बाणभट्ट और सुबंधु के प्रत्यक्षरश्लेषमय तथा जटिल गद्य के बीच की कड़ी है। ऐसा होने पर भी दण्डी अपने युग के प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। दशकुमारचरित के सप्तम उच्छ्वास में उन्होंने ओष्ठ्य वर्णों का बहिष्कार कर शैली की कृत्रिमता का प्रदर्शन किया है। परन्तु ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप हैं, नियम नहीं।

दण्डी व्याकरण के नियमों का कड़ाई से पालन करते थे। राजकुमारों के आख्यानों में लङ्, लुङ्, ऐतिहासिक वर्तमान, क्त तथा क्तवतु प्रत्ययों का ही प्रयोग किया गया है। वहाँ परोक्ष वर्णनों के लिए निर्धारित लिट् लकार का प्रयोग नहीं के बराबर ही हुआ है। उन्हें लुङ् का प्रयोग बहुत प्रिय है।

दशकुमारचरित दण्डी की यथार्थवादी रचना है जिसमें चरित्रचित्रण की अद्भुत कुशलता दर्शनीय है। जैसे उन्होंने भयानक अरण्यों, पर्वतों, नदियों तथा समुद्र-यात्राओं जैसे प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में योग्यता प्रदर्शित की है वैसे ही उन्होंने अपने समय के समाज के उच्च तथा निम्न वर्ग के व्यक्तियों के चरित्र का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण किया है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, विषयासक्त सम्राट्, उनको मीठी बातें बना कर ठगने वाले धूर्त, मदारी, जादूगर, वेश्याएँ, व्यापारी, दिगम्बर जैन साधु, कुट्टनियाँ, आदि समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि पड़ी है। उनके पात्र जीते-जागते जगत् के प्राणी हैं जो आदर्श की अपेक्षा यथार्थ के प्रति उन्मुख हैं। उनकी रचना में आदर्श का स्वप्निल बोझ नहीं अपितु यथार्थ की साहसिक चेतना है।

दशकुमारचरित घटनाप्रधान गद्यकाव्य है। देश-विदेश का भ्रमण करने के लिए घर से बाहर निकले हुए राजकुमार, जब लौटकर परस्पर मिलते हैं, तो वे एक-दूसरे को अपने उल्लासमय तथा रोमाञ्चक अनुभव

सुनाते हैं। अतएव दशकुमारचरित हिंस्र पशुओं से भरे दुर्गम अरण्यों, समुद्र की उत्ताल तरङ्गों पर की जाने वाली लोमहर्षक यात्राओं, राजनीतिक षड्यंत्रों, निर्मम हत्याओं, प्रेम-प्रसंगों, नायिका के सौन्दर्य वर्णनों आदि अनेक कुतूहलपूर्ण प्रसंगों और घटनाओं से भरपूर है जिनमें साहस और सौन्दर्य एकसाथ प्रतिबिम्बित हैं।

दण्डी की गणना संस्कृत के गद्यकाव्य के प्रतिष्ठापकों में की जाती है। उनके गद्य की प्राञ्जलता और रमणीयता आदि गुणों पर रीझ कर ही कहा गया है—'दण्डिनः पदलालित्यम् ।'

दशकुमार चरित के अष्टम उच्छ्वास का सार

अष्टम उच्छ्वास में विश्रुत ने अपने अनुभवों को सुनाते हुए कहा—

मैंने विध्याटवी में घूमते हुए किसी भूखे-प्यासे बालक को कूप के समीप बैठे देखा। उसने बताया कि उसका साथी कोई बूढ़ा व्यक्ति पास के कूप में गिर पड़ा है। मैंने तुरन्त उस वृद्ध को वहाँ से निकाला। फिर दोनों की भूख-प्यास फल और पानी लाकर मिटाई। फिर उस बूढ़े ने मुझे सारी कथा सुनाई :—

विदर्भ देश का राजा पुण्यवर्मा था। उसके मर जाने पर उसका पुत्र अनन्तवर्मा शासक बना। वह सर्वगुणसम्पन्न तो था, परन्तु उसे राजनीति का ज्ञान नहीं था। एक बार उसके कुल-परम्परागत वृद्ध मंत्री वसुरक्षित ने उसे समझाया कि उसे प्रजा पर ठीक अनुशासन रखने के लिए तथा राज्य-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए दण्डनीति का सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। राजा को मन्त्री की बात अच्छी लगी और उसने रनवास में जाकर रानियों को यह बात बताई। वहीं पर 'विहारभद्र' भी उपस्थित था जो बाल्यावस्था से ही राजा का सेवक था तथा अत्यन्त वाक्पटु था। उसने वृद्ध मंत्री के उपदेश की हँसी उड़ाई। कहने लगा—धूर्त व्यक्ति राजाओं को झूठे प्रलोभन देकर ठगते हैं। दण्डनीति के गुणों की प्रशंसा करके उन्हें अपने वश में कर लेते हैं। दण्डनीति में सदा राजा को

दूसरों पर अविश्वास करना सिखाया जाता है। इसमें बताए नियमों का पालन करते-करते राजा क्षण भर भी चैन की साँस नहीं ले सकता। अब दूतों से वार्तालाप करना है, अब मंत्रियों से परामर्श का समय है, अब राज्य-व्यवस्था का निरीक्षण करने का समय आ गया है, अब शास्त्र-चिन्ता करनी है। इस प्रकार दिन-रात शास्त्र के आदेशों का पालन करते हुए राजा का जीवन दयनीय हो जाता है और वह स्वेच्छा से कुछ भी नहीं कर पाता। जो लोग राजा को उपदेश देते हैं कि इन्द्रियों का दमन करो, ब्राह्मणों का आदर करो, वे स्वयं भ्रष्ट और पतित जीवन व्यतीत करते हैं। अतः सम्राट् को ऐसे धूर्तों से सदा बचकर रहना चाहिए। महाराज की नयी युवावस्था है, सुन्दर शरीर है तथा उनके पास अपरिमित धन का भण्डार है। अतः उन्हें बूढ़े मंत्री के राजसी सुखभोग से वञ्चित कर देने वाले उपदेश की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।

राजा अनन्तवर्मा को 'विहारभद्र' की ये चाटुकारिता से भरीं, परन्तु परिणाम में अहितकारी, बातें बहुत पसन्द आईं। परिणामस्वरूप वह मंत्री के उपदेश की उपेक्षा कर विषय-भोग में दिन-रात आसक्त रहने लगा। मंत्री राजा की यह दशा देखकर अत्यन्त क्षुब्ध और खिन्न रहने लगा परन्तु राजा की चित्तवृत्ति को प्रतिकूल देख कर मौन रहना ही उसने उचित समझा।

जब मंत्री की उपेक्षा होने लगी और अनन्तवर्मा मनमाने विषय-भोग में लग गया, तब अश्मक देश के सम्राट् के मंत्री-पुत्र, दुराचारी 'चन्द्रपालित' ने अनन्तवर्मा के राज्य में बहुत से चारणों, नर्तकियों, सेवकों तथा गुप्तचरों के साथ चोरी-छिपे प्रवेश करके राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। किसी तरह राजा अनन्तवर्मा का विश्वास पात्र बन कर उसने राजा को बहकाना आरम्भ कर दिया कि शिकार खेलने में बहुत से गुण हैं, जुआ खेलने में धनराशि के परित्याग से उदारता आती है, सुन्दरी स्त्रियों के भोग में अर्थ और काम की सफलता होती है, आदि। राजा पर उसके वचनों का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह गुरुवचन के समान चन्द्रपालित के

वचनों का पालन करने लगा। परिणाम यह हुआ कि राजा के विलासी तथा दुश्चरित्र हो जाने पर सारी प्रजा भी चरित्रभ्रष्ट हो गई। लोग लोभी हो गए। किसी को दण्ड का भय नहीं रहा। बलवान् निर्बलों को सताने लगे। इस प्रकार अनन्तवर्मा के सम्पूर्ण राज्य में उच्छृंखलता फैल गई। राजा के दुराचारी होने पर प्रजा का मार्गभ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

अनन्तवर्मा के राज्य के जर्जर हो जाने पर, उपयुक्त अवसर देख पड़ोसी राजा वसन्तभानु ने भानु वर्मा नाम के दूसरे राजा से साँठ-गाँठ कर अनन्तवर्मा पर आक्रमण कर दिया और उसके राज्य पर अधिकार कर लिया।

उस गड़बड़ में बूढ़ा मंत्री वसुरक्षित, भास्करवर्मा नाम के राजकुमार, उसकी बड़ी बहिन मञ्जुवादिनी तथा अनन्तवर्मा की पटरानी वसुंधरा को लेकर जंगल की ओर भाग निकला। मार्ग में वह दाहज्वर के रोग से मर गया। फिर हम महारानी को उसके सौतेले भाई 'मित्रवर्मा' के पास ले गए। उस दुष्ट ने राजकुमार भास्करवर्मा को मरवा कर महारानी से विवाह करना चाहा। जब रानी के कानों में राजा के इस घृणित षड्यन्त्र की भनक पड़ी तो उसने मुझ 'नालीजंघ' को कहा कि मैं राजकुमार को वहाँ से भगा कर ले जाऊँ। मैं बड़ी चतुरता से उसे भीड़ भरे राजकुल से निकाल कर इस जंगल में ले आया। इस प्रकार जंगल में भटकते-भटकते जब राजकुमार प्यास से व्याकुल हो गया तो मैं इस कूप से पानी निकालने का प्रयास करते हुए इसमें गिर पड़ा। फिर आपने मुझे यहाँ से निकाल कर मेरी प्राण-रक्षा की। अब आप ही इस अनाथ राजकुमार के रक्षक बनें। यह कह कर राजकुमार का रक्षक, वह वृद्ध नालीजंघ चुप हो गया।

राजकुमार के वंश का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वृद्ध (नालीजंघ) से वार्तालाप करते हुए मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मेरे पिता और राजकुमार की माता का एक ही नाना है। तब मैंने

प्रतिज्ञा की कि इस राजकुमार के पिता अनन्तवर्मा को राज्य से च्युत करने वाले अश्मकदेशाधिपति को मैं नीति के बल से उखाड़ कर इसे फिर अपने पिता के पद पर प्रतिष्ठित करूँगा। उसी समय किसी मृग का पीछा करते हुए कोई शिकारी वहाँ आ पहुँचा। मैंने उससे धनुष लेकर दो मृगों को मार गिराया और उनके मांस से सबकी भूख मिटाई। वह शिकारी माहिष्मती नगरी से परिचित था और उसने मुझे वहाँ के सब नवीन समाचार सुनाए। उससे मुझे पता लगा कि चण्डवर्मा का भाई प्रचण्ड वर्मा राजकुमारी मञ्जुवादिनी को ब्याहने आनेवाला है। फिर मैंने उस बूढ़े नालीजंघ को समझाया कि अनन्तवर्मा का सौतेला भाई मित्रवर्मा बड़ा धूर्त है। वह महारानी को अपने विश्वास में लाकर राजकुमार को मरवाना चाहता है। अतः नालीजङ्घ, तुम माहिष्मती जाकर रानी वसुन्धरा से चुपचाप मिलो और उसे अपनी कूटनीति बताओ। फिर घोषणा कर दो कि राजकुमार को तो शेर खा गया है। इस समाचार से दुष्ट मित्रवर्मा मन में प्रसन्न होगा। तब रानी उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करे। और जब मित्रवर्मा मान जाए, तो रानी विषैले जल में डुबाई हुई माला से उसके मुख पर प्रहार करे। इससे वह मर जाएगा; तदनन्तर रानी उसी माला को जल में धोकर निर्विष हो जाने पर, उपहार के रूप में उसे अपनी पुत्री मञ्जुवादिनी को अर्पण करे। इससे लोग समझेंगे कि रानी पतिव्रता है क्योंकि उसकी माला के स्पर्श से दुराचारी मित्रवर्मा तो मर गया पर उसकी पुत्री को कुछ भी नहीं हुआ। इस पर सारी प्रजा रानी के सतीत्व से प्रभावित होकर उसकी आज्ञा का पालन करेगी। तदनन्तर रानी प्रचण्ड वर्मा को संदेश भिजवाये कि मित्रवर्मा की मृत्यु हो जाने से राज्य को कोई सँभालने वाला नहीं है। अतः आप मञ्जुवादिनी को ब्याह कर इस स्वामिहीन राज्य को भी सँभालिए। ऐसा हो जाने पर हम दोनों (मैं और राजकुमार) वहाँ पहुँचेंगे और नगर के बाहर श्मशानभूमि में ठहरेंगे। फिर रानी नगर के सभ्य तथा मान्य व्यक्तियों को यह कहे कि

आज स्वप्न में प्रकट होकर देवी विन्ध्यवासिनी ने मुझ से कहा है कि आज से चौथे दिन प्रचण्डवर्मा मर जाएगा। तदनन्तर पाँचवें दिन राजकुमार के साथ कोई ब्राह्मण मेरे मन्दिर से चुपचाप बाहर निकलेगा। वह इस राज्य की देखभाल करेगा और राजकुमार को सिंहासन पर बैठाएगा। आज तक मैंने ही व्याघ्री के रूप में राजकुमार की रक्षा की है। राजकुमारी मञ्जुवादिनी का भी राजकुमार के रक्षक उस वीर से विवाह होगा।' इस प्रकार जैसा पहले सोचा था, सब कुछ वैसा ही हुआ।

मैंने राजधानी में प्रवेश करके, नटों की सी वेश-भूषा बना ली। फिर प्रचण्ड वर्मा के दरबार में पहुँच कर नाना प्रकार के रोमाञ्चकारी नृत्यों तथा लीलाओं से उसका मनोरञ्जन करके, अवसर देख कर, दूर बैठे उस प्रचण्ड वर्मा को छुरी फैंक कर मार गिराया और जोर से गरज कर कहा 'वसन्तभानु सौ हजार वर्ष तक जिए' जिससे लोग मुझे वसन्तभानु का गुप्तचर समझें। इस प्रकार उस प्रचण्डवर्मा का वध करके मैं राजकुमार के साथ विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में आकर छिप गया। वहाँ पहुँच कर मैंने एक बड़े पत्थर से मन्दिर का गुप्त गुफाद्वार बन्द कर दिया। तदनन्तर रानी द्वारा भेजे हुए बहुमूल्य वस्त्रों को पहन कर समय की प्रतीक्षा करने लगा। उधर रानी, प्रचण्ड वर्मा का दाहसंस्कार करवा कर, नगर के वृद्ध और शिष्ट व्यक्तियों को साथ लेकर, प्रातःकाल ही मन्दिर में आ पहुँची और भगवती दुर्गा की पूजा करके उसने जोर से ढोल बजवाया। इस संकेत को पाकर मैंने देवी के लोहे के बने पादपीठ को बलपूर्वक सिर और हाथों से एक ओर हटा कर सब लोगों के सामने प्रकट होकर कहा—मेरे द्वारा देवी विन्ध्यवासिनी आपको सूचित करती है कि यह राजकुमार मेरा (देवी का) पुत्र है। और मैं इसका रक्षक नियुक्त हूँ। ऐसा सुनकर सब लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब से राज्य में हमारी धाक जम गई।

इस प्रकार निष्कण्टक शासन करते हुए मैंने सोचा कि यहाँ मित्रवर्मा

का मंत्री आर्यकेतु रहता है । वह मंत्रियों के गुणों से युक्त उत्तम मंत्री है । यदि वह मिल जाए तो सब कुछ ठीक हो जाए । तब मैंने नालीजंघ को समझाया कि आर्यकेतु के पास जाकर उसके मन का भेद लो । बातों ही बातों में मेरी निन्दा करके पूछो कि वह मुझे अच्छा समझता है या बुरा । नालीजंघ ने आर्यकेतु की सेवा करके उसके भाव जान लिए । आर्यकेतु ने कहा—'भले आदमी, राजकुमार के रक्षक इस वीर पुरुष में सभी गुण हैं । अब शीघ्र ही वसन्ताभानु का नाश होने वाला है । फिर राजकुमार को अपने पिता के सिंहासन पर ही आरूढ समझो ।' यह सुन कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे अपना मुख्य मंत्री बना कर अपने लक्ष्य की पूर्ति में जुट गया ।

बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्ध)

बाण की तिथि लगभग निश्चित है । सौभाग्य से उन्होंने अपने हर्षचरित ग्रन्थ के आरम्भ में अपने कुल का तथा अपने जीवन का इतिवृत्त उपनिबद्ध किया है । अतः अन्य कवियों के समान उनकी तिथि के निर्धारण में हमें कल्पनाओं तथा अनुमानों का सहारा नहीं लेना पड़ता । हर्षचरित के अनुसार बाण वात्स्यायन गोत्र के ब्राह्मण थे । उनके प्रपितामह पाशुपत थे । उनके पुत्र अर्थपति हुए । अर्थपति के ग्यारह पुत्र थे । उनमें से चित्रभानु एक थे, जिन्होंने राज्यदेवी नाम की एक ब्राह्मणी से विवाह किया था । उन्हीं से बाण का जन्म हुआ । जब बाण छोटे थे, तभी उनकी माता की मृत्यु हो गई । तदनन्तर पिता ने उनका पालन-पोषण किया । परन्तु बाण अभी १४ वर्ष के ही थे कि दुर्भाग्य से उनके पिता की भी मृत्यु हो गई । पिता की मृत्यु के बाद उचित संरक्षण के अभाव में, बाणभट्ट बुरी संगति में पड़ गए । अच्छे और बुरे अनेक प्रकार के व्यक्तियों से उनका सम्पर्क रहा । उन्होंने देश की लम्बी यात्रा भी की । अन्त में वे प्रीतिकूट में अपने घर में

आकर रहने लगे। वहीं उन्हें सम्राट् हर्षवर्धन के राजदरबार में उपस्थित होने का निमंत्रण मिला। राजा ने उनका स्वयं स्वागत नहीं किया। इसके विपरीत उच्छृंखल जीवन व्यतीत करने के कारण उन पर व्यङ्ग्य किया—'महानयं भुजंगः'। परन्तु बाद में उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर उन्हें आश्रय प्रदान किया। फिर दिन-प्रतिदिन उनकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। हर्षचरित के आधार पर बाण के विषय में हम इतना ही जानते हैं। उनका शेष जीवन कैसे बीता और उनकी मृत्यु कैसे हुई, इन सब बातों का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। किंवदन्ती उनका सम्बन्ध तत्कालीन कवि 'मयूर' से भी जोड़ती है। कहते हैं कि उनका विवाह मयूर की बहिन से हुआ था।

सम्राट् हर्षवर्धन का सभापण्डित होने के कारण बाणभट्ट का समय सरलतापूर्वक ईसा की सातवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर भी बाण का समय लगभग ७वीं शती ही ठहरता है। रुय्यक (११५० ई०) ने अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' में बाण के हर्षचरित का उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०), नमिसाधु (१०६९ ई०), भोज (१०२५ ई०) आनन्दवर्धन (८५०), वामन (८००) आदि ने बाणभट्ट तथा उनकी कृतियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः इन की तिथि सातवीं शती के पूर्वार्ध में निश्चित की जा सकती है।

'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' बाण के दो प्रख्यात गद्यग्रन्थ हैं। इनमें हर्षचरित को आख्यायिका और कादम्बरी को कथा की संज्ञा दी गई है। कुछ लोग 'चण्डीशतक' तथा 'पार्वतीपरिणय' को भी इन की कृति मानते हैं। परन्तु रचना और शैली की दृष्टि से ये दोनों ग्रन्थ बाण के लिखे प्रतीत नहीं होते। इसी प्रकार रत्नावली नाटक को भी शैली की शिथिलता के कारण बाण की रचना मानने में संकोच होता है।

संस्कृतजगत् में बाणभट्ट को अमरत्व प्रदान करने वाला उनका

ग्रन्थ है—कादंबरी। इसमें चन्द्रापीड और कादंबरी के पारस्परिक प्रणय की मुख्य कथा के साथ अन्य अवान्तर कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं जिससे कथानक की दृष्टि से ग्रन्थ की रोचकता बढ़ जाती है। साहित्यिक दृष्टि से कादंबरी प्रशंसनीय ग्रन्थ है। इसका अङ्गी रस शृंगार है जिसका विकास बड़ी निपुणता से प्रदर्शित किया गया है। काम की दसों दशाओं का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। अङ्गरसों में अद्भुत और करुण रस उल्लेखनीय हैं। इस ग्रन्थ में बाण की वर्णन शक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई है। विन्ध्याचल के विकट वन, शान्त और पावन सरोवर, नदियाँ, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों के साथ-साथ बाण ने राजकीय दरबारों तथा उनके वैभव-विलास, प्रेम-विह्वल महाश्वेता और कादम्बरी, नीतिज्ञ शुकनास, ज्ञानी जाबाली, आदि चेतन पात्रों का भी बड़ा ही सूक्ष्म तथा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। उन्हें जीवन का बहुत ही व्यापक, विविध और यथार्थ अनुभव था। अनुभव की समृद्धि से उनका काव्य अद्वितीय हो गया है।

बाण के गद्य में काव्यशैली के कृत्रिम प्रदर्शन की झलक यदा कदा दिखाई देती है। उन्होंने श्लेष यमक, परिसंख्या, उत्प्रेक्षा आदि चकाचौंध को उत्पन्न कर देने वाले अलङ्कारों तथा क्लिष्ट और लम्बे समासों के प्रयोग से अपने गद्य को बोझिल तथा दुरूह बना दिया है। उनके गद्य में विशेष्य शब्द अनेक विशेषणों के भार से दबे हुए हैं तथा वाक्यरचना ऐसी है जिसमें एकाकिनी क्रिया के दर्शन कई पृष्ठ पढ़ लेने के बाद होते हैं। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों की सहायता से वे अपने गद्य में नादसौन्दर्य उत्पन्न कर देने में अत्यन्त कुशल हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार उन्हें विशेष प्रिय है। 'उत्प्रेक्षा बाणभट्टस्य' यह सूक्ति इनके बारे में पूर्णतः चरितार्थ है। साधारण सी बात को अपनी प्रौढ़ भाषा द्वारा विस्तृत रूप दे देने की उनमें अद्भुत क्षमता है। भाव और भाषा पर विलक्षण अधिकार, जीवन और जगत् का अनुभव तथा शास्त्रीय ज्ञान की व्यापकता होने के कारण ही उनके विषय में कहा जाता है—"बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।"

बाण के गद्य की क्लिष्टता के कारण विदेशी विद्वानों ने उसकी तुलना बीहड़ जंगल से की है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण से गद्य में समास-बाहुल्य उसका प्राण माना जाता है। जैसा दण्डी ने कहा है— 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'। समासों की प्रचुरता से ओजगुण की वृद्धि होती है और इससे गद्य में रमणीयता आती है। इस प्राचीन मान्यता के आधार पर बाण का गद्य उत्तम श्रेणी में आता है।

बाण का गद्य सदा समास-बहुल तथा क्लिष्ट नहीं होता, अपितु वह सरल और दो-तीन पदों की वाक्यरचना से भी युक्त है। जैसे चन्द्रापीड को उपदेश देते हुए शुकनास बहुत छोटे सरल तथा प्रभावोत्पादक वाक्यों का प्रयोग करते हैं—

"न शीलं पश्यति। न परिचयं रक्षति। न रूपमालोकयते। नाचारं पालयति। न श्रुतमाकर्णयति।"

परन्तु ऐसे सरल गद्य का उन्होंने बहुत कम प्रयोग किया है। चमत्कार-प्रदर्शन की कृत्रिम काव्यशैली का जादू उनके सिर पर चढ़ कर बोल रहा है और चाहने पर भी वे शब्दाडम्बर के चंगुल से निकल नहीं पाए हैं। अलङ्कारों का अद्भुत प्रयोग, भाषा पर अक्षुण्ण प्रभुत्व, विलक्षण वर्णन शक्ति, आदि असाधारण गुणों पर रीझकर ही उनके विषय में अनेक प्रशास्तियाँ कही गई हैं। जैसे—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमवाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

शुकनासोपदेश का सार

आवन्ती देश की राजधानी उज्जयिनी में तारापीड नाम का राजा था। उसके चन्द्रापीड नाम का पुत्र हुआ। राजा ने शिक्षा के लिए उसे योग्य आचार्यों के पास भेज दिया। सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, अपने पिता का आदेश मिलने पर, राजकुमार गुरुकुल से राजधानी

लौटा। अपने पुत्र को राज्यभार वहन करने के योग्य समझकर, तारापीड ने उसका राज्याभिषेक करना चाहा। यौवराज्याभिषेक से पूर्व चन्द्रापीड़ अपने पिता के वृद्ध तथा नीतिज्ञ मंत्री शुकनास के दर्शन करने के लिए उनके पास उपस्थित हुआ। तब शुकनास ने उसे जीवन के कुत्सित प्रलोभन, नीच-वृत्ति, दुराचार, धन का मद और कुसंगति के फंदे से बचे रहने की शिक्षा दी। इसी कल्याणकारी शुकनास की शिक्षा को 'शुकनासोपदेश' नाम दिया गया है।

शुकनास ने कहा—प्यारे चन्द्रापीड, तुम सब कुछ जानते हो और सब शास्त्रों का तुमने विधिपूर्वक अध्ययन किया है और तुम सब तरह से योग्य हो। अतः तुम्हें थोड़ा सा भी उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी तुम्हें सावधान करने के लिए यह कहना चाहता हूँ कि यौवन से उत्पन्न होने वाला अन्धकार इतना गहरा होता है कि सूर्य के प्रकाश से भी नष्ट नहीं होता। लक्ष्मी (धन) का मद भी एक बार चढ़ जाने पर फिर उतरता नहीं है। इसी प्रकार विषयासक्ति तथा दर्प आदि दोषों में एक बार फँस जाने पर इनसे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। राजकुल में जन्म, फिर नयी तरुणाई, अद्वितीय रूप और लोकोत्तर शक्ति, ये सब अनर्थ समझदार मनुष्य को भी पाप के मार्ग पर धकेलते हैं। चाहे कोई कितना भी शास्त्रज्ञ क्यों न हो युवावस्था आने पर तथा धन प्राप्त हो जाने पर उसकी भी बुद्धि मैली पड़ जाती है। अतः आप जैसे व्यक्ति ही, जो अभी विषयरस से अछूते हैं, उपदेश के योग्य हैं। जिनका मन विषयों में डूब चुका है, और जो दिन-रात धन के नशे में चूर रहते हैं, उन्हें उपदेश देना निरर्थक है। योग्य व्यक्ति को दिया गया सदुपदेश उसके सारे मैल धो देता है।

राजाओं को भली शिक्षा देने वाले व्यक्ति तो बहुत कम होते हैं पहले तो लोग ही मदोन्मत राजाओं से डरते हैं। यदि कोई उपदेश दे भी तो राजा उसकी एक नहीं सुनते। दर्परूपी सूजन से उनके कान बन्द हुए रहते हैं और वे दिन-रात राज्यलक्ष्मी के मद में झूमते रहते हैं।

पहले आप लक्ष्मी (धन) को ही लीजिये। यह कितनी निष्ठुर है। पहले तो इसको प्राप्त करना ही कठिन है; मिल जाए तो इसकी रक्षा करना कष्टकारी है। न यह कुल को देखती है, न सुन्दरता को न शील को और नहीं धर्म को। यह कहीं भी अपना पैर नहीं जमाती। आज यहाँ है तो कल वहाँ। इसकी लीला वड़ी विचित्र है। गुणवान् व्यक्ति को तो यह अछूत समझकर उसके पास नहीं जाती। शूरवीर को काँटा समझकर छोड़ देती है। जहाँ-जहाँ यह लक्ष्मी निवास करती है, वहाँ वहाँ अपने काजल के से कारनामे ही दिखाती है। जब राजा इसके वश में हो जाते हैं, तो उनमें सब प्रकार की बुराइयाँ अपना घर कर लेती हैं। न उन्हें बूढ़े हो जाने का भय रहता है और न नरक में जाने का डर। वे निरङ्कुश और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। मोह तथा अज्ञान से ग्रस्त ये नृपति अपने आपको न जाने क्या समझने लगते हैं। दूसरों को दर्शन देना भी उन पर कृपा करना समझते हैं। आज्ञा को भी वर देने के समान मानते हैं। अपने हितैषी पर भी क्रोध करते हैं। बड़ों की हँसी उड़ाते हैं। देवताओं तथा सम्माननीय व्यक्तियों का आदर नहीं करते। इसके विपरीत ये उन धूर्तों की अंगुलियों पर नाचते हैं जो दिनरात इनकी झूठी प्रशंसा करके इन्हें उल्लू बनाते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ये राजा उसी से बोलते हैं, उसे ही अपने पास बैठाते हैं, उसकी ही बात मानते हैं जो दिनरात हाथ जोड़े इनकी सेवा में खड़ा रहता है और इन्हें देवता समझ इनकी झूठी प्रशंसा करता रहता है।

अन्त में चन्द्रापीड़ को सावधान करते हुए शुकनास ने कहा कि वह ऐसे धूर्तों से बचकर रहे जो राजाओं की बुराई में भी अच्छाई दिखाकर उन्हें पथभ्रष्ट करते हैं। इन धूर्तों के चंगुल में फँसे राजा जूए को मनोरंजन का साधन, मदिरापान को विलास तथा मत्तता को शूरवीरता समझने लगते हैं। इस प्रकार अनेक कुचक्रों से परिपूर्ण राज्यतन्त्र के स्वामी बन

जाने पर तथा मनुष्य को मोह के कारण विवेकहीन वना देने वाले यौवन के आ जाने पर राजा को वहुत ही सम्भल कर रहना चाहिए अन्यथा साधुजन विवेकहीन राजा की निन्दा करने लगते हैं, और उसके बुरे आचरण पर गुरुजनों को शोक होने लगता है।

इस भूमिका में पाठ्यक्रम के अनुसार कवि तथा उसकी पाठ्य-कृति का परिचय प्रस्तुत किया गया है। विश्वास है, इसको पढ़ने के बाद छात्रों को प्रासंगिक पाठ्यांश के अध्ययन में रुचि और सुविधा होगी।

शाणतां व्रजतु बाणभट्टको,
भारविर्भवतु भारविद्गिराम्।
भूतिरस्तु भवभूतिवाङ्मये,
कालिदाससमता मता न मे॥

सारस्वत साम्राज्य के अधिपति, महाकवि कालिदास की इस शब्दमय अर्चना के साथ, भूमिका समाप्त करने की हमें अनुमति दें।

वैदिकस्तबकः

तत्स॒वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥

(ऋग्वेद, ३,६२, १०)

(हम) उस सविता देव (परमेश्वर) के परमश्रेष्ठ तेज का ध्यान करते हैं; जो हमारी बुद्धियों को (शुभ कर्म के लिए) प्रेरित करे।

यः सविता देवः नः अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत् तत् तस्य देवस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य वरेण्यं सर्वैः उपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद्भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि वयं ध्यायामः। यद्वा। तत् इति भर्गोविशेषणम्। सवितुः देवस्य तत्तादृशं भर्गो धीमहि। किं तदित्यपेक्षायामाह। यः इति लिङ्गव्यत्ययः। यद्भर्गो धियः प्रचोदयात्। तत् ध्यायेमेति समन्वयः। यद्वा यः सविता सूर्यो धियः कर्माणि प्रचोदयात् प्रेरयति तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत्सर्वैः दृश्यमानतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः पापानां तापकं तेजो मण्डलं धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम। यद्वा। भर्गः शब्देनान्नमभिधीयते। यः सविता देवो धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादाद्भर्गोऽन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयामः। तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः। भर्गः शब्दस्यान्नपरत्वे धीशब्दस्य कर्मपरत्वे चाथर्वणं—'वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः। कर्माणि धियस्तदु ते प्रब्रवीमि प्रचोदयंत्सविता याभिरेति।' (गो. ब्रा., १.३२) इति॥ भर्गः॥ 'भ्रस्ज् पाके'। असुन्। 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' (पा० सू० ६.४.४७) इति रोपधयोर्लोपो रमागमः। न्यङ्क्वादिपाठात् कुत्वम्। धीमहि। ध्यायतेर्लिङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। प्रचोदयात्। चोदयतेर्लेट्याडागमः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। आगमस्यानुदात्तत्वे णिचः स्वरः।

—सायण-भाष्यम्

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥

(ऋग्वेद, ५, ८२, ५)

हे सूर्यदेव, (हमारे) सब पापों को नष्ट करो। जो भद्र (सन्तान, पशु, गृहादि) है, वह हमें प्रदान करो।

हे सवितः देव त्वं विश्वानि दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं प्रजापशुगृहादिकं तत् नः अस्मभ्यम् आ सुव अस्मदभिमुखं प्रेरय। 'प्रजा वै भद्रं पशवो भद्रं गृहं भद्रं' इति हि श्रुतिः ॥

—सायण-भाष्यम्

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त् । पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रदः॑ श॒तं प्र ब्र॑वाम श॒रदः॑ श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रदः॑ श॒तं भूय॑श्च श॒रदः॑ श॒तात् ॥

—यजुर्वेद ३६, २४

(जगत् के) नेत्रभूत, देवताओं द्वारा स्थापित, (अथवा देवताओं के प्रिय), तेजस्वी, वह (भगवान् सूर्य) पूर्व दिशा में उदित हो रहे हैं। (उनकी कृपा से) हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जिएँ, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अदीन हों और सौ वर्ष से भी ऊपर बहुत समय तक (देखें, सुनें, बोलें तथा अदीन हों) ॥

सूर्यदेवत्या ब्राह्मी त्रिष्टुप्। एतैर्मन्त्रैर्यो महावीरोऽस्माभिः स्तुतः तत् चक्षुः जगतां नेत्रभूतमादित्यरूपं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उच्चरत् उच्चरति उदेति। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः। कीदृशं तत्। देवहितम्। देवैर्हितं स्थापितम्। यद्वा देवानां हितं प्रियं। शुक्रं शुक्लं पापासृष्टं शोचिष्मद्वा। तस्य प्रसादात् शतं शरदः वर्षाणि वयं पश्येम शतवर्षपर्यन्तं वयमव्याहतचक्षुरिन्द्रिया भवेम। प्रार्थनायां

लिङ् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । शतं शरदः जीवेम अपराधीनजीवना भवेम । शतं शरदः शृणुयाम स्पष्टश्रोत्रेन्द्रिया भवेम । शतं शरदः प्रब्रवाम अस्खलितवागिन्द्रिया भवेम । शतं शरदः अदीनाः स्याम न कस्याप्यग्रे दैन्यं कुर्याम । शतात् शरदः शतवर्षोपर्यपि भूयश्च बहुकालं पश्येमेत्यादि योज्यम् ।

—महीधर-भाष्यम्

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह तस्य होदरं जज्ञे तदु ह रोहितः शुश्राव सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति, इति ॥१॥

इसके बाद वरुण ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न (हरिश्चन्द्र) को पकड़ लिया। उसका पेट फूल गया (अर्थात् उसे जलोदर रोग हो गया)। जब रोहित ने यह सुना, तब वह वन से ग्राम की ओर चल पड़ा। मार्ग में, उसे मनुष्य के वेश में, इन्द्र मिला और उसने कहा—

हे रोहित, 'जो पर्यटन के कारण थकता नहीं है (अर्थात् जो एक ही स्थान पर जम कर बैठा रहता है), उसे सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती'—ऐसा हमने सुना है। (विद्या से युक्त) श्रेष्ठ पुरुष (भी) (अपने बान्धवों के घर में नित्य निवास करने से उनसे तिरस्कृत होकर) पापी हो जाता है। परन्तु जो चलता ही रहता है, निश्चय ही इन्द्र उसका साथी है। अतः तू चलता ही रह ॥ १ ॥

अथ रोहितस्यारण्ये संवत्सरवासानन्तरमैक्ष्वाकमिक्ष्वाकुवंशोत्पन्नं हरिश्चन्द्रं वरुणो देवो रोगरूपेण जग्राह । वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्योदरं जज्ञे जलेन पूरितमुच्छूनं महोदरनामकं रोगस्वरूपमुत्पन्नम् । तदु ह तदपि सर्वमरण्ये स्थितो रोहितः पुत्रो मनुष्यमुखाच्छुश्राव । श्रुत्वा च स रोहितः पितरं द्रष्टुमरण्याद् ग्रामं प्रत्याजगाम । आगच्छन्तं रोहितं मार्गमध्य इन्द्रः केनचिद् ब्राह्मणपुरुषरूपेण प्राप्येदमुक्तवान् । आसमन्ताच्छ्रान्त आश्रान्तः । सर्वत्र

पर्यटनेन श्रान्ति प्राप्तस्तद्विपरीतोऽनाश्रान्त एकत्रैव निवासशीलस्तादृशाय। तथाविधस्य पुरुषस्य श्रीर्बहुविधा संपन्नास्ति । यद्वा नानेति पदच्छेदः। श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य नानाश्रीर्बहुविधा संपदस्तीत्यनेन प्रकारेण रोहित वयं नीतिकुशलानां पुरुषाणां मुखाच्छुश्रुम । वरो जनो विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि पुरुषो नृषत्पापो नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। श्रेष्ठोऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदाऽवस्थितस्तैरवज्ञातः पापस्तुच्छो भवेत् । अतस्तव पितुर्गृहे वासो न युक्तः। न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनीयम्। इन्द्र एव परमेश्वर एव चरतस्तव सखा भविष्यति । तस्माच्चरैव सर्वथाऽरण्ये चरस्वेत्येवमुवाच । एवं बहुष्वपि पर्यायेषु द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति, इति ॥२॥

'चलते ही रहो' ऐसा मुझे इस ब्राह्मण ने कहा है—यह सोच कर रोहित दूसरे वर्ष भी वन में चलता रहा। जब वह (फिर) (पिता को देखने के लिए) वन छोड़ कर ग्राम की ओर चला, तब (फिर) इन्द्र, पुरुष के वेश में उसके समीप आकर कहने लगा—

'विचरणशील मनुष्य की जाँघें फूलों से लद जाती हैं। (अर्थात् जैसे फूलों से भरी शाखा सेवन करने के योग्य होती है, इसी प्रकार विचरणशील मनुष्य की जाँघें भी श्रम के कारण सेवनीय हो जाती हैं।) (उसकी) आत्मा दिन-प्रतिदिन बढ़ती है तथा (आरोग्यरूपी) फल प्राप्त करती है। विचरण (में होने वाले) श्रम के कारण नष्ट हुए इसके सब पाप सो जाते हैं। अतः तूं 'चलता ही रह' ॥ २ ॥

ब्राह्मणरूपस्येन्द्रस्य वाक्यं श्रुत्वा ब्राह्मणोऽयमरण्ये चरैवेत्येवं मामुक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये महान्तमादरं कृत्वा पुनरप्येकं संवत्सरमरण्ये

चरित्वा पश्चात् पितरं द्रष्टुं ग्रामं तमागच्छन्तं पुनरपीन्द्रो ब्राह्मणरूपेणाऽऽगत्यैवमुवाच । चरतः पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य जङ्घे पुष्पिण्यौ भवतः । यथा पुष्पयुक्तो वृक्षः शाखा लता वाऽथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवत्येवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः । तथैवाऽऽत्मा मध्यदेहो भूष्णुर्वर्धिष्णुः फलग्रहिरारोग्यरूपफलयुक्तो भवति । यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृह्णात्येवं चरतः पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फलं गृह्णाति । तथैवास्य चरतः पुरुषस्य सर्वे पाप्मानः सर्वपापानि प्रपथे प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे श्रमेण तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादिप्रयासेन हता विनाशिताः सन्तः शेरे शेरते शयाना इव भवन्ति । यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मानो नरकं दातुमसमर्था इत्यर्थः । तस्मात्सर्वथाऽरण्ये चर न पितुर्गृहेऽवतिष्ठस्व ॥ २ ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति, इति ॥३॥

इस ब्राह्मण ने मुझे 'चलते ही रहो' यह कहा है—ऐसा सोचकर रोहित तीसरे वर्ष भी वन में चलता रहा । जब वह (पुनः) वन से ग्राम की ओर चला, तब (फिर) पुरुष-रूपधारी इन्द्र उसके पास पहुँच कर कहने लगा—

'बैठे हुए मनुष्य का सौभाग्य बैठा रहता है । उठते हुए मनुष्य का सौभाग्य भी उसके साथ उठने लगता है । (भूमि पर) सोये मनुष्य का सौभाग्य उसके साथ ही सोया रहता है । परन्तु विचरणशील मनुष्य का सौभाग्य (दिन-दिन) बढ़ता जाता है । अतः तूं चलता ही रह !' ॥ ३ ॥

भगः सौभाग्यमासीनस्योपविष्टस्याऽऽस्ते तथैव तिष्ठति न तु वर्धते । अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्याभावात् । तिष्ठत उपवेशनं परित्यज्योत्थापनं

कुर्वतः पुरुषस्य भग ऊर्ध्वोऽभिवृद्धेरुन्मुखस्तिष्ठति । कृषिवाणिज्याद्युद्योगस्य संभावितत्वात् । निषद्यमानस्य भूमौ शयानस्य भगः शेते निद्रां करोति। विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति । चरतस्तेषु तेषु देशेष्वर्जनार्थं पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य भगः सौभाग्यं चरति दिने दिने वर्धते । तस्मात्त्वं चरैवेति न त्वेकत्र तिष्ठ ॥ ३ ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति, इति ॥४॥

'चलते ही रहो' ऐसा मुझे इस ब्राह्मण ने कहा है—यह मन में सोचकर चौथे वर्ष भी रोहित वन में विचरण करता रहा। जब वह (फिर) वन छोड़ कर ग्राम की ओर चला, तो पुरुषरूपधारी इन्द्र (फिर) उसके पास आकर कहने लगा—

'सोया हुआ कलि होता है। निद्रा छोड़ता हुआ द्वापर है। उठता हुआ त्रेता होता है। परन्तु चलता हुआ कृत होता है। अतः चलते ही रहो!' (अर्थात् निद्रा कलियुग है, निद्रा-परित्याग द्वापर, उत्थान त्रेता और विचरण कृतयुग है।) ॥ ४ ॥

चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः । निद्रा तत्परित्याग उत्थानं संचरणं चेति । ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात्कलिद्वापरत्रेताकृतयुगैः समानाः । ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ॥ ४ ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति, इति ॥५॥

ऐतरेयब्राह्मणम् ३३, ३.

'चलते ही रहो', ऐसा मुझे इस ब्राह्मण ने कहा है—यह मन में सोच कर पाँचवें वर्ष भी रोहित वन में विचरण करता रहा। जब वह फिर वन से ग्राम की ओर चला, तो फिर पुरुष-रूपधारी इन्द्र उसके पास आकर कहने लगा—

'विचरणशील मनुष्य ही मधु पाता है। चलता हुआ ही मीठे उदुम्बर फल को प्राप्त करता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो जो विचरण करता हुआ कभी नहीं थकता। अतः चलते ही रहो!' ॥ ५ ॥

चरन्नेव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे मधुमाक्षिकं लभते। क्वचित् स्वादु मधुरमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते। तत्र सूर्यो दृष्टान्तः। यः सूर्यः सर्वत्र चरन्नपि न तन्द्रयते कदाचिदप्यलसो न भवति तस्य सूर्यस्य श्रेमाणं श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं पश्य। तस्माच्चरैव। इत्थमिन्द्रकृतेन रोहितोपदेशेन चरतो रोहितस्य स्वजीवने पितुरारोग्ये च कारणभूतं श्रेयोलाभं दर्शयति। ५ ॥

—सायणभाष्यम्

मत्स्यावतारेतिहासः

मनवे ह वै प्रातः। (र)अवनेग्यमुदकमाजह्रु र्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी ऽआपेदे ॥ १ ॥

(वे) मनु के लिए प्रातःकाल (हाथ) धोने का जल लाए। जैसे अब भी हाथ धोने के लिए (लोग) जल लाते हैं। इस प्रकार (हाथ) धोते हुए उस (मनु) के हाथों में मछली आ गिरी ॥ १ ॥

मनवे ह वै। इडाब्राह्मणमेतत्। तत्रेडायां मानवीमिडां देवतां वक्तुं 'मानवी घृतपदी मैत्रावरुणी" इत्येतानि च निगदपदानि व्याख्यातुमितिहासः प्रवृत्तः। स चेतिहासः प्रसन्न एव, किञ्चित्तु दर्शयामः। 'मनवे' वैव-

स्वताय, तादर्थ्ये चतुर्थी (पा० सू० २।३।१३; वा० १)। अवनेज्यते हस्ता-द्यनेनेत्यवनेजनम्। करणे कृत्यः (पा० सू० ३।४।७०)। 'अजाहुः आनीत-वन्तः, परिचारकाः। 'यथा' 'इदं' अधुना 'पाणिभ्याम्' हस्तार्थं यदवनेजनं तस्मै 'आहरन्ति'—तथा आजह्नुः। 'तस्य' मनोः प्रक्षालयतः 'मत्स्यः' 'पाणी' प्राप्तः। भाविनोऽर्थस्य सिद्धयर्थं देवतैव मत्स्यरूपेणाजगाम॥ १॥

स हास्मै वाचमुवाद। बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघऽइमाः सर्व्वाः प्रजा निर्व्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति॥ २॥

उसने उस (मनु) को ये वचन कहे "मेरा पालन करो, (मैं) तुम्हें बचाऊँगी" "(तूं) किससे मुझे बचायेगी?" "जल की बाढ़ इन सभी प्राणियों को वहा देगी, उससे तुझे बचाऊँगी।" "(मैं) कैसे तेरा पालन (करूँ)?"॥ २॥

स हास्मै। 'सः' मत्स्यः 'अस्मै' मनवे 'वाचम्' उदितवान्। कीदृशीम्? 'बिभृहि' पुषाण (पुष्णीहि) 'मा' माम्। किमर्थम्? 'पारयिष्यामि'—"पाल् रक्षणे" (चु० प० ५५) रक्षिष्यामि 'त्वा' 'इति'। 'कस्मात्'? इति भयहेतुप्रश्नः (पा० सू० १।४।२५) वहतीति 'औघः' उदकसङ्घातः, स इमा भारतवर्षनिवासिनीः 'प्रजा' निःशेषं वोढा—देशान्तरं प्रापयिता; तस्माद्भयहेतोस्त्वा पालयितास्मि 'इति'॥ २॥

स होवाच। यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्यऽएव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धाऽअथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भवितास्मीति॥ ३॥

उसने कहा "जब तक हम छोटी हैं, तब तक हमारे वहुत-से विनाशक

होते हैं। मछली ही मछली को खाती (निगलती) है। पहले मुझे घड़े में पालना। जब मैं उस घड़े में न समाऊँ, तब गड्ढा खोद कर उसमें मुझे पालना। जब मैं उसमें भी न समा सकूँ तब मुझे समुद्र में ले जाना, तब मैं विनाश से बच जाऊँगी" ॥ ३ ॥

सा होवाच। 'क्षुल्लकाः' क्षुद्रकाः—अल्पकाः 'नाष्ट्रा'—इति। गिलति "गॄ निगरणे" (तु० प० १२९) निगरति। बिभरासि अध्येषणायां (पा० सू० ३।३।१६१) लिङर्थे लेट् (पा० सू० ३।४।७) बिभृयाः—पुष्णीयाः। एवमेव 'अभ्यवहरसि' 'उपासासै' 'आपद्यासै' इति व्याख्येयानि। 'अतिवर्द्धै' अतिरिच्य वर्द्धितास्मीति प्राप्ते "यदा यद्योरुपसंख्यानम्" (पा० सू० ३.३.१४७ वा०) ततश्च 'लिङर्थे लेट्' (पा० सू० ३।४।७) इति यदायोगे लेट्। 'कर्षूः' (निघं० ३।२३।६) खातिकाः 'अतीतो नाष्ट्रान् नाशयितॄन्—इति 'अतिनाष्ट्रः' ॥ ३ ॥

शश्वद्ध झषऽआस। स हि ज्येष्ठं वर्द्धतेऽथेतिथीं समां तदौघऽआगन्ता तन्मा। नावमुपकल्प्योपासासै सऽऔघ ऽउत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति ॥ ४ ॥

वह शीघ्र ही झष (बड़ी मछली) बन गई। क्योंकि वह सबसे अधिक बढ़ती है। उसने कहा—"अमुक (उस) वर्ष में वह जल की बाढ़ आयेगी। तब नाव बना कर मेरी प्रतीक्षा करना। (मेरी बात मानना)। उस जल की बाढ़ के बढ़ जाने पर नाव पर चढ़ जाना; और (तब) मैं तुझे उस (जलप्रवाह) से बचा लूँगी" ॥ ४ ॥

शश्वद्ध। शश्वच्छब्दोऽत्र सामर्थ्यात् क्षिप्रवचनः। 'झषः' महामत्स्यः, क्षिप्रमेव महामत्स्योऽत्रावर्त्ततेत्यर्थः। अथ कस्मात्स शीघ्रमेव महामत्स्यः संवृत्तः ? 'हि' यस्मात् 'सः' 'ज्येष्ठं' बृहत्तमं 'वर्द्धते'; सर्व एव हि जलचरा अतिशयेन वर्धन्ते, स तु मत्स्यत्वादनाष्ट्रत्वाच्च बृहत्तमं वर्धत इति श्रुतिवचनम्। 'अथेतिथीम्' इति मत्स्यवचनम्—अयमपि समुद्रमभ्यवहृते 'इतिथीम्' इत्यभिनयः, तेन सङ्ख्येयां समां दर्शितवान्; इयतीनां

दशानां द्वादशानां वा पूरणी-इतिथी—इदम् इशादेशश्छान्दसः, (पा० सू० ५।३।३) टित्त्वात् ङीप् (पा० सू० ४।१।१५) इयत्यस्तिथयो यस्य सा—इतिथीति केषुचित्कोषेषु,—तेष्वपि इयतिथीं यावतिथीं नाव... थीमिति प्राप्ते छान्दसो यशब्दवशब्दलोपः। समाः संवत्सरः, ता... 'समाम्' समायामित्यर्थः, 'तत्' स इति लिङ्गव्यत्ययः—स पूर्वोक्तः 'औघ' 'आगन्ता', 'तत्' तदा 'नावम् उपकल्प्य' माम् 'उपसासै' उपासीथाः, 'औघे' चोत्थिते तां 'नावम्' त्वम् 'आपद्यासै' आरोहेरित्यर्थः ॥ ४ ॥

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथिं तत्समां परि-दिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे सऽओघ उत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्यऽउपन्यापुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ॥ ५ ॥

—शतपथब्राह्मणम् १, ८, १, ५

इस प्रकार उस मछली का पालन-पोषण करने के बाद, मनु उसे समुद्र में ले गया। मछली ने जो वर्ष बताया था उसी वर्ष मनु ने नौका बना कर मछली की बात पूरी की। जल-प्रवाह के बढ़ जाने पर, वह नौका में बैठ गया। वह मछली मनु के पास तैर कर आगई। उसने मछली के सींग पर नौका की रस्सी बाँध दी और उसके कारण वह उत्तर पर्वत पर शीघ्र ही पहुँच गया ॥ ५ ॥

तमेवं भृत्वा, यावतीनां पूरणीं 'यतिथीं' 'परिदिदेश' परिदिष्टवान्-आख्यातवान्, 'ततिथीं' तावतीनां पूरणीं 'समाम्' 'नावमुपकल्प्य' मत्स्य-मुपासितवान्। 'औघे' च 'उत्थिते' 'नावम्' अधिरूढः 'तं' च मनुं 'स मत्स्यः' 'उप'—समीपे नीचैः एनमुपकर्ष्यमिति सम्बन्धः, 'आपुप्लुवे' आगतः। 'तस्य' मत्स्यस्य 'शृङ्गे' भवितव्यतयैव 'निष्पादिते 'नावः पाशं' प्रतिबद्धवान्। 'तेन' पाशेन सह मत्स्यः 'एतम्' 'उत्तरं गिरिम्' हिमवन्त-मधिजगाम ॥ ५ ॥

—सायणभाष्यम्

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक ९.

ऋत (शास्त्रादि द्वारा बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ) तथा स्वाध्याय (शास्त्रों का अध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठ-रूप ब्रह्मयज्ञ) (इनका अनुष्ठान करना चाहिए)। सत्य (सत्य बोलना) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (ये अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं)। तप तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करें)। दम (इन्द्रियों का निग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इनका अनुष्ठान करे)। शम (चित्त की शान्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (ये सब करने योग्य हैं)। अग्नि (अग्नियों का आधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (ये कर्तव्य हैं)। अग्निहोत्र (होम) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करे)। अतिथि (अतिथिसत्कार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करे)। मानुषकर्म (लौकिक व्यवहार—जैसे विवाहादि) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करता रहे)। प्रजा (सन्तान उत्पन्न करना) तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करे)। प्रजन (ऋतुकाल में पत्नीगमन) तथा (इसके साथ) स्वाध्याय और प्रवचन (करता रहे)। प्रजाति (पौत्र की उत्पत्ति)

तथा स्वाध्याय और प्रवचन (इन्हें करे)। सत्य ही (कर्तव्य है) रतीतर का वंशज सत्यवचा मानता है। तप ही (कर्तव्य है), ऐसा तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि का मत है। स्वाध्याय और प्रवचन ही (कर्तव्य ऐसा मुद्गल के पुत्र नाक का मत है। अतः वे (स्वाध्याय और प्रवच ही तप हैं, वे ही तप हैं॥ १ ॥

ऋतमिति व्याख्यातम्। (ऋतं—यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुप निश्चितमर्थम्, शिक्षावल्ली १, शा० भाष्य)। स्वाध्यायोऽध्ययन प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतान्यृतादीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशे सत्यं च सत्यवचनं यथा व्याख्यातार्थं वा। (सत्यमिति स एव वा कायाभ्यां संपाद्यमानः शिक्षावल्ली १, शाङ्करभाष्य)। तपः कृच्छ्रादि दमो वाह्यकरणोपशमः। शमोऽन्तःकरणोपशमः। अग्नय आधातव्या अग्निहोत्रं च होतव्यम्। अतिथयश्च पूज्याः। मानुषमिति लौकि संव्यवहारः, तच्च यथाप्राप्तमनुष्ठेयम्। प्रजा चोत्पाद्या। प्रजन प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यर्थः। प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः पुत्रो निवेशयित इत्येतत्।

सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येव सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्, अ ज्ञानायत्तं च परं श्रेयः, प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थञ्च। अ स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः।

सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यव नाम वा तस्य। रातीतरो रतीतरस्य गोत्रो रातीतराचार्यो मन्यते। त इति तप एव कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपः परस्तपोनित्य इ वा नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते। स्वा ध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल आचार्यो मन्यते। तद्धि तपस्तद्धि तपः। हि यस्मात् स्वाध्यायप्रवच

एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति । उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम् ।

—शाङ्करभाष्यम्

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

वेद पढ़ाने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश देता है—सत्य बोलना । धर्म का पालन करना । स्वाध्याय से प्रमाद न करना । आचार्य के लिए (उसका) प्रिय धन लाकर, (आचार्य के आज्ञा देने पर, अपने अनुरूप स्त्री से विवाह करके) सन्तान की परम्परा को मत तोड़ना । सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए । धर्म (अनुष्ठेय कर्म-विशेष) से प्रमाद नहीं करना चाहिए । कुशल (आत्मरक्षा में उपयोगी कर्मों) से प्रमाद नहीं करना चाहिए । भूति (ऐश्वर्य के लिए होने वाले पुण्य कर्मों) से प्रमाद नहीं करना चाहिए । अध्ययन और अध्यापन से प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥ १ ॥

वेदमनूच्याध्याप्याचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः, 'अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति । 'बुद्ध्वा कर्माणि चारभेत' इति स्मृतेश्च ।" कथमनुशास्तीत्याह—

सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं तद्वद । तद्वद्धर्मं चर । धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात् । स्वाध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः । आचार्यायाचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम्, आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान् दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः । प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या ।

अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभि प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात् । अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेको वक्ष्यत् ।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः । सत्याच्च प्रमदनप्र प्रसङ्गः, प्रमादशब्दसामर्थ्यात् । विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थ अन्यथाऽसत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । धर्म स्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः स न कर्तव्यः । अनुष्ठातव्य धर्म इति यावत् । एवं कुशलादात्मरक्षार्थात् कर्मणो न प्रमदितव्य भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्य स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्या ताभ्यां न प्रमदितव्यम् । ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदे भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्या कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माक सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

देवकार्य (देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले काम) और पितृकार्यों प्रमाद नहीं करना चाहिए । माता को देवता मानना । पिता को देव मानना । आचार्य (अध्यापक) को देवता मानना । अतिथि को देव मानना । जो अनिन्दनीय (शिष्टाचार रूप) कर्म हैं, उन्हीं का से करना चाहिए, दूसरों का नहीं । हमारे (अध्यापकों के) भी जो सुचरि (शास्त्र से अविरुद्ध कर्म) हैं, तुझे उन्हीं की उपासना करनी चाहिए॥

तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः । एवं पितृदे आचार्यदेवो भव । देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः । यान्यपि चान्यान्यनव न्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया । नो न कर्तव्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि । यान्यस्मा

माचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितानि आम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत् ॥ २ ॥

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेया ँ सो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥

दूसरों की नहीं । जो कोई भी (विशिष्ट) हमसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन्हें आसनादि देकर तुझे (उनका) श्रम दूर करना चाहिए । (यदि कुछ दान देना हो तो) श्रद्धा से ही देना चाहिए । अश्रद्धा से नहीं देना चाहिए । (अपने) ऐश्वर्य के अनुसार देना चाहिए । लज्जापूर्वक देना चाहिए । भय मानते हुए देना चाहिए । संवित् (मित्रता आदि के उद्देश्य) से देना चाहिए । (इस प्रकार व्यवहार करते हुए) यदि तुझे कर्म (श्रौत या या स्मार्त कर्म) के विषय में सन्देह या वृत्त (आचरणरूप व्यवहार) के विषय में सन्देह हो ॥ ३ ॥

नो इतराणि विपरीतानि आचार्यकृतान्यपि । ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनानसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम् । प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः । तेषां श्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः। तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम् । किञ्च यत्किञ्चिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम् । अश्रद्धया अदेयं न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या देयम् दातव्यम् । ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया भीत्या च देयम् । संविदा मैत्र्यादिकार्येण देयम् ।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्माणि वृत्ते वाचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् । ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः । संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।। ४ ।।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक ११

तो वहाँ जो संमर्शी (विचारशील), युक्त (कर्म में तत्पर), आयुक्त (स्वेच्छा से कर्मपरायण), अलूक्ष (सरल-हृदय), और धर्मकामी (धर्म की अभिलाषा करने वाले) ब्राह्मण हों, वे (ब्राह्मण) वहाँ (उस कर्म या आचरण के विषय में) जैसा व्यवहार करें, तूं भी वैसा ही उस विषय में व्यवहार कर। इसी प्रकार अभ्याख्यातों (जिन पर कोई संशययुक्त दोष आरोपित किया गया हो) के प्रति भी, वहाँ जो विचारशील, कर्म में तत्पर, स्वेच्छा से कर्मों में प्रवृत्त, सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों और वे जैसा व्यवहार करें, तू भी उनके प्रति वैसा ही (व्यवहार) कर। यह आदेश (विधि) है। यह उपदेश है। यह वेद का रहस्य है। यह अनुशासन (ईश्वर का वाक्य) है। इसी प्रकार ही उपासना करनी चाहिए और यह सब इसी प्रकार उपासना करने के योग्य है ।। ४ ।।

ये तत्र तस्मिन्देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन सम्बन्धः कर्तव्यः । संमर्शिनो विचारक्षमाः । युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः । अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः । धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत् स्युर्भवेयुः । ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु अभ्याख्याता अभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित् तेषु

यथोक्तं सर्वमुपनयेद् ये तत्रेत्यादि । एष आदेशो विधिः । एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम् । एषा वेदोपनिषद् । वेदरहस्यं वेदार्थं इत्येतत् । एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम् । आदेशवाक्यस्य विधेरुक्तत्वात् सर्वेषां वा प्रमाणभूतमनुशासनमेतत् । यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥ ४ ॥

—शाङ्करभाष्यम्

दशकुमारचरितम्

अष्टमोच्छ्वासः

(१)अथ सोऽप्याचचक्षे—'देव! मयापि परिभ्रमता विन्ध्या टव्यां कोऽपि कुमारः क्षुधा तृषा च क्लिश्यन्नक्लेशार्हः क्वचित्कूपा भ्याशेऽष्टवर्षदेशीयो दृष्टः।स च त्रासगद्गदमगदत्—'महाभाग! क्लिष्टस्य मे क्रियतामार्य ! साहाय्यकम् । अस्य मे प्राणापहा हारिणीं पिपासां प्रतिकर्तुमुदकमुदञ्चन्निह कूपे कोऽपि निष्कलो ममैकशरणभूतः पतितः । तमलमस्मि नाहमुद्धर्तुम्' इति ।

कथा का पूर्वांश

[दण्डी के प्रख्यात गद्यकाव्य दशकुमारचरित में भिन्न-भिन्न देशों भ्रमण के लिए निकले हुए दस कुमारों की यात्राओं के अनुभवों का रोच वृत्तान्त है । मगध देश के सम्राट् राजहंस थे । उनके धर्मपाल, पद्मोद्भ और सितवर्म नाम के कुल-परम्परागत तीन मंत्री थे । एक बार राजहं युद्ध में मानसार नाम के राजा से हार गये । खिन्न होकर वे वामदेव ना के ऋषि की शरण में गये । उन्होंने भविष्यवाणी की कि उनके राजवाह नाम का पुत्र उत्पन्न होगा जो शत्रु को पराजित करेगा । उस राजकुमार जन्म के साथ ही सम्राट् राजहंस के मंत्रियों के यहाँ भी पुत्र हुए । राजहं के मित्र विदेह देश के सम्राट् प्रहारवर्मा के भी दो पुत्र हुए ।

ये सब राजकुमार और मंत्रियों के पुत्र एक ही स्थान पर निवास क हुए, सम्राट् राजहंस की देखरेख में बड़े होकर वीर योद्धा बन गए । ए दिन जब वामदेव नामक ऋषि ने इन दस कुमारों—(१) राजवाह

(२) अपहार वर्मा, (३) उपहार वर्मा, (४) मित्रगुप्त, (५) मंत्रगुप्त, (६) अर्थपाल, (७) विश्रुत, (८) पुष्पोद्भव, (९) प्रमति, (१०) सोमदत्त)—को सम्राट् राजहंस के साथ देखा तो उसे कहा कि इन कुमारों को दिग्विजय के लिए भेजें। मुनि की आज्ञा के अनुसार राजकुमार राजवाहन अपने सहचरों के साथ विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ा। ये कुमार पहले तो यात्रा में एक-दूसरे से विछुड़ गए परन्तु अन्त में सबके सब फिर मिल गए। उस अवसर पर प्रत्येक कुमार ने अपनी अपनी यात्रा के रोचक तथा रोमांचकारी अनुभवों को कथा के रूप में एक-दूसरे को सुनाया। दशकुमारचरित काव्य के आठ उच्छ्वासों में इन्हीं कुमारों के चरित का उल्लेख है।

प्रस्तुत अष्टम उच्छ्वास में राजहंस का मंत्रिपुत्र विश्रुत अपने अनुभवा का वर्णन करते हुए कहता है—]

(१) इसके वाद उस (विश्रुत) ने भी कहा—"हे स्वामी, मैंने भी विन्ध्य नामक वन में घूमते हुए, (वहाँ) कहीं कुएँ के समीप लगभग आठ वर्ष का कोई वालक देखा, जो कष्ट-सहन के योग्य नहीं था, पर फिर भी भूख और प्यास से पीड़ित था। और उसने भय के कारण रुँधी हुई वाणी से कहा था—'हे महाभाग, मुझ दुःखी की, हे आर्य, सहायता कीजिये। प्राणों को सुखा देने वाली मेरी प्यास को बुझाने के लिए, पानी खींचता हुआ कोई वृद्ध, जो मेरा एकमात्र सहारा था, यहाँ कूप में गिर पड़ा है। मैं उसे बाहर निकालने में असमर्थ हूँ।'

पदचन्द्रिका—(१) इदानीं विश्रुतनामा कुमारः स्वचरितं वक्तुमुपक्रमते। अथानन्तर्यार्थे। स विश्रुतनामा। अक्लेशार्हः, क्लेशार्हो नेत्यर्थः। कूपो जलाशयः। अभ्याशे समीपे। अष्टवर्षदेशीयः, 'कल्पब्देश्यदेशीयरः' (वा०) इति शब्दान्न्यूनार्थे। साहाय्यकं सहायस्य भावस्तथा। पिपासा पातुमिच्छा प्रतिकर्तुं दूरीकर्तुम्। उदञ्चन्निष्कासयन्। कोऽप्यविदितकुलनामा। निष्कलः स्थविरः, वृद्ध इति यावत्; 'निष्कलः स्थविरः समौ' इति वैजयन्ती।

(२) अथाहमभ्येत्य व्रतत्या कयापि वृद्धमुत्तार्य, तं च बाल वंशनालीमुखोद्धृताभिरद्भिः फलैश्च पञ्चषैः शरक्षेपोच्छ्रितस्य लकुचवृक्षस्य शिखरात्पाषाणपातितैः प्रत्यानीतप्राणवृत्तिमापाद्य तरुतलनिषण्णस्तं जरन्तमब्रवम्––'तात ! क एष बालः, को वा भवान्, कथं चेयमापदापन्ना ?' इति ।

(२) मैंने शीघ्रता से पहुँच कर, किसी बेल के सहारे (उसे रस्सी बना कर) उस वृद्ध को बाहर निकाल कर, और (अन्दर से खोखली) बाँस की नली की सहायता से मुख द्वारा (खींच कर) निकाले गए जल से तथा तीर की फैंक से भी ऊँचे लकुच (बड़हर) वृक्ष की चोटी से पत्थर के द्वारा गिराये गए पाँच-छः फलों से, उस बालक को पुनर्जीवन प्रदान कर और फिर वृक्ष के नीचे बैठते हुए मैंने उस वृद्ध से कहा–'तात, यह बालक कौन है ? आप कौन हैं ? और कैसे यह विपत्ति आ पड़ी ?'

(२) अथेति । व्रतत्या वल्ल्या, 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। रज्जुस्थानीकृतयेति भावः । वंशनाली वेणुः । पञ्चषैः पञ्च षड् वा। 'संख्ययाव्यय––' (पा. २।२।२५) इत्यादिना बहुव्रीहिः, 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' (पा. ५।४।७३) इति समासान्तो डच् । शरक्षेपो बाणगमनं ततोऽप्युच्छ्रितस्य, उच्चस्येत्यर्थः । लकुचवृक्षस्य, 'लकुचो लिकुचो डहुः' इत्यमरः; भाषया 'बडहर' इति प्रसिद्धः । जरन्तं वृद्धम् ।

(३) सोऽश्रुगद्गदमगदत्––'श्रूयतां महाभाग ! विदर्भो नाम जनपदः, तस्मिन्भोजवंशभूषणम्, अंशावतार इव धर्मस्य, अतिसत्त्वः सत्यवादी, वदान्यः, विनीतः, विनेता प्रजानाम्, रञ्जितभृत्यः, कीर्तिमान्, उदग्रो बुद्धिमूर्तिभ्याम्, उत्थानशीलः, शास्त्रप्रमाणः, शक्यभव्यकल्पारम्भी, संभावयिता बुधान्, प्रभावयिता सेवकान्, उद्भावयिता बन्धून्, न्यग्भावयिता शत्रून्, असंबद्धप्रलापेष्व-

दत्तकर्णः, कदाचिदप्यवितृष्णो गुणेषु, अतिनदीष्णः कलासु, नेदिष्ठो धर्मार्थसंहितासु, स्वल्पेऽपि सुकृते सुतरां प्रत्युपकर्ता, प्रत्यवेक्षिता कोशवाहनयोः , यत्नेन परीक्षिता सर्वाध्यक्षाणाम्, उत्साहयिता कृतकर्मणामनुरूपैर्दानमानैः सद्यःप्रतिकर्ता दैव-मानुषीणामापदाम्, षाड्गुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेण प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य, पुण्यश्लोकः, पुण्यवर्मा नामासीत् ।

(३) उसने अश्रुओं के कारण रुँधे हुए कण्ठ से कहा–'सुनिये, महाभाग, विदर्भ नाम का देश है, उसमें भोजवंश का भूषण, धर्म का अंशावतार-सा, अत्यन्त वलशाली, सत्य बोलने वाला, वहुत दान देने वाला, नम्र, प्रजा का शिक्षक, सेवकों का प्यारा, यशस्वी, बुद्धि और शरीर से उन्नत, पुरुषार्थी, शास्त्र को प्रमाण मानने वाला, शक्य (सुकर कर्म), भव्य (जनता के अभीसिप्त या कल्याणकारी कर्म) तथा कल्प (विफल न होने वाले) कर्म को आरम्भ करने वाला, विद्वानों का आदर करने वाला, सेवकों का अभ्युदय करने वाला (या उन पर रौब रखने वाला), वन्धुओं को उन्नत करने वाला, शत्रुओं को झुकाने वाला, निरर्थक वार्तालाप (अटपटी बातों) पर कान न धरने वाला, गुणों से कभी तृप्त न होने वाला, कलाओं में अति निपुण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र (राजनीति) में पारंगत, थोड़े-से भी उपकार के बदले में अत्यधिक प्रत्युपकार करने वाला, कोश और वाहन (हाथी-घोड़े आदि) की देखभाल रखने वाला, (विभिन्न भागों के) सभी अध्यक्षों की यत्न के साथ परीक्षा करने वाला, सौंपे गए कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करने वालों को उचित दान-मान से उत्साहित करने वाला, दैवी और मानुषी आपत्तियों का तुरन्त निवारण करने वाला, (राजोचित) छः गुणों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय) के प्रयोग में कुशल, चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की मनुनिर्दिष्ट मार्ग से व्यवस्था करने वाला और पवित्र यश वाला पुण्यवर्मा नाम का राजा था।

(३) श्रूयतामिति। जनपदो देशः, 'नीवृज्जनपदो देशविषयो तूपवर्तनम्' इत्यमरः। अंशेनैकदेशेन। अत्यन्तं सत्त्वं यस्येति। अतिसत्त्वो महाबलः। सत्त्व गुणो वा। वदान्यो बहुप्रदः, 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः। विनीतो नम्रः। विनेता शिक्षाकर्ता। रञ्जिता अनुरागं प्रापिता भृत्याः सेवका येनेति। उदग्र उन्नतः। बुद्धिर्मतिः। मूर्तिः कायः। उत्थानशीलः पौरुषस्वभावः, 'उत्थानं पौरुषे तन्त्रे संनिविष्टोद्गमेऽपि च' इति विश्वः। शास्त्रमेव प्रमाणं यस्येति स तथा। शक्यभव्यकल्पारम्भी, 'शक्यं तु सुकरं कर्म भव्यं तु जनलालितम्। कल्पं युक्तं न भङ्गेन सदैवैष समाचरेत्॥' इति दिवाकरः। शक्यं स्वसाध्यम्। भव्यं कुशलम्, 'भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेमम्' इत्यमरः। कल्पो विधिः, 'कल्पो न्याय्ये विधौ शास्त्रे संवर्ते ब्रह्मवासरे। कल्पद्रुमे विकल्पे च'—इति महीपः। संभावयिता संभावना मानधनादिनेति ज्ञेयम्। एवं सर्वत्र। असंबद्धाः परस्परासंबद्धाः प्रलापा निरर्थकवचनानि, 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इत्यमरः। अदत्तकर्णः अश्रोतेत्यर्थः। अवितृष्णो न विगता तृष्णा यस्येति स तथा। नदीष्णो निपुणः, 'नदीष्णाभिज्ञनिष्ठ्यूतप्रवीणनिपुणा अपि' इति कोशः। नदीपूर्वात् स्नातेरातोऽनुपसर्गे कप्रत्ययः, 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' (पा. ८।३।८९) इति मूर्धन्यादेशः। नेदिष्ठो निकटवर्ती, 'अन्तिकबाढयोर्नेद साधौ' (पा. ५।४।६३) इति साधु। प्रत्यवेक्षा गवेषणम्। कोशो भाण्डागारम्। वाहनान्यश्वादीनि। प्रतिकर्ता प्रतीकारकर्ता। षाड्गुण्यं षड्गुणाः चातुर्वर्ण्यादिपाठात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः, 'संधिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः। षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः। चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्। पुण्यश्लोकः पवित्रकीर्तिः, 'पद्ये यशसि च श्लोकः' इत्यमरः। पुण्यवर्मेति नाम राजा।

(४) स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषम्, पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु। तदनन्तरमनन्तवर्मा नाम तदायतिरवनिमध्यतिष्ठत्। स सर्वगुणैः समृद्धोऽपि दैवाद्दण्डनीत्यां नात्याद

तोऽभूत् । तमेकदा रहसि वसुरक्षितो नाम मन्त्रिवृद्धः, पितुरस्य बहुमतः, प्रगल्भवागभाषत—

(४) वह अपने पुण्य कर्मों के कारण पुरुष की आयु (१०० वर्ष) जीवित रह कर अपने पाप के कारण ही देवताओं में गिना गया (अर्थात् मर गया)। इसके वाद उस पुण्यवर्मा से प्रभाव प्राप्त करने वाला, उसका पुत्र अनन्तवर्मा पृथ्वी का शासक बना। वह सब गुणों से भरा हुआ होने पर भी दुर्भाग्यवश राजनीति में अधिक आदर (रुचि) नहीं रखता था। एक वार इसके पिता द्वारा अतिसंमानित, पटुभाषी, वृद्धमंत्री वसुरक्षित ने एकान्त में उस (अनन्तवर्मा) से कहा—

(४) स इति। प्राप्य, जीवित्वेत्यर्थः। पुरुषायुषं पूर्णमायुर्वर्षशतमितम्। अपुण्येन, पापेनेत्यर्थः। अगण्यत, 'गण संख्याने'। अमरेषु देवेषु। तदनन्तरम्, पुण्यवर्मोत्तरमित्यर्थः। अनन्तवर्मेति। तदायतिस्तस्मात्पुण्यवर्मण आयतिः प्रभावो यस्येति स तथा, 'स्यात्प्रभावेऽपि चायतिः' इत्यमरः। दैवाददृष्टात्। दण्डनीत्यां राजनीत्याम्। रहस्येकान्ते। प्रगल्भा प्रौढा वाक् यस्येति स तथा।

(५) 'तात! सर्वैवात्मसंपदभिजनात्प्रभृत्यन्यूनैवात्रभवति लक्ष्यते। बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु च काव्यविस्तरेषु प्राप्तविस्तरा तवेतरेभ्यः प्रतिविशिष्यते। तथाप्यसावप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः। बुद्धिशून्यो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते। न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय। अतिक्रान्तशासनाश्च प्रजा यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकिरेयुः। निर्मर्यादश्च

लोको लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं च भ्रंशयते। आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा। दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति। तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात्। अतो विहाय बाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्याम्। तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्' इति।

(५) 'तात, उच्च कुल में जन्म से लेकर जितने भी मनुष्य के गुण हैं, वे सबके सब पूरे के पूरे आप में दिखाई देते हैं। आपकी सहज-कुशल बुद्धि, कलाओं में, नृत्य-गीतादि में, चित्रों में, काव्य-रचनाओं में विकास पाती हुई, दूसरों से कहीं बढ़ कर है। फिर भी अर्थशास्त्र (राजनीति) के अध्ययन से न सँवारी गई यह (आप की) बुद्धि, आग में शुद्ध न किए गए सोने की भाँति, चमकती नहीं है। क्योंकि बुद्धिहीन राजा, चाहें कितना भी उन्नत हो, शत्रुओं से आक्रमण होने पर अपने को चेत नहीं कर पाता और न शत्रु और सहायक (या कार्य और कारण) में अन्तर रख कर व्यवहार कर पाता है। काम उल्टा-सीधा करने से असफल होता है और अपने लोगों तथा शत्रुओं से पराजय पाता है। जिस की कोई बात नहीं मानता, ऐसे राजा की आज्ञा प्रजा के योग (अलभ्य वस्तु का लाभ) और क्षेम (लब्ध वस्तु की रक्षा) की रक्षा करने में असमर्थ होती है। और जब प्रजा राजा की आज्ञा का उल्लंघन करती है, तो जो कुछ मन में आता है बोलती है, जैसा चाहती है वैसा व्यवहार करती है और राज्य की सारी व्यवस्था बिगाड़ देती है। और मर्यादा तोड़ने वाली प्रजा अपने आप को और अपने स्वामी को इस लोक में तथा परलोक में भी विनष्ट कर देती है। शास्त्र-रूपी दीप के द्वारा देखे गए मार्ग से लोक-यात्रा सुख-

पूर्वक होती है। शास्त्र ऐसा दिव्य नेत्र है जिसकी गति भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में, तथा छिपी हुई तथा दूर रहने वाली वस्तुओं में भी नहीं रुकती। उसके बिना चौड़े और बड़े नेत्रों के होते हुए भी राजा, राजनैतिक उद्देश्यों को देखने में असमर्थ होने के कारण, अन्धा ही है। इसलिए बाहर की विद्याओं में आसक्ति छोड़ कर राजनीति को समझो जो तुम्हारी कुल-विद्या है। इसको व्यवहार में लाने से शक्ति और सिद्धि को प्राप्त करके समुद्ररूपी मेखला (तडागी) वाली पृथ्वी पर चिरकाल तक ऐसे शासन करो जिससे कोई तुम्हारी आज्ञा को टाल न सके।'

(५) तातेति संबोधनम्। अभिजनात् 'कुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः। अतिशयेन पटुः पटवी। विस्तरो विस्तृतत्वम्। इतरेभ्योऽन्येभ्यः। प्रतिविशिष्यते, विशिष्टा भवतीत्यर्थः। तथापीति। हेमजातिः सुवर्णजातिः। बुद्धिशून्यो बुद्धिहीनः। अत्युच्छ्रितोऽपि महानपि। परैः शत्रुभिः। अध्यारुह्यमाणमासाद्यमानम्। न चेतयते, विना संज्ञानेन स्मारयत इत्यर्थः। साध्यं कार्यम्। साधनं कारणम्। कर्मसु कार्येषु। स्वैरात्मीयैः। परिभूयते पराभवं प्राप्यते। अवज्ञातस्यावगणितस्य। योगोऽलभ्यलाभः। क्षेमं लब्धसंरक्षणम्। 'अप्राप्तप्रापणं योगः क्षेमं प्राप्तस्य रक्षणम्। द्वयं च साधयेद्भूपः प्रजानां विधिवत्प्रदः॥' इति। इतो लोकादिहलोकात्। अमुतः परलोकात्। भ्रंशयते पातयति। आगम एव दीपस्तेन दृष्टेन। अध्वना मार्गेण। लोकयात्रा लोकस्थितिः। अप्रतिहतवृत्ति न प्रतिहता कुण्ठिता वृत्तिर्यस्येति। तेन, शास्त्रचक्षुषेत्यर्थः। हीनो रहितः। सतोविद्यमानयोः। विशालयोर्महतोः। बाह्यविद्यास्वितरविद्यासु। अभिषङ्गं सङ्गम्, 'अभिषङ्गस्त्वभिभवे सङ्ग आक्रोशनेऽपि च' इति वैजयन्ती। आगमय, प्रापयेत्यर्थः। तदर्थानुष्ठानेन, कुलविद्यानुष्ठानेनेत्यर्थः। आवर्जिता प्राप्ता। अस्खलितशासनोऽहताज्ञः। शाधि शिक्षय। 'शासु अनुशिष्टौ॥

(६) एतदाकर्ण्य 'स्थान एव गुरुभिरनुशिष्टम्। तथा क्रियते'

इत्यन्तःपुरमविशत् । तां च वार्तां पार्थिवेन प्रमदासंनिधौ प्रसङ्गे नोदीरितामुपनिशम्य समीपोपविष्टश्चित्तानुवृत्तिकुशलः प्रसाद-वित्तो गीतनृत्यवाद्यादिष्वबाह्यो बाह्यनारीपरायणः पटुरयन्त्रित-मुखो बहुभङ्गिविशारदः परमर्मान्वेषणपरः परिहासयिता परिवादरुचिः पैशुन्यपण्डितः सचिवमण्डलादप्युत्कोचहारी सकलदुर्नयोपाध्यायः कामतन्त्रकर्णधारः कुमारसेवको विहारभद्रो नाम स्मितपूर्वं व्यज्ञापयत्—

(६) यह सुनकर 'गुरुओं ने ठीक ही सिखाया है; वैसा ही होगा' (यह कह कर राजा) रनवास में चला गया। राजा के द्वारा रानियों की उपस्थिति में प्रसङ्गवश कही हुई उस बात को सुन कर, पास बैठा हुआ, मन के भाव समझने में चतुर, तथा राजा का अनुग्रह पाने के कारण प्रसिद्ध, गीत-नृत्य और वाद्यों (बजाये जाने वाले यंत्र, जैसे मृदङ्ग-वीणा आदि) में निपुण, नारी-लम्पट, चतुर, जो मुँह में आये कहने वाला, अनेक वक्रोक्तियों में कुशल, दूसरों के मर्म (गुप्त रहस्य) को समझने में प्रवीण, हँसाने वाला, निन्दा फैलाने में रुचि रखने वाला, चुगली अथवा ठगी में घुटा हुआ, मंत्रियों से भी रिश्वत ले लेने वाला, सब बुरे कार्यों का अध्यापक, काम-शास्त्र का नाविक (नौका खेने वाला), बाल्यावस्था से ही राजा का सेवक, वह विहारभद्र, मुस्कराते हुए, राजा से कहने लगा—

(६) एतदिति । स्थाने, युक्तमित्यर्थः । अनुशिष्टमुपदिष्टम् । चित्तानुवृत्तिर्मनोगतं तत्र कुशलः । प्रसादवित्तो राजप्रसादेन ख्यातः । गीतं गानम् । नृत्यं नर्तनम् । वाद्यं चतुर्विधम् । अबाह्योऽभिन्नः, तन्मय इति भावः । अयन्त्रितमुखोऽनियतमुखः, बहुभाषीत्यर्थः । 'भङ्गी स्याद्वक्र-भाषितम्' इति वैजयन्ती । परमर्म परगोप्यम् । परिवादो निन्दा । उत्कोचो गुप्तद्रव्यादिग्रहणम् । दुर्नयानामुपाध्यायोऽध्यापकः । कामतन्त्रे कामशास्त्रे । कर्णधारो नाविकः । कुमारसेवकः कुमारावस्थायाः प्रभृति सेवकः ।

(७) देव ! दैवानुग्रहेण यदि कश्चिद्भाजनं भवति विभूतेः, तमकस्मादुच्चावचैरुपप्रलोभनैः कदर्थयन्तः स्वार्थं साधयन्ति धूर्ताः । तथा हि—केचित्प्रेत्य किल लभ्यैरभ्युदयातिशयैराशामुत्पाद्य, मुण्डयित्वा शिरः, बद्ध्वा दर्भरज्जुभिः, अजिनेनाच्छाद्य, नवनीतेनोपलिप्य, अनशनं च शाययित्वा, सर्वस्वं स्वीकरिष्यन्ति । तेभ्योऽपि घोरतराः पाषण्डिनः पुत्रदारशरीरजीवितान्यपि मोचयन्ति । यदि कश्चित्पटुजातीयो नास्यै मृगतृष्णिकायै हस्तगतं त्यक्तुमिच्छेत् । तमन्ये परिवार्याहुः—'एकामपि काकिणीं कार्षापणलक्षमापादयेम, शस्त्रादृते सर्वशत्रून्घातयेम, एकशरीरिणमपि मर्त्यं चक्रवर्तिनं विदधीमहि, यद्यस्मदुद्दिष्टेन मार्गेणाचर्यते' इति ।

(७) 'हे स्वामी, यदि भाग्य की कृपा से कोई ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता है, तो धूर्त लोग उसे तरह-तरह के प्रलोभनों से पीड़ित करते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। जैसे—कुछ (धूर्त), मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले बढ़े-चढ़े अभ्युदय (समृद्धि) की आशा दिला कर (अपने शिकार का) सिर मूँड कर, (उसे) दाभ की रस्सियों से बांध कर, चमड़े से ढक कर (पहना कर) मक्खन से लीप कर, भूखे ही सुला कर (उसका) सर्वस्व हड़प लेते हैं। इनसे भी कहीं बढ़ कर बहुत बुरे पाषण्डी वे होते हैं जो (राजा को) पुत्र, पत्नी, शरीर यहाँ तक कि जीवन से भी छुड़वा देते हैं। यदि कोई बहुत चतुर हो, और (उनके द्वारा दिखाई) मृगतृष्णा में न फँस कर अपने हाथ (अधिकार) में आई (सम्पत्ति) को छोड़ना न चाहे, तब दूसरे (धूर्त) उसे घेर कर यों कहते हैं—यदि कोई हमारे द्वारा बताये मार्ग पर चलता है, तो हम (उसके लिए) एक काकिणी का एक लाख सिक्का बना दें, शस्त्र के बिना ही, सब शत्रुओं

को मरवा दें, अकेले तथा असहाय मरणशील मनुष्य को भी चक्रवर्ती सम्राट् बना दें।

(७) कदर्थयन्तो निन्दन्तः। तथा हीति। प्रेत्य जन्मान्तरे, 'प्रेत्यामुत्र भवान्तरे' इत्यमरः। किलेत्यलीके। अजिनेन चर्मणा। अनशनं निराहारम्। पाषण्डिनो शास्त्रविरुद्धाचाराः, सर्वतोभ्रष्टा इत्यर्थः। पटुजातीयः। 'प्रकारवचने जातीयर्' (पा. ५।३।६९)। कार्षापणम् 'कार्षापणः कार्षिके स्यात्पणषोडशकेऽपि च' इति विश्वः। एकशरीरिणम् । एकाकिनमित्यर्थः। मर्त्यं चक्रवर्तिनं मनुष्यसमूहर्वातनम्। आचर्यते, आचरतीत्यर्थः।

(८) पुनरिमान्प्रत्याह—'कोऽसौ मार्गः ?' इति। पुनरिमे ब्रुवते—नन चतस्रो राजविद्याः, त्रयी वार्ताऽऽन्वीक्षिकी दण्डनीतिरिति। तासु तिस्रस्त्रयीवार्तान्वीक्षिक्यो महत्यो मन्दफलाश्च। तास्तावदासताम्। अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता। सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्मक्षमा' इति। स 'तथा' इत्यधीते शृणोति च। तत्रैव जरां गच्छति। तत्तु किल शास्त्रं शास्त्रान्तरानुबन्धि। सर्वमेव वाङ्मयमविदित्वा न तत्त्वतोऽधिगंस्यते। भवतु कालेन बहुनाल्पेन वा तदर्थाधिगतिः। अधिगतशास्त्रेण चादावेव पुत्रदारमपि न विश्वास्यम्। आत्मकुक्षेरपि कृते तण्डुलैरियद्भिरियानोदनः संपद्यते। इयत ओदनस्य पाकायैतावदिन्धनं पर्याप्तमिति मानोन्मानपूर्वकं देयम्

(८) जब वह (राजा) इन (धूर्तों) से पूछता है 'वह कौन सा मार्ग है ?' तब ये फिर कहते हैं—'चार राजविद्याएँ हैं। तीन वेद, वार्ता (कृषि और व्यापार) आन्वीक्षिकी (तर्क और आत्मतत्त्वविद्या) और राजनीति। इनमें तीन—त्रयी, वार्ता और आन्वीक्षिकी तो बड़ी हैं और देर में धीरे-

धीरे फल देने वाली हैं। उन्हें तो रहने दो। राजनीति को पढ़ो। यह आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य के लिए छः हजार श्लोकों में लिखी है। उसे ही पढ़कर अच्छी तरह व्यवहार में लाई हुई (वह राजनीति) यथेच्छ फल दे सकती है। वह (राजा) उनकी बात मान कर, उसे (दण्डनीति को) पढ़ता है और सुनता है। पढ़ते-सुनते ही बूढ़ा हो जाता है। वह शास्त्र तो दूसरे शास्त्र से जुड़ा हुआ है। जब तक सारा वाङ्मय नहीं जाना जाता, तब तक कुछ भी अच्छी तरह (पूरी तरह) समझ में नहीं आता। बहुत या थोड़े समय में उसके अर्थ का ज्ञान भी हो जाए, तो शास्त्रज्ञान हो जाने पर सबसे पहली शिक्षा यह है कि पुत्र और पत्नी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। अपना पेट भरने के बारे में शिक्षा है कि इतने चावलों से इतना भात बनता है। इतने भात के पाक के लिए इतना इन्धन बहुत काफी है। अतः (सब-कुछ) पहले तोल कर और माप कर देना चाहिए।

(८) अधीष्व, अङ्गीकुर्वित्यर्थः। चन्द्रगुप्तमौर्यो राजा। वाङ्मयं वाग्जालम्। समूहार्थे मयट्। 'तुलावच्छेद उन्मानो मानः प्रस्थादिभिः कृतः' इति वैजयन्ती।

(९) उत्थितेन च राज्ञा क्षालिताक्षालिते मुखे मुष्टिमर्धमुष्टिं वाऽभ्यन्तरीकृत्य कृत्स्नमायव्ययजातमह्नः प्रथमेऽष्टमे वा भागे श्रोतव्यम्। शृण्वत एवास्य द्विगुणमपहरन्ति तेऽध्यक्षधूर्ताः। चत्वारिंशतं चाणक्योपदिष्टानाहरणोपायान्सहस्रधात्मबुद्धचैव ते विकल्पयितारः। द्वितीयेऽन्योन्यं विवदमानानां प्रजानामाक्रोशाद् दह्यमानकर्णः कष्टं जीवति। तत्रापि प्राड्विवाकादयः स्वेच्छया जयपराजयौ विदधानाः पापेनाकीर्त्या च भर्तारमात्मानं चार्थैर्योजयन्ति।

(९) (राजा की दिनचर्या के विषय में ये नियम हैं।) उठ कर (जाग कर) राजा को, मुँह धोया हो या न धोया हो, मुष्टि (देश की आय-व्यय

की देखभाल) और अर्धमुष्टि (ग्राम की देखभाल) की जाँच-पड़ताल करके [अथवा मुष्टि (जनपद की आय-व्यय का लेखा-जोखा करने वाला अधिकारी) और अर्धमुष्टि (ग्राम की आय-व्यय का लेखा-जोखा करने वाला वैसा ही अधिकारी) को अपने विश्वास में लाकर], दिन के पहले या आठवें भाग में, सासे आय-व्यय का ब्योरा सुनना चाहिए। इस प्रकार राजा के हिसाब-किताब पर ध्यान रखते रहने पर भी, ये धूर्त अध्यक्ष (आय-व्यय के अधिकारी) दुगना हड़प लेते हैं। चाणक्य के द्वारा बताये गए चालीस कपट (ठगी) के उपायों को, ये धूर्त राजसेवक अपनी बुद्धि से ही हजार गुना बढ़ा लेते हैं। दूसरे (घंटे) में, परस्पर झगड़ती हुई प्रजा के झगड़े सुनने के कारण कर्ण-पीड़ा से व्याकुल राजा दुःखपूर्वक जीता है। ऐसा होने पर भी न्यायाधीश आदि अपनी इच्छा से (झगड़ों में) जीत या हार का निर्णय देते हुए, अपने स्वामी के माथे पाप और निन्दा मढ़ते हैं; और अपने को धन से मालामाल कर लेते हैं।

(९) मुष्टयर्धमुष्टी परिमाणविशेषौ। आक्रोशात्। 'यः सनिन्द उपालम्भस्तत्र स्यात्परिभाषणम्। तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति' इत्यमरः। ते प्राड्विवाकाः।

(१०) तृतीये स्नातुं भोक्तुं च लभते। भुक्तस्य यावदन्धः-परिणामस्तावदस्य विषभयं न शाम्यत्येव। चतुर्थे हिरण्यप्रति-ग्रहाय हस्तं प्रसारयन्नेवोत्तिष्ठति। पञ्चमे मन्त्रचिन्तया महान्त-मायासमनुभवति। तत्रापि मन्त्रिणो मध्यस्था इवान्योन्यं मिथः संभूय, दोषगुणौ दूतचारवाक्यानि शक्याशक्यतां देशकालकार्या-वस्थाश्च स्वेच्छया विपरिवर्तयन्तः, स्वपरमित्रमण्डलान्युप-जीवन्ति। बाह्याभ्यन्तरांश्च कोपान्गूढमुत्पाद्य प्रकाशं प्रशमयन्त इव स्वामिनमवशमवगृह्णन्ति।

(१०) तीसरे में उसे नहाने और भोजन करने का अवसर मिलता

है। जब तक खाया हुआ भोजन पचता है, तब तक (भोजन में) विष मिलने का भय शान्त नहीं होता है। चौथे में स्वर्ण (राजस्व) लेने के लिए हाथ फैलाता हुआ ही उठता है। पाँचवें में मन्त्र (मन्त्रियों के साथ विचार विमर्श) की चिन्ता के कारण अत्यधिक कष्ट अनुभव करता है। फिर भी (राजा के) मन्त्री मध्यस्थ (वकील) के समान आपस में साँठ-गाँठ करके, दोष और गुणों को, दूतों (सेवकों) और चारों (गुप्त-चरों) के वाक्यों को, सम्भव और असम्भव को, देश, काल, कार्य और अवस्था को, अपनी इच्छा से तोड़ते मरोड़ते हुए, स्व-मण्डल, शत्रु-मण्डल और मित्र-मण्डल से भी स्वार्थ साधे विना नहीं चूकते। बाह्य (राजा से सीधा सम्बन्ध न रखने वाले जैसे सीमावर्ती राज्य के लोग), आभ्यन्तर (राजा से साक्षात् सम्बन्धित व्यक्ति जैसे, मंत्री, सेनापति आदि) के क्रोध को चुपचाप भड़का कर फिर सबके सामने मानो उसे शान्त करने का स्वाँग भरते हुए ये धूर्त अपने स्वामी को लाचार बना कर उसे अपने चंगुल में कर लेते हैं।

(१०) अन्धःपरिणाम ओदनपरिपाकः। महान्तमायासं क्लेशम्। संभूय मिलित्वा। दूताः सेवकाः। चारा गूढदूताः। स्वपरमित्राणां मण्डलम्। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यत इति परिभाषया स्वमण्डलं परमण्डलं मित्रमण्डलं वेत्यर्थः। प्रशमयन्तः शान्तिं प्रापयन्तः।

(११) षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा सेव्यः। सोऽस्यैतावान्स्वैरविहारकालो यस्य तिस्रस्त्रिपादोत्तरा नाडिकाः। सप्तमे चतुरङ्गबलप्रत्यवेक्षणप्रयासः। अष्टमेऽस्य सेनापतिसखस्य विक्रमचिन्ताक्लेशः। पुनरुपास्यैव संध्याम्, प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषा द्रष्टव्याः। तन्मुखेन चातिनृशंसाः शस्त्राग्निरसप्रणिधयोऽनुष्ठेयाः। द्वितीये भोजनानन्तरं श्रोत्रिय इव स्वाध्यायमारभेत।

(११) छठे में मनचाहे मनोरंजन या मंत्र का सेवन करना चाहिए। इसके मनचाहे मनोरंजन के लिए समय वस इतना ही है जितना तीन पाद (चौथाई) अधिक तीन नाडिकाएँ (३¾)। सातवें में चार अङ्गों वाली सेना के निरीक्षण का कष्टदायक कार्य करना पड़ता है। आठवें में सेनापतियों के साथ (विजय की) पराक्रम-साध्य योजनाओं की चिन्ता का कष्ट सताता है। फिर सन्ध्या के कर्तव्यों से निवृत्त होकर, रात के पहले भाग में अपने गुप्तचरों से मिलना पड़ता है। और उनके द्वारा अत्यन्त निर्दय, शस्त्र-मारक, अग्निदाहक और विषदायक (हत्या करने वाले) गुप्त दूतों को उनके काम वताना होता है। दूसरे में, भोजन के वाद ब्राह्मण के समान स्वाध्याय आरम्भ करना होता है।

(११) नृशंसा घातुकाः। शस्त्रप्रणिधिः शस्त्रमारकः। अग्निप्रणिधिरग्निदायकः। रसप्रणिधिर्विषदायकः, 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इति मेदिनी।

(१२) तृतीये तूर्यघोषेण संविष्टश्चतुर्थपञ्चमौ शयीत किल। कथमिवास्याजस्रचिन्तायासविह्वलमनसो वराकस्य निद्रासुखमुपनमेत्। पुनः षष्ठे शास्त्रचिन्ताकार्यचिन्तारम्भः। सप्तमे तु मन्त्रग्रहो दूताभिप्रेषणानि च। दूताश्च नामोभयत्र प्रियाख्यानलब्धानर्थान्वीतशुल्कबाधवर्त्मनि वणिज्यया वर्धयन्तः, कार्यमविद्यमानमपि लेशेनोत्पाद्यानवरतं भ्रमन्ति।

(१२) तीसरे में तूर्य के शब्द से सुलाया गया राजा चौथे और पाँचवें में सोये। परन्तु निरन्तर चिन्ता के कष्ट से व्याकुल मन वाले इस बेचारे को नींद का सुख कैसे मिल सकता है? फिर छठे में, शास्त्र की चिन्ता और कार्य की चिन्ता आरम्भ हो जाती है। सातवें में मंत्रियों से विचार-विमर्श और दूतों को उनके कार्य पर नियुक्त करना होता है। ये दूत चापलूसी भरे वचनों से, दोनों ओर से मिले हुए धन को 'यह राजकीय धन है, यह

कहकर महसूल की अड़चन से छुटे हुए उपायों से, व्यापार के द्वारा बढ़ाते हुए, चाहे कोई काम (करने के लिए) न भी हो, फिर भी जैसे-तैसे (काम) का बहाना ढूँढ़ कर, निरन्तर घूमते हैं।

(१२) संविष्टः कृतशयनः, 'संवेशः शयने स्थाने सत्समारोहणेऽपि च' इत्यजयः। अजस्रं निरन्तरम् 'नित्यानवरताजस्रम्' इत्यमरः। विह्वलमनसो व्याकुलचित्तस्य। शास्त्रचिन्ता कार्यचिन्ता चेति। वीता शुल्कबाधा यत्रेति क्रियाविशेषणम्। वणिज्यया वणिक्कर्मणा। अनवरतं निरन्तरम्।

(१३) अष्टमे पुरोहितादयोऽभ्येत्यैनमाहुः—'अद्य दृष्टो दुःस्वप्नः। दुःस्था ग्रहाः। शकुनानि चाशुभानि। शान्तयः क्रियन्ताम्। सर्वमस्तु सौवर्णमेव होमसाधनम्। एवं सति कर्म गुणवद्भवति। ब्रह्मकल्पा इमे ब्राह्मणाः। कृतमेभिः स्वस्त्ययनं कल्याणतरं भवति ते चामी कष्टदारिद्र्या बह्वपत्या यज्वानो वीर्यवन्तश्चाद्याप्यप्राप्तप्रतिग्रहाः। दत्तं चैभ्यः स्वर्ग्यमायुष्यमरिष्टनाशनं च भवति' इति बहु बहु दापयित्वा तन्मुखेन स्वयमुपांशु भक्षयन्ति।

(१३) आठवें में पुरोहित आदि पास आकर इसे कहते हैं— 'आज बुरा स्वप्न देखा है। ग्रहों की स्थिति ठीक नहीं है। और शकुन अशुभ हैं। (इनका कुफल दूर करने के लिए) शान्ति के कार्य करवाये जाएँ। यज्ञ के सभी साधन सोने के ही (बने) हों, ऐसा करने पर (यज्ञ) कर्म सफल होता है। ये ब्राह्मण ब्रह्मा का रूप हैं। इनके द्वारा किया गया स्वस्त्ययन (मंगल-मंत्रों का उच्चारण) अधिक कल्याणकारक होगा। और ये ब्राह्मण निर्धनता से पीड़ित, बहुत सन्तान वाले, यज्ञ करने में लगे हुए वीर्य (ब्रह्म-तेज) वाले हैं और फिर भी इन्हें प्रतिग्रह (दान आदि) नहीं मिला है। इन्हें दिया हुआ (धन) स्वर्ग को ले जाने वाला,

दीर्घ आयु देने वाला, और अरिष्ट (पाप) नाश करने वाला होता है। ऐसा कह कर उन्हें खूब-खूब (धन) दिलवा कर उनके बहाने से स्वयं चोरी-छिपे खाते हैं।

(१३) अभ्येत्यैकीभूत्वा । गुणवत्सार्थकम् । ब्रह्मकल्पा ब्रह्मण ईषन्न्यूनाः । स्वस्त्ययनं क्षेमप्रमाणम् । उपांश्वेकान्ते ।

(१४) तदेवमहर्निशमविहितसुखलेशमायासबहुलमविरल-कदर्थनं च नयतो नयज्ञस्यास्तां चक्रवर्तिता, स्वमण्डलमात्रमपि दुरारक्ष्यं भवेत्। शास्त्रज्ञसमाज्ञातो हि यद्ददाति, यन्मानयति, यत्प्रियं ब्रवीति, तत्सर्वमतिसंधातुमित्यविश्वासः । अविश्वास्यता जन्मभूमिरलक्ष्म्याः । यावता च नयेन विना याति लोकयात्रा स लोकत एव सिद्धः । नात्र शास्त्रेणार्थः । स्तनंधयोऽपि हि तैस्तैरुपायैः स्तनपानं जनन्या लिप्सते । तदपास्यातियन्त्रणा-मनुभूयन्तां यथेष्टमिन्द्रियसुखानि ।

(१४) इस प्रकार रात-दिन सुख का लेश पाये विना, कष्ट से भरपूर, और निरन्तर कदर्थना (पीड़ा) से व्याकुल जीवन व्यतीत करते हुए दण्डनीति को जानने वाले इस राजा का चक्रवर्ती होना तो दूर रहा, केवल अपने मण्डल (राज्य) की रक्षा करना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। शास्त्रज्ञ (दण्डनीति के शास्त्र को जानने वाला) के द्वारा अनुशासित ऐसा राजा जो कुछ देता है, जिस किसी का आदर करता है, जिस (किसी) से प्रिय वचन बोलता है, वह सब ठगने के लिए है, ऐसा समझते हुए लोग राजा पर अविश्वास करते हैं। विश्वास का चला जाना ही अलक्ष्मी (विपत्ति) की जन्मभूमि है। अपने साधारण जीवन के अनुभव से ही जाना जा सकता है कि दण्डनीति (को जाने) बिना भी कहाँ तक जीवन-यात्रा चलती है। इस विषय में शास्त्र से क्या लेना-देना। (माता का) स्तन चूसने वाला नन्हा शिशु भी अपने आप (बिना सिखाये) माता का स्तन

चूस लेता है। अतः सब प्रकार के नियंत्रणों (यह करो, यह न करो) से छुटकारा पाकर, जैसा चाहो वैसे, इन्द्रियों के सुखों का आनन्द लूटो।

(१४) चक्रवर्तिता राष्ट्रव्यापकता। जन्मभूमिरुत्पत्तिस्थानम्।

(१५) येऽप्युपदिशन्ति—'एवमिन्द्रियाणि जेतव्यानि, एवमरिषड्वर्गस्त्याज्यः, सामादिरुपायवर्गः स्वेषु परेषु चाजस्रं प्रयोज्यः, संधिविग्रहचिन्तयैव नेयः कालः, स्वल्पोऽपि सुखस्यावकाशो न देयः' इति, तैरप्येभिर्मन्त्रिबकैर्युष्मत्तश्चौर्यार्जितं धनं दासीगृहेष्वेव भुज्यते। के चैते वराकाः। येऽपि मन्त्रिकर्कशास्तन्त्रकर्तारः शुक्राङ्गिरसविशालाक्षबाहुदन्तिपुत्रपराशरप्रभृतयस्तैः किमरिषड्वर्गो जितः, कृतं वा तैः शास्त्रानुष्ठानम्?। तैरपि हि प्रारब्धेषु कार्येषु दृष्टे सिद्ध्यसिद्धी। पठन्तश्चापठद्भिरतिसंधीयमाना बहवः।

(१५) और जो (ऐसा) उपदेश देते हैं—'इस प्रकार इन्द्रियों को जीतना चाहिए, और छः शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य) के समूह का परित्याग करना चाहिए, और अपनों में और परायों में निरन्तर, सामादि (साम, दान, दण्ड, भेद) नीति के उपायों का प्रयोग करना चाहिए, सन्धि और विग्रह (युद्ध) की चिन्ता करते हुए समय बिताना चाहिए, सुख (भोगने) के लिए थोड़ा-सा भी समय नहीं देना चाहिए; वे नीच मंत्री भी आप से चोरी से ठगा हुआ धन वेश्याओं के घरों में ही भोगते हैं। क्या हैं ये बेचारे! और जो मन्त्र (के निर्वाह) में अत्यन्त कठोर शुक्र, आङ्गिरस, विशाल, अक्षबाहु, दन्तिपुत्र, पराशर आदि दण्डनीति के बनाने वाले नीतिज्ञ हुए हैं, क्या उन्होंने छः शत्रुओं को जीता था? क्या उन्होंने शास्त्रों के (निर्देश) का पालन किया था? उन्होंने भी प्रारम्भ किये हुए कार्यों में

सफलता और असफलता देखीं। शास्त्र पढ़ने वाले वहुत-से (लोग), शास्त्र न पढ़ने वालों से ठगे जाते हैं।

(१५) अरिषड्वर्गः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणि। सामादिरुपायाः (नयवर्गः), 'सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम्' इत्यमरः। मन्त्रिबकैर्मन्त्रिकुत्सितैः। 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (पा. २।१।५३) इति समासः। 'अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिचरो द्विजः' (४।१९६) इति मनुः। मन्त्रकर्कशा मन्त्रकठिनाः। तन्त्रकर्तारः कर्मकर्तारः। प्रारब्धेष्वारम्भितेषु।

(१६) नन्विदमुपपन्नं देवस्य, यदुत सर्वलोकस्य वन्द्या जातिः, अयातयामं वयः, दर्शनीयं वपुः, अपरिमाणा विभूतिः। तत्सर्वं सर्वाविश्वासहेतुना सुखोपभोगप्रतिबन्धिना बहुमार्गविकल्पनात्सर्वकार्येष्वमुक्तसंशयेन तन्त्रावापेनैव मा कृथा वृथा। सन्ति हि ते दन्तिनां दश सहस्राणि, हयानां लक्षत्रयम्, अनन्तं च पादातम्। अपि च पूर्णान्येव हेमरत्नैः कोशगृहाणि। सर्वश्चैष जीवलोकः समग्रमपि युगसहस्रं भुञ्जानो न ते कोष्ठागाराणि रेचयिष्यति। किमिदमपर्याप्तं यदन्यार्जितायायासः क्रियते?

(१६) आप में ये सब (बातें)—जैसे ऐसी जाति जिस की सारा लोक वन्दना करता है, नई खिलती जवानी और अपरिमित धन-सम्पत्ति—विद्यमान ही हैं। इन सबको, तन्त्रावाप (नीति-विचार) से, जो सब प्रकार के अविश्वास का कारण है, जो सुख के भोगों में बाधक है, और जिसमें अनेक उपायों (चालों) की (दिनरात) चिन्ता से सब कामों में बराबर सन्देह बना रहता है, निरर्थक मत बनाओ! तुम्हारे पास निश्चय ही दस हजार हाथी, तीन लाख घोड़े और अनन्त प्यादे सैनिक हैं।

इसके अतिरिक्त सोने और रत्नों से (तुम्हारे) कोशगृह (खजाने) भरे ही हैं। यह सारा जीवलोक (तुम्हारी सारी प्रजा) एक हजार युग तक (आप के) कोश को भोगे, फिर भी वह खाली नहीं होगा। क्या यह थोड़ा है जो आप और अधिक जोड़ने के लिए कष्ट कर रहे हैं?

---

(१६) अयातयाममजीर्णम्, नवमित्यर्थः। अपरिमाणेयत्तारहिता। विभूतिरैश्वर्यम्। तन्त्रावापेन 'तन्त्रं स्वराष्ट्रचिन्ता स्यादावापस्त्वरि-चिन्तनम्' इति। सन्तीति क्रियापदम्। हीति निश्चये। त इति। तवेत्यर्थः। पादातं पत्तिसंहतिः। कोशगृहाणि भाण्डागाराणि। कोष्ठा-गाराणि धान्यसंचयगृहाणि, 'पुंसि कोष्ठोऽन्तर्जठरं कुसूलोऽन्तर्गृहं तथा' इति कोशः। अन्यार्जितं परकीयम्।

(१७) जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चान्यहानि। तत्रापि भोगयोग्यमल्पाल्पं वयःखण्डम्। अपण्डिताः पुनरर्जयन्त एव ध्वंसन्ते। नार्जितस्य वस्तुनो लवमप्यास्वादयितुमीहन्ते। किं बहुना, राज्यभारं भारक्षमेष्वन्तरङ्गेषु भक्तिमत्सु समर्प्य, अप्सरःप्रतिरूपाभिरन्तःपुरिकाभी रममाणो गीतसंगीतपान-गोष्ठीश्च यथर्तु बध्नन्यथार्हं कुरु शरीरलाभम्' इति पञ्चाङ्गी-मृष्टभूमिरञ्जलिचुम्बितचूडश्चिरमशेत। प्राहसीच्च प्रीतिफुल्ल-लोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः। जननाथश्च सस्मितम्—'उत्तिष्ठ, ननु हितोपदेशाद्गुरवो भवन्तः। किमिति गुरुत्वविपरीतमनुष्ठि-तम्?' इति तमुत्थाप्य क्रीडानिर्भरमतिष्ठत्।

(१७) निश्चय ही जन्मधारियों का जीवन चार-पाँच दिन है। उसमें भी वह आयु का भाग, जो (विषयों) के भोग के योग्य है, बहुत थोड़ा है। वे मूर्ख हैं, जो धन कमाते-कमाते ढल जाते हैं और कमाये हुए धन का अंश मात्र भी भोगना नहीं चाहते। अधिक क्या

कहूँ—भार उठाने में समर्थ, विश्वसनीय, श्रद्धालु (मंत्रियों) के राज्य का भार सौंप कर, अप्सराओं जैसी (सुन्दर) स्त्रियों से रमण (भोग) करते हुए, ऋतु (मौसम) के अनुसार गीतसभा, संगीत-सभा, और (मदिरा) पान की सभाओं का आनन्द लूटते हुए, अधिक से अधिक इस (नश्वर) शरीर का लाभ उठाओ' ऐसा कह कर अपने पाँचों अंगों [घुटने (२) बाहें (२) मस्तक (१)] से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए (प्रणाम करके), अञ्जलि (जुड़े हुए हाथों) को सिर पर रखे हुए, देर तक लेटा रहा। (उसे देख कर) प्रसन्नता से खिले हुए नेत्रों वाली रनवास की स्त्रियाँ खूब हँसीं। प्रजा का स्वामी मुस्कराते हुए "उठो, निश्चय ही हित (भलाई) का उपदेश देने से आप (हमारे) गुरु हैं। यह क्या गुरु के (आचरण) से उल्टा व्यवहार (आपने) किया ?" ऐसा कह कर उसे (भूमि से) उठा कर फिर खूब मनोरंजन में लग गया।

(१७) वयःखण्डमायुष्यलेशम्। अपण्डिता नीचजनाः। अन्तःपुरिकाभिः स्त्रीभिः। यथार्हम्। वीप्सायां यथाशब्दः। पञ्चाङ्गी पञ्चानामङ्गानां समाहारस्तथा 'द्विगोः' (पा. ४।१।२१) इति ङीप्। 'जानू बाहुद्वयं मूर्धा पञ्चाङ्गम्' इत्युत्पलिनी। अञ्जलिना चुम्बितः स्पृष्टश्चूडो मौलिर्येनेति तथा।

(१८) अथैषु दिनेषु भूयोभूयः प्रस्तुतेऽर्थे प्रेर्यमाणो मन्त्रिवृद्धेन वचसाभ्युपेत्य मनसैवाचित्तज्ञ इत्यवज्ञातवान्। अथैवं मन्त्रिणो मनस्यभूत—"अहो मे मोहाद्बालिश्यम्। अरुचितेऽर्थे चोदयन्नर्थी-वाक्षिगतोऽहमस्य हास्यो जातः। स्पष्टमस्य चेष्टानामायथा-पूर्व्यम्। तथा हि—न मां स्निग्धं पश्यति, न स्मितपूर्वं भाषते, न रहस्यानि विवृणोति, न हस्ते स्पृशति, न व्यसनेष्वनुकम्पते, नोत्सवेष्वनुगृह्णाति, न विलोभनवस्तूनि प्रेषयति, न मत्सुकृतानि

प्रगणयति, न मे गृहवार्तां पृच्छति, न मत्पक्ष्यान्प्रत्यवेक्षते, न मामासन्नकार्येष्वभ्यन्तरीकरोति, न मामन्तःपुरं प्रवेशयति ।

(१८) इसके बाद राजा बूढ़े मंत्री के द्वारा कर्तव्य करने के लिए प्रतिदिन बार-बार प्रेरित किये जाने पर भी, केवल वाणी से तो उसकी बात मान कर, परन्तु मन से 'यह मेरे मन की बात नहीं समझता' ऐसा विचार कर, उसकी उपेक्षा करता था। ऐसा होने पर मंत्री के मन में ऐसा (विचार) आया—'ओह ! मोह के कारण मेरी मूर्खता ! इस (राजा) के मन को न भाने वाले कार्यों की ओर इसे प्रेरित करता हुआ मैं, आँखों में खटकने वाले याचक की तरह, इसकी हँसी का विषय बना। यह स्पष्ट है कि इसका मेरे प्रति व्यवहार पहले जैसा नहीं रहा है। जैसे—मुझे स्नेहभरी दृष्टि से नहीं देखता। मुस्कराहट के साथ नहीं बोलता, गुप्त बातों को (मुझ पर विश्वासकर के) प्रकट नहीं करता। (प्रेम से) मुझसे हाथ नहीं मिलाता, मेरे दुःख के दिनों में मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं करता, उत्सवों में मुझ पर अपना अनुग्रह नहीं दिखाता, मुझे आकर्षक वस्तुएँ (उपहार-रूप में) नहीं भेजता, मेरे अच्छे कार्यों की परवाह नहीं करता, मेरे परिवार की (कुशल-क्षेम) की बात नहीं पूछता, मेरे पक्ष के लोगों को आदर से नहीं देखता, अपने गुप्त कार्यों में मुझे अपने विश्वास में नहीं लाता, मुझे रनवास में नहीं भिजवाता।

(१८) अथेति। भूयोभूयो वारंवारम्। प्रस्तुतेऽर्थे प्रकृतकार्ये। मन्त्रिणः प्रधानस्य। अक्षिगतो द्वेष्यः, 'द्वेष्योऽक्षिगत उच्यते' इति हलायुधः। विलोभनवस्तु दानवस्तु। मत्पक्ष्यान्मदीयपक्षवर्तिनः।

(१९) अपि च, मामनर्हेषु कर्मसु नियुङ्क्ते, मदासनमन्यैरवष्टभ्यमानमनुजानाति, मद्वैरिषु विश्रम्भं दर्शयति, मदुक्तस्योत्तरं न ददाति, मत्समानदोषान्विगर्हयति, मर्मणि मामुपहसति, स्वमतमपि मया वर्ण्यमानं प्रतिक्षिपति, महार्हाणि वस्तूनि मत्प्रहि-

तानि नाभिनन्दति, नयज्ञानां स्खलितानि मत्समक्षं मूर्खैरुद्घोषयति ।

(१९) परन्तु इसके विपरीत, मुझे (मेरे लिए) अनुचित कार्यों में लगाता है, दूसरों के द्वारा मेरा आसन (कुर्सी) ग्रहण कर लेने पर बुरा नहीं मानता, मेरे शत्रुओं पर विश्वास दिखाता है, मेरी कही (वात) का उत्तर नहीं देता । मेरे समान दोष वालों को बुरा वताता है। मेरे मर्म (हृदय के कोमल स्थान) को दुखाने वाली हँसी से मुझ पर हँसता है । उसका अपना मत भी, यदि मेरे द्वारा वताया जाय, तो वह उसे काट देता है। मेरे द्वारा भेजी गई वहुत कीमती वस्तुओं को प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करता। राजनीतिज्ञों की भूलों को मेरे सामने मूर्खों के द्वारा प्रकट करवाता है ।

(१९) अवष्टभ्यमानं आक्रम्यमाणम् । विश्रम्भं विश्वासम् । प्रतिक्षिपति अवगणयति । महार्हाण्यमौल्यानि । नयज्ञानां नीतिविदाम् ।

(२०) सत्यमाह चाणक्यः—'चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्था अपि प्रियाः स्युः। दक्षिणा अपि तद्भावबहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः' इति । तथापि का गतिः ? । अवनीतोऽपि न परित्याज्यः पितृपैतामहैरस्मादृशैरयमधिपतिः । अपरित्यजन्तोऽपि कमुपकारमश्रूयमाणवाचः कुर्मः ? सर्वथा नयज्ञस्य वसन्तभानोरश्मकेन्द्रस्य हस्ते राज्यमिदं पतितम् । अपि नामापदो भाविन्यः प्रकृतिस्थमेनमापादयेयुः । अनर्थेषु सुलभव्यलीकेषु क्वचिदुत्पन्नोऽपि द्वेषः सद्वृत्तमस्मै न रोचयेत् । भवतु, भविता तावदनर्थः । स्तम्भितपिशुनजिह्वो यथाकथंचिदभ्रष्टपदस्तिष्ठेयम्' इति ।

(२०) चाणक्य ने ठीक कहा है—बुरे लोग भी यदि वे (राजा की)

चित्तवृत्ति को जान कर (अपने को वैसा ही ढाल लेते हैं) तो उसके प्यारे बन जाते हैं। दूसरी ओर अच्छे लोग भी, यदि वे राजा की चित्तवृत्ति को नहीं समझते, तो उसके बुरे बन जाते हैं। फिर भी क्या किया जाय! चाहे यह राजा कितना भी उद्दण्ड (अशिष्ट) क्यों न हो, फिर भी मैं तो इसके पिता-दादा तक की सेवा करता आया हूँ, अतः इसे छोड़ा नहीं जा सकता। चाहे मैं इसे न भी छोड़ूँ, फिर भी मैं इसका क्या भला कर सकता हूँ जब कि यह मेरी बात तक नहीं सुनता। निश्चय ही राजनीति के ज्ञाता, अश्मक (देश) के इन्द्र (राजा) के हाथों में यह राज्य जाने वाला है। संभव है, आने वाली विपतियाँ इसका दिमाग ठीक कर दें। विपत्तियाँ आने पर चाहे बुराइयों के प्रति इसके मन में घृणा हो जाय, पर फिर भी शायद इसे अच्छे आचार-व्यवहार (सुधार) का जीवन अच्छा न लगे। जो कुछ भी हो, विपत्ति सिर पर पड़ने वाली ही है। मैं शिक्षा देने के लिए अपना मुँह न खोल कर, जैसे-तैसे अपने पद को सँभाले रहूँगा।

(२०) चाणक्यो नीतिशास्त्रकर्ता। चित्तज्ञानमनुवर्तन्ते ते तथा। दक्षिणाः सरला अपि। तस्य चित्तस्य भावस्तद्भावस्तद्बहिष्कृताः। द्वेष्या वैरिणः। तथापीति। अविनीतोऽप्यत्युद्धतोऽपि। अपरित्यजन्त आश्रयन्तः। कमुपकारं प्रयोजनादिकम्। कर्मचयमित्यध्याहारः। किंविधा अश्रूयमाणवाचः। 'व्यलीकमपराधः स्यात्' इत्यमरः। स्तम्भिता स्तम्भं प्रापिता। 'पिशुनः सूचकः खलः' इति कोशः। अभ्रष्टपदोऽगताधिकारः।

(२१) एवंगते मन्त्रिणि, राजनि च कामवृत्ते, चन्द्रपालितो नामाश्मकेन्द्रामात्यस्येन्द्रपालितस्य सूनुरसद्वृत्तः पितृनिर्वासितो नाम भूत्वा, बहुभिश्चारणगणैर्बह्वीभिरनल्पकौशलाभिः शिल्पकारिणीभिरनेकच्छद्मांकिकरैश्च गूढपुरुषैः परिवृतोऽभ्येत्य विविधाभिः क्रीडाभिर्विहारभद्रमात्मसादकरोत्। अमुना चैव संक्रमेण राजन्यास्पदमलभत। लब्धरन्ध्रश्च स यद्यद्व्यसनमारभते तत्तथेत्यवर्णयत्।

(२१) मंत्री के मन की दशा ऐसी होने पर और राजा के विषयों के भोग में लिप्त रहने पर, अश्मक देश के राजा के मंत्री इन्द्रपालित के पुत्र ने जिसका चरित्र भ्रष्ट था, पिता द्वारा देशनिकाले का झूठमूठ बहाना करके बहुत-से गायकों के समूह, और अनेक कलाओं में कुशल बहुत-सी नर्तकियों और बहुत-से भेष बनाये हुए सेवकों और गुप्त दूतों के साथ वहाँ पहुँच कर, तरह-तरह की क्रीड़ाओं से विहारभद्र को अपने हाथों में कर लिया। नीचे लिखे व्यवहार से शीघ्र ही राजा पर अपना सिक्का जमा लिया। जिस-जिस व्यसन में राजा का मन रमता, अवसर पाकर वह उस-उस व्यसन के बारे में 'यह उचित है' ऐसा कहता—जैसे—

(२१) चारणगणैर्गायकसमूहैः, 'चारणो गायकः समौ' इति वैजयन्ती। शिल्पकारिणीभिश्चित्रकारिणीभिः। व्यसनम् 'यस्माद्धि व्यस्यति श्रेयस्ततो व्यसनमुच्यते।' इति कामन्दकः। 'स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यार्थदूषणे। दण्डपारुष्यमित्येतन्महाव्यसनसप्तकम् ॥' इति वैजयन्ती।

(२२) देव ! यथा मृगया ह्युपकारिकी न तथान्यत्। अत्र हि तु व्यायामोत्कर्षादापत्सूपकर्ता दीर्घाध्वलङ्घनक्षमो जङ्घाजवः, कफापचयादारोग्यैकमूलमाशयाग्निदीप्तिः, मेदोपकर्षादङ्गानां स्थैर्यकार्कश्यातिलाघवादीनि, शीतोष्णवातवर्षक्षुत्पिपासासहत्वम्, सत्त्वानामवस्थान्तरेषु चित्तचेष्टितज्ञानम्, हरिणगवलगवयादिवधेन सस्यलोपप्रतिक्रिया, वृकव्याघ्रादिघातेन स्थलपथशल्यशोधनम्, शैलाटवीप्रदेशानां विविधकर्मक्षमाणामालोचनम्, आटविकवर्गविश्रम्भणम्, उत्साहशक्तिसंधुक्षणेन प्रत्यनीकवित्रासनमिति बहुतमा गुणाः।

(२२) हे स्वामी, शिकार खेलना (शरीर के) लिए जितना अच्छा है, उतना और कोई (खेल) नहीं; क्योंकि यह श्रेष्ठ व्यायाम होने से

टाँगों में फुर्ती भरता है जिससे लम्बा मार्ग लाँघने की शक्ति आती है और इस प्रकार यह (शिकार खेलना) विपत्ति के समय बहुत उपकार करने वाला है। क्योंकि इससे कफ का नाश होने के कारण आमाशय (पेट) की आग (भूख) बढ़ जाती है, अतः यह आरोग्य का मूल है। इसके कारण चर्बी घट जाने से, अंग दृढ़, कठोर और हल्के हो जाते हैं। इसके कारण मनुष्य में सर्दी, गर्मी, वायु, वर्षा, भूख और प्यास सहने की शक्ति आती है। इसके द्वारा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, पशुओं की मनोवृत्ति और चेष्टाओं का ज्ञान होता हैं। इसके कारण हरिण, जंगली भैंसें, और गवय (जंगली साँड) के वध से घास के विनाश को रोका जा सकता है, भेड़िये और बाघ आदि को मारने से भूमि पर बने मार्गों की रुकावटें दूर होती हैं। अनेक प्रकार के उद्योगों तथा कार्यों के लिए उपयुक्त पर्वत और जंगल देखने में आते हैं। जंगली लोगों के मन में विश्वास की भावना उत्पन्न होती है, अपनी (सेना के अधिकारियों के मन में) उत्साह की शक्ति फूँक कर शत्रु को भयभीत किया जा सकता है। इस प्रकार शिकार खेलने के बहुत-से गुण हैं।

(२२) मृगया पापर्द्धिः। औपकारिण्युपकारायार्हा सा तथा। व्यायामो हिण्डनम्। कफः श्लेष्मा। मेदोपकर्षात् मेदो धातुः। 'मेदोवृद्ध्यभावादङ्गानि लघूनि भवन्ति' इति वैद्यकम्। वर्षो वृष्टिः। क्षुत् क्षुधा। पिपासा तृषा। सत्त्वानां प्राणिनाम्। चित्तस्य मनसः चेष्टितस्य तत्क्रियायाश्च। गवलोऽरण्यमहिषः, 'रजस्वलो वाहरिपुर्लुलायः' इत्यारभ्य 'रक्ताक्षः कासरो हंसकालीतनयकालिकौ' इत्यग्रतः 'अरण्यजोऽस्मिन्गवयः' इत्यभिधानचिन्तामणिवचनात्। गवयो गोसदृशः पशुः, 'गवयः स्याद्वनगवो गोसदृशोऽश्ववारणः' इत्यभिधानचिन्तामणिः। वृक ईहामृगः, 'कोक ईहामृगो वृकः' इत्यमरः। भाषया 'विग' इति प्रसिद्धः। शैलाटवी पर्वतवनम्। अटव्यां चरन्ति ते आटविकाः। विश्रम्भणं विश्वासोत्पादनम्।

(२३) द्यूतेऽपि द्रव्यराशेस्तृणवत्त्यागादनुपमानमाशयौदा-

र्यम्, जयपराजयानवस्थानाद्धर्षविषादयोरविधेयत्वम्, पौरुषैक-निमित्तस्यामर्षस्य वृद्धिः, अक्षहस्तभूम्यादिगोचराणामत्यन्तदुरुप-लक्ष्याणां, कूटकर्मणामुपलक्षणादनन्तबुद्धिनैपुण्यम्, एकविषयोप-संहाराच्चित्तस्यातिचित्रमैकाग्र्यम्, अध्यवसायसहचरेषु साहसे-ष्वतिरतिः, अतिकर्कशपुरुषप्रतिसंसर्गादनन्यधर्षणीयता, मानाव-धारणम्, अकृपणं च शरीरयापनमिति ।

(२३) जूए में भी धन के ढेर को तिनके के समान परित्याग करने के कारण, हृदय की अनुपम दानशीलता (प्रकट होती है), जीत और हार के अस्थिर बने रहने के कारण, सुख और दुःख में (चित्तवृत्ति) एक-सी बनी रहती है, इससे अमर्ष (अपमान न सहना) बढ़ता है जो पुरुषत्व का एकमात्र कारण है, पासों को हाथ में रखना और भूमि पर उनकी चाल देखना आदि, भाँपने में अत्यन्त कठिन, (जूए के) दाँव-पेंचों को जानने में बुद्धि की अनन्त निपुणता (बढ़ती है), एक विषय पर ही मन के लगे रहने के कारण अत्यन्त अद्भुत मन की एकाग्रता होती है, दृढ़ उद्योग से साध्य साहसिक कार्यों में अत्यन्त प्रेम (हो जाता है)। अत्यन्त कठोर पुरुषों से संपर्क होने के कारण, मनुष्य दूसरे के दबाव में नहीं आता। इसके अतिरिक्त स्वाभिमान का निश्चय होता है, और अदीन होकर (बड़े आनन्द से) जीवन बीतता है (जीवन-यात्रा चलती है)।

(२३) द्यूतेऽपीति । आशयौदार्यं चित्तौदार्यम् । कूटकर्मणाम् कपटकर्मणाम् । एकविषयोपसंहारात्तदेकवृत्तित्वात् । चित्तस्य मनसः ऐकाग्र्यमेकाग्रस्य भावस्तथा । अध्यवसाय उद्योगः । साहसमद्भुतकर्म । अतिरतिः प्रीतिः । धर्षणीयताऽभिभवनीयत्वम् ।

(२४) उत्तमाङ्गनोपभोगेऽप्यर्थधर्मयोः सफलीकरणम्, पुष्कलः पुरुषाभिमानः, भावज्ञानकौशलम्, अलोभक्लिष्टमा-चेष्टितम्, अखिलासु कलासु वैचक्षण्यम्, अलब्धोपलब्धिलब्धा-

नुरक्षणरक्षितोपभोगभुक्तानुसंधानरुष्टानुनयादिष्वजस्रमभ्युपाय-रचनया बुद्धिवाचोः पाटवम्, उत्कृष्टशरीरसंस्कारात्सुभगवेष-तया लोकसंभावनीयता, परं सुहृत्प्रियत्वम्, गरीयसी परिजन-व्यपेक्षा, स्मितपूर्वाभिभाषित्वम्, उद्रिक्तसत्त्वता, दाक्षिण्यानुवर्तनम्, अपत्योत्पादनेनोभयलोकश्रेयस्करत्वमिति ।

(२४) सुन्दर स्त्रियों के भोग में भी अर्थ और धर्म सफल होते हैं, इससे पुरुषत्व का श्रेष्ठ अभिमान प्रकट होता है, मन के भावों को समझने की कुशलता आती है। जो (स्त्रियाँ) प्रेमी की पहुँच से परे हैं, उन्हें प्राप्त करने में, प्राप्त (स्त्रियों) की रक्षा करने में, रक्षित (स्त्रियों) का भोग करने में, भुक्त (स्त्रियों) के भोग को स्मरण करने में, रूठी हुई (स्त्रियों) को मनाने आदि (कार्यों) में, नित्य नए उपाय ढूंढ़ने से बुद्धि और वाणी में पटुता आती है। शरीर के उत्तम शृङ्गार से, वेश के सुन्दर (आकर्षक) होने के कारण संसार में आदर (प्राप्त होता है), मित्रों के लिए अत्यन्त प्रेम होता है, सेवकों के प्रति ध्यान बढ़ जाता है, मुस्कराहट के साथ बातचीत की जाती है, शक्ति उभरी रहती है, व्यवहार में शिष्टता आ जाती है, और सबसे बढ़ कर बात यह है कि संतान को उत्पन्न करने से इस लोक तथा परलोक में कल्याण होता है।

(२४) उत्तमाङ्गनोपभोग इति। पुष्कलः। श्रेयान् 'श्रेयान् श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात्' इत्यमरः। भावश्चित्ताभिप्रायः। ज्ञानं ग्रन्थादिविषयम्। विचक्षणस्य भावो वैचक्षण्यम्। अलब्धोपलब्धिरप्राप्तप्राप्तिः। लब्धानुरक्षणं प्राप्तस्य पालनम्। भुक्तानुसंधानं भुक्तस्मृतिः। रुष्टस्यानुनयः, क्रुद्धस्य समाधानम्। बुद्धिवाचोर्मतिवचनयोः। पाटवं पटुत्वम्। उत्कृष्टो यः शरीरसंस्कारः।

(२५) पानेऽपि नानाविधरोगभङ्गपटीयसामासवाना-मासेवनात्स्पृहणीयवयोऽवस्थापनम्, अहंकारप्रकर्षादशेषदुःख-

तिरस्करणम्, अङ्गजरागदीपनादङ्गनोपभोगशक्तिसंधुक्षणम् अपराधप्रमार्जनान्मनःशल्योन्मार्जनम्, अशाठ्यशंसिभिरनर्गल- प्रलापैर्विश्वासोपबृंहणम्, मत्सराननुबन्धादानन्दैकतानता, शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां सातत्येनानुभवः, संविभागशीलतया सुहृद्वर्गसंवर्गणम्, अनुपमानमङ्गलावण्यम्, अनुत्तराणि विलसितानि, भयार्तिहरणाच्च साङ्ग्रामिकत्वमिति।

(२५) (मदिरा)पान में भी, तरह-तरह के रोगों के नाश में समर्थ आसवों(शरावों) के सेवन से, लुभावनी युवावस्था (जवानी) बनी रहती है, अहङ्कार के बढ़े- चढ़े रहने के कारण सब दुःखों के तिरस्कार (की भावना आती है)। काम और राग के बढ़ने से स्त्रियों के भोग की शक्ति भड़क उठती है, किये हुए अपराधों के पुँछ जाने से (भूल जाने से), मन का काँटा निकल जाता है, अशाठ्य (कपट का अभाव या मन के भेद) प्रकट करने वाले मनचाहे बे-रोकटोक वार्तालाप से विश्वास (की भावना) में वृद्धि होती है, मत्सर (डाह, जलन) के न होने से मन आनन्द में पूरी तरह लीन रहता है। शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का लगातार अनुभव होता है, संविभाग (घर- आये पियक्कड़ों को मदिरा भेंट करने का) स्वभाव बन जाने से, मित्रवर्ग में वृद्धि होती है। अङ्गों का अनुपम सौन्दर्य बढ़ता है, एक से एक बढ़ कर विलास उपलब्ध होते हैं। भय और पीड़ा का भाव न रहने से (मनुष्य) युद्ध के योग्य बन जाता है।

(२५) पानेऽपीति। आसवानां मद्यानाम्। अङ्गजो मदनः। राग इच्छा। दीपनं वृद्धिः। अङ्गनाः स्त्रियः। संधुक्षणमुद्द्योतनम्। अनर्गला यथेष्टा ये प्रलापा अनर्थकवचनानि तैः। मत्सरस्याननुबन्धादधारणात्। एकतानता, तत्परतेत्यर्थः। 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः। सततस्य भावः सातत्यम्। संवर्गणं संयोजनम्। अनुपमानमसदृशम्। सङ्ग्रामे साधु साङ्ग्रामिकम्।

(२६) वाक्पारुष्यं दण्डो दारुणो दूषणानि चार्थानामेव यथावकाशमौपकारिकाणि। न हि मुनिरिव नरपतिरुपशमरतिरभिभवितुमरिकुलमलम् अवलम्बितुं च लोकतन्त्रम्' इति। असावपि गुरूपदेशमिवात्यादरेण तस्य मतमन्ववर्तत। तच्छीलानुसारिण्यश्च प्रकृतयो विशृङ्खलमसेवन्त व्यसनानि। सर्वश्च समानदोषतया न कस्यचिच्छिद्रान्वेषणायायतिष्ट। समानभर्तृप्रकृतयस्तन्त्राध्यक्षाः स्वानि कर्मफलान्यभक्षयन्।

(२६) कठोर वचनों का व्यवहार, कठोर दण्ड देना, धन का दण्ड लगाना, (ये सब बातें) अवसर आने पर राजा का उपकार करती हैं। कोई भी राजा, मुनि के समान (अपने) रतिभाव को शान्त करके, न तो अपने शत्रुओं को दबाने में समर्थ हो सकता है और न ही राज्य-व्यवस्था को सँभाल सकता है। उस (अनन्तवर्मा) ने भी गुरु के उपदेश के समान अत्यधिक आदर से उसके मत का अनुसरण किया। उस (राजा) के शील (व्यवहार) का अनुकरण करने वाली प्रजा भी बेरोकटोक व्यसनों का सेवन करने लगी। सब लोगों के एक-जैसे दोषों में फँसे होने के कारण, कोई किसी के छिद्र (अपराध) को ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। अपने स्वामी के-से स्वभाव वाले तन्त्राध्यक्ष (विभागों के अध्यक्ष अथवा सेनापति) अपने कर्मों का अधिकार (फल) आप ही उड़ा लेते थे।

(२६) परुषस्य भावः पारुष्यम्। औपकारिकाण्युपकारक्षमाणि। उपशमः शान्ति। लोकतन्त्रम् 'तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात्कारणे च परिच्छदे। शास्त्रे प्रधाने सिद्धान्ते तन्तुवाये गदोत्तमे। तत्त्वादिसाधनोपाये श्रुतिशाखान्तरेऽपि च' इति विश्वः। प्रकृतयः प्रजाः। विशृङ्खलं बन्धशून्यम्। छिद्रान्वेषणाय, दोषगवेषणायेत्यर्थः। तन्त्राध्यक्षाः सेनापतयः।

(२७) ततः क्रमादायद्वाराणि व्यशीर्यन्त। व्यय-

मुखानि विटवैधेयतया विभोरहरहर्व्ययवर्धन्त। सामन्तपौ जानपदमुख्याश्च समानशीलतयोपारूढविश्रम्भेण राज्ञा सजान पानगोष्ठीष्वभ्यन्तरीकृताः। स्वं स्वमाचारमत्यचारिषुः। तदङ्ग नासु चानेकापदेशपूर्वमपाचरन्नरेन्द्रः। तदन्तःपुरेषु चाभि भिन्नवृत्तेषु मन्दत्रासा बहुसुखैरवर्तन्त। सर्वश्च कुलाङ्गनाजन पांसुलजनभङ्गिभाषणरतो भग्नचारित्रयन्त्रणस्तृणायापि गणयित्वा भर्तॄन्धातृगणमन्त्रणान्यशृणोत्। तन्मूलाश्च कलह सामर्षाणामुदभवन्। अहन्यन्त दुर्बला बलिभिः। अपहृतानि धनवतां धनानि तस्करादिभिः। अपहृतपरिभूतयः प्रहताश्च पातकपथाः। हतबान्धवा हृतवित्ता वधबन्धातुराश्च मुक्त कण्ठमाक्रोशन्नश्रुकण्ठ्यः प्रजाः। दण्डश्चायथाप्रणीतो भय- क्रोधावजनयत्। कृशकुटुम्बेषु लोभः पदमधत्त। विमानिताश्च तेजस्विनो मानेनादह्यन्त। तेषु तेषु चाकृत्येषु प्रासरन्परोपजापाः

(२७) इसके बाद क्रम से (राजस्व की) आय के द्वार टूट ग और राजा के विटों (धूर्तों) के हाथों में खेलने के कारण, दि प्रतिदिन व्यय के मुख (साधन) बढ़ते गए। (राजा के) समा शील (आचार-व्यवहार) होने के कारण, अतएव (उन पर) ब हुए विश्वास वाले राजा के द्वारा मद्यपानशालाओं में पत्नियों के सा विश्वास के साथ बुलाये गए सामन्तों तथा नगर और राज्य मुख्याधिकारियों ने, अपने-अपने कर्तव्यों का पालन छोड़ दिया; रा भी तरह-तरह के बहानों से उनकी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करता था ये (सामन्त, नगर और राज्य के मुख्याधिकारी) भी निर्भय होकर, रा की चरित्र-भ्रष्ट रानियों के साथ बहुत सुख से रहते थे। सब कुलीन स्त्रियाँ, पांसुल (पतित) लोगों के वक्र वचनों का आनन्द लूटती हुईं, अप चरित्र के बन्धन को तोड़ कर, अपने पतियों को तिनके के बराबर भी

समझ कर अपने छिपे प्रेमियों की प्रेम की चालों को सुनती थीं। इस सबके परिणामस्वरूप, क्रोध भरे लोगों में झगड़े उत्पन्न हुए। दुर्बल लोग बलवानों के द्वारा मारे गए। चोर आदि ने धनवानों का धन लूट लिया। (लोग) पाप के मार्ग पर खूब चलने लगे क्योंकि उसको बन्द करने के सब उपाय दूर हो गए थे। राज्य के लोग, जिनके बान्धव मारे गए थे, जिनका धन लूट लिया गया था, और जो हत्या और कैद से डरे हुए थे, गले में आँसू भरे हुए जोर से चिल्लाते थे। दण्ड के ठीक-ठीक न दिये जाने के कारण प्रजा में भय और क्रोध बढ़ा। निर्धन परिवारों में लोभ ने पैर जमा लिया। तेजस्वी व्यक्ति अपमानित होने पर, अपमान के कारण जलने लगे। शत्रु की फोड़ने वाली चालें अनेक कुकर्मों में अपना प्रभाव दिखाने लगीं।

(२७) आयद्वाराण्यागमोपायाः। व्ययमुखानि व्ययप्रभृतीनि। विटस्य षिङ्गस्य। वैधेयतया बालिशतया, 'मूर्खवैधेयबालिशः' इत्यमरः। 'विधेयतया' इति पाठे विनयग्राहितया, 'विधेयो विनयग्राही' इत्यमरः। अहरहः प्रतिदिवसम्। सजानयः सस्त्रीकाः। पानगोष्ठी मद्यशालाः अत्यचारिषुरतिक्रमयामासुः। मन्दत्रासाः, निर्भया इत्यर्थः। धातॄणां गणा जारसमूहाः, 'धाता जारे विधातरि' इत्यजयः। अश्रुकण्ठ्यः, गद्गदयुक्ता इत्यर्थः। परोपजापा शत्रुप्रयुक्ता भेदाः।

(२८) तदा च मृगयुवेषमृगबाहुल्यवर्णनेनाद्रिद्रोणीरन्तपसारमार्गाः शुष्कतृणवंशगुल्माः प्रवेश्य द्वारतोऽग्निविसर्गैः, व्याघ्रादिवधे प्रोत्साह्य तन्मुखपातनैः, इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूरहारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः, तृणगुल्मगूढच्छन्नतटप्रदरपातहेतुभिर्विषमार्गप्रधावनैः, विषमुखीभिः क्षुरिकाभिश्चरणकण्टकोद्धरणैः, विष्वग्विसरविच्छिन्नानुयातृतयैकाकीकृतानां यथेष्टघातनैः, मृगदेहापराद्धैर्निमेषमोक्षणैः, सपणबन्धमधिरुह्या-

दिशृङ्गाणि दुरधिरोहाण्यनन्यलक्ष्यैः प्रभ्रंशनैः, आटविकच्छद्मना विपिनेषु विरलसैनिकानां प्रतिरोधनैः, अक्षद्यूतपक्षियुद्धयात्रोत्सवादिसंकुलेषु बलवदनुप्रवेशनैः, इतरेषां हिंसोत्पादनैः,

(२८) तब (अश्मक के राजा द्वारा भेजे हुए दूतों ने), शिकारी की वेशभूषा और (शिकार) पशुओं की अधिकता का लालच देकर, लोगों को, पहाड़ों की उन पगडंडियों में, जिनसे बाहर निकलने का मार्ग नहीं है और जो सूखे तिनकों और बाँस के गुल्मों (झाड़ियों) से भरी हैं, प्रवेश करने के लिए प्रेरित करके और फिर प्रवेश द्वार पर ही आग लगाने से, वाघ आदि का (शिकार खेलने के लिए) लोगों को उत्साहित करके फिर उन (वाघ आदि) के मुख में उन्हें गिराने से (अर्थात् लोगों को हिंस्र पशुओं का भोजना बना-बना कर), प्यास बुझाने के लिए इष्ट (उत्तम अथवा अभीप्सित) जल वाले कूप के पास पहुँचने के वहाने से, लोगों को बहुत दूर तक लाकर और इस प्रकार प्राणों को सुखा देने वाली उनकी भूख और प्यास बढ़ाने से, फिर घास और झाड़ियों से छिपे और ढके (ऊँचे) तटों से तथा (नीचे) प्रदरों (गड्ढ़ों) में गिराने का कारण वने हुए ऊबड़-खावड़ मार्गों पर (लोगों को) भगाने से, जहरीले मुख वाली छुरियों से पैरों में गड़े काँटे निकालने के (बहानों से), सब ओर भागने से अपने अनुयायियों से बिछुड़ जाने के कारण अकेले लोगों को इच्छानुसार (आसानी से) मारने से, मृग के शरीर का लक्ष्य चूक जाने के वहाने से तीरों के प्रहार से (अर्थात् यह बहाना बना कर कि मृग का निशाना चूक कर गल्ती से तीर लोगों पर छूट गया), शर्त के साथ, (लोगों को) पर्वत के ऊँचे शिखरों पर, जिन पर चढ़ना बहुत कठिन है, चढ़ा कर, फिर जब कोई देख न रहा हो तो चुपके से उन्हें गिराने से, वनवासियों (जंगली भीलों) के बहाने से जंगलों में इक्के-दुक्के सैनिकों को पकड़ने से, पासे का जूआ, पक्षियों का युद्ध

तथा यात्रा के उत्सव आदि के अवसरों पर भीड़ से भरे स्थानों में बलपूर्वक लोगों को धकेल कर (इस प्रकार) दूसरों को चोट पहुँचाने से—

(२८) 'अद्रिद्रोणी स्यादापद्धतिः' इति वैजयन्ती। अनपसारमार्गा अनिर्याणमार्गाः। वंशगुल्मा वेणुगहनानि। अग्निविसर्गैरग्निदानैः। प्रोत्साह्य प्रेरयित्वा। तट उन्नतप्रदेशे। प्रदरो निम्नगो भागः। विषम-मार्गः कठिनमार्गः। क्षुरिकाः शस्त्रिकाः। विसरः समुदायः, 'समूहे निवहव्यूहसंदोहविसरव्रजाः' इत्यमरः। अनुयाताऽनुगामी। मृगदेहा-पराद्धैरपराद्धो लक्ष्यच्युतः।

(२९) गूढोत्पादितव्यलीकेभ्योऽप्रियाणि प्रकाशं लब्ध्वा साक्षिषु तद्विख्याप्याकीर्तिगुप्तिहेतुभिः पराक्रमैः, परकलत्रेषु सुहृत्त्वेनाभियोज्य जारान्भर्तॄनुभयं वा प्रहृत्य तत्साहसोपन्यासैः, योगनारीहारितानां संकेतेषु प्रागुपनिलीय पश्चादभिद्रुत्याकीर्तनीयैः प्रमापणैः, उप-प्रलोभ्य बिलप्रवेशेषु निधानखननेषु मन्त्रसाधनेषु च विघ्न-व्याजसाध्यैर्व्यापादनैः, मत्तगजाधिरोहणाय प्रेर्य प्रत्यपायनिवर्तनैः, व्यालहस्तिनं कोपयित्वा लक्ष्यीकृतमुख्यमण्डलेष्वक्रमपणैः, दायाद्यर्थे विवदमानानुपांशु हत्वा प्रतिपक्षेष्वयशःपातनैः, सामन्त-पुरजनपदेष्वयथावृत्तानप्रकाशमभिप्रहृत्य तद्वैरिनामघोषणैः, योगाङ्गनाभिरहर्निशमभिरमय्य राजयक्ष्मोत्पादनैः, वस्त्रा-भरणमाल्याङ्गरागादिषु रसविधानकौशलैः, चिकित्सामु-खेनामयोपबर्हणैरन्यैश्चाभ्युपायैरश्मकेन्द्रप्रयुक्तास्तीक्ष्णरसेन्द्रादयः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन्।

(२९) (पहले स्वयं) चोरी से लोगों को दुःख पहुँचा कर, फिर उन (दुःखी लोगों) से प्रकट रूप में उनके दुःख सुन कर तदनन्तर

साक्षियों को वे सब बातें बताकर (इस प्रकार) (अपनी) निन्दा के छिपाने में हेतु (सहायक) कार्यों से, जारों (स्त्री-लम्पटों) का दूसरों की पत्नियों के साथ मित्र के रूप में सम्बन्ध जोड़ कर, पतियों को या दोनों (प्रेमी-प्रेमिकाओं) को मार कर फिर उनके साहस के (कार्यों) का भेद खोलने से, योगनारियों (धोखे से मारने वाली) के द्वारा वश में किए गए लोगों के संकेत स्थानों (गुप्त मिलनस्थानों) में पहले चोरी से छिपकर फिर पीछे से अचानक आक्रमण करके, (इस प्रकार) उनकी कलङ्ककारी हत्याओं से, (लोगों को) गुफाओं में प्रवेश के लिए, (भूमि में छिपे) खजाने को खोदने के लिए और मंत्र की साधना के लिए ललचा कर फिर दुर्घटना आदि का बहाना बना कर की जाने वाली (उनकी) हत्याओं से, (लोगों को) मतवाले हाथी पर चढ़ने के लिए प्रेरित करके फिर उससे होने वाली चोट के बचाव के उपायों से पीछे हट जाने से, विनाश का लक्ष्य बनाए हुये मुख्य व्यक्तियों के मण्डल के प्रति दुष्ट हाथी को क्रुद्ध करके फिर स्वयं दूर भाग जाने से, दायाद (उत्तराधिकार) के लिए परस्पर झगड़ते हुए लोगों को चोरी से मार कर, फिर अपने प्रतिपक्ष (विरोधियों) के माथे उनकी हत्या का कलंक मढ़ने से, सामन्तों नागरिकों तथा ग्रामवासियों में दुराचारियों को चोरी-छिपे मार कर और फिर (इस हत्या के अपराध में) अपने शत्रुओं का नाम घोषित करने से, तरुण स्त्रियों के साथ रातदिन (निरन्तर) रमण (भोग) करवा कर, (लोगों में) राजयक्ष्मा (टी. बी.) रोग उत्पन्न करने से, वस्त्र, आभूषण, पुष्पमालाएँ और अङ्गराग (शरीर-शोभा) की वस्तुओं में विष मिला देने के चातुर्य से, चिकित्सा (इलाज) करने का बहाना बना कर (लोगों के) रोग को बढ़ा देने से और इसी प्रकार के दूसरे उपायों से अश्मकेन्द्र (अश्मक देशाधिपति) द्वारा भेजे गए, तीक्ष्ण (मर्म पर चोट करने वाले) रस (विष) खिला कर मारने वालों ने उत्कृष्ट वीरों का नाश करके अनन्तवर्मा की सेना को खोखला कर दिया।

(२९) इषुमोक्षणैर्वाणपातनैः। सपणबन्धं सनियमम्। अटवीमटन्ति ते आटविकाः, तन्मिषेण। व्यलीकं दुःखम्। जारानुपपतीन्। योगनारी 'योगो विस्रब्धघाती स्यात्' इति। प्राक्प्रथमम्। उपनिलीय, लीनतां प्राप्य्येत्यर्थः। प्रमापणैः, निवर्तनैर्हिंसोत्पादनैः। व्यालहस्तिनं दुष्टदन्तिनम्, 'व्यालो दुष्टगजः प्रोक्तः' इति हलायुधः। अक्रमपणैर-क्रमग्लहैः, 'पणो वराटमाने स्यान्मूल्ये कार्षापणे ग्लहे' इति विश्वः। उपांशु रहसि। घोषणैर्डिण्डिमैः। अहर्निशं रात्रिदिवम्। राजयक्ष्मा रोगविशेषः। रसविधानम् 'रसाधानं विषाषानं तीक्ष्णा मर्मणि घातकाः' इति वैजयन्ती। आमयो रोगः। उपबर्हणं वर्धनम्।

(३०) अथ वसन्तभानुर्भानुवर्माणं नाम वानवास्यं प्रोत्सा-ह्यानन्तवर्मणा व्यग्राहयत्। तत्परामृष्टराष्ट्रपर्यन्तश्चानन्तवर्मा तमभियोक्तुं बलसमुत्थानमकरोत्। सर्वसामन्तेभ्यश्चाश्मकेन्द्रः प्रागुपेत्यास्य प्रियतरोऽभूत्। अपरेऽपि सामन्ताः समगंसत। गत्वा चाभ्यर्णे नर्मदारोधसि न्यविशन्। तस्मिश्चावसरे महासामन्तस्य कुन्तलपतेरवन्तिदेवस्यात्मनाटकीयां क्ष्मातलोर्वशीं नाम चन्द्र-पालितादिभिरतिप्रशस्तनृत्यकौशलामाहूयानन्तवर्मा नृत्यमद्रा-क्षीत्। अतिरक्तश्च भुक्तवानिमां मधुमत्ताम्।

(३०) अब वसन्तभानु ने, वनवास के राजा भानुवर्मा को उकसा कर, उसे अनन्तवर्मा से लड़वा दिया। उस (वनवासाधिपति) के द्वारा राष्ट्र की सीमाओं पर आक्रमण हो जाने से, अनन्तवर्मा ने शत्रु का सामना करने के लिए (अपनी) सेना को एकत्रित किया। (इस अवसर पर) अश्मकाधि-पति सब सामन्तों से पहले आकर अनन्तवर्मा का बहुत प्यारा बन गया। दूसरे भी सामन्त आकर मिल गए। और (सब ने) जाकर पास ही नर्मदा नदी के किनारे पर डेरा डाल दिया (अर्थात् वहाँ छिप कर बैठ गए)। उसी अवसर पर अनन्तवर्मा ने कुन्तल देश के अधिपति अवन्तिदेव की

अपनी नर्तकी को, जिसका क्ष्मातलोर्वशी (पृथ्वी की उर्वशी अप्सरा) नाम था, और जिसके नृत्यकौशल की चन्द्रपाल आदि ने बड़ी प्रशंसा की थी, बुला कर उसका नृत्य देखा। और उस पर अत्यधिक आसक्त उस (अनन्तवर्मा) ने मदिरापान से मत्त उस नर्तकी का भोग किया।

(३०) अथेति। वानवास्यम् 'वानवास्यो वनप्रभुः' इति। प्रोत्साह्य, आनन्द्येत्यर्थः। अभियोक्तुं पराभवितुम्। समगंसत 'गम्लृ गतौ' समुपसर्गः। लुङ्। 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा. १।३।२९) इत्यात्मनेपदम्, मिलिता इत्यर्थः। अभ्यर्णे समीपे। आत्मनाटकीयां स्वीयनृत्याङ्गनाम्।

(३१) अश्मकेन्द्रस्तु कुन्तलपतिमेकान्ते समभ्यधत्त—'प्रमत्त एष राजा कलत्राणि नः परामृशति। कियत्यवज्ञा सोढव्या? मम शतमस्ति हस्तिनाम्, पञ्चशतानि च ते। तदावां संभूय मुरलेशं वीरसेनमृषीकेशमेकवीरं कोङ्कणपतिं कुमारगुप्तं नासिक्यनाथं च नागपालमुपजपाव। ते चावश्यमस्याविनयमसहमाना अस्मन्मतेनैवोपावर्तेरन्। अयं च वानवास्यः प्रियं मे मित्रम्। अमुनैनं दुर्विनीतमग्रतो व्यतिषक्तं पृष्ठतः प्राहरेम। कोशवाहनं च विभज्य गृह्णीमः' इति। हृष्टेन चामुनाभ्युपेते विंशतिं वरांशुकानाम्, पञ्चविंशतिं काञ्चनकुङ्कुमकम्बलानाम्, प्राभृतीकृत्याप्तमुखेन तैः सामन्तैः संमंत्र्य तानपि स्वमतावस्थापयत्।

(३१) तब अश्मकेन्द्र ने कुन्तलपति को एकान्त में कहा—'यह प्रमत्त (अभिमानी) राजा हमारी स्त्रियों को भ्रष्ट करता है। इतना अपमान कैसे सहें? मेरे पास सौ हाथी हैं, तेरे पास पाँच सौ। अतः हम दोनों मिल कर मुरल देश के अधिपति वीरसेन, ऋषीकेश

के शासक एकवीर, कोङ्कण देश के अधिपति कुमार-गुप्त, नासिक्य देश के स्वामी नागपाल के साथ साँठगाँठ करें। और वे सब अवश्य इस (अनन्तवर्मा) की उद्दण्डता को सहन न करते हुए हमारी हाँ में हाँ ही मिलायेंगे। यह वनवास (देश) का अधिपति मेरा प्यारा मित्र है। इसके द्वारा सामने से उलझाये हुए इस दुष्ट (अनन्तवर्मा) पर हम पीछे से आक्रमण करें और फिर हम (आपस में) कोश और वाहन (हाथी-घोड़े आदि) बाँट कर ले लें। प्रसन्न होकर इस (कुन्तलपति) के द्वारा इस षड्यंत्र को स्वीकार कर लेने पर, वसन्तभानु ने वीस (बहुमूल्य) उत्तम वस्त्र और कुंकुम (केसरी) रंग के सुनहरी जरी के प्रान्त वाले २५ शाल उपहार देकर, विश्वसनीय दूतों के द्वारा उन सामन्तों के साथ मंत्रणा करके, उन्हें भी अपने मत में कर लिया।

(३१) संभूय मिलित्वा। प्राभृतीकृत्योपायनीकृत्य।

(३२) उत्तरेद्युस्तेषां सामन्तानां वानवास्यस्य चानन्तवर्मा नयद्वेषादामिषत्वमगमत्। वसन्तभानुश्च 'तत्कोशवाहनमवशीर्णमात्माधिष्ठितमेव कृत्वा यथाबलं च विभज्य गृह्णीत। युष्मदनुज्ञया येन केनचिदंशेनाहं तुष्यामि' इति शाठ्यात्सर्वानुवर्ती, तेनैवामिषेण निमित्तीकृतेनोत्पादितकलहः सर्वसामन्तानध्वंसयत्। तदीयं च सर्वस्वं स्वयमेवाग्रसत्। वानवास्यं केनचिदंशेनानुगृह्य प्रत्यावृत्य सर्वमनन्तवर्मराज्यमात्मसादकरोत्।

(३२) अगले दिन दण्डनीति के प्रति द्वेष होने के कारण अनन्तवर्मा उन सामन्तों का और उस वनवास देशाधिपति का शिकार बन गया। फिर वसन्तभानु ने (भय के कारण) "इधर-उधर बिखरे हुए वाहनों तथा कोश को अपने अधिकार में ही करो और फिर (अपने-अपने) बल के अनुसार आपस में बाँट कर ले लो। मैं तो जो थोड़ा-बहुत भाग, आप अपनी अनुमति से दे देंगे, उसे पाकर ही सन्तुष्ट हूँ", इस प्रकार

की चाल से सबको प्रसन्न करके और फिर (परस्पर के कलह) के कारण-स्वरूप उसी (कोश-वाहन रूपी) आमिष (मांस के टुकड़े) से सब सामन्तों को आपस में लड़वा कर नष्ट कर दिया। और उस (अनन्तवर्मा) के सर्वस्व को स्वयं ही हड़प लिया। वनवासाधिपति को कुछ भाग प्रदान करने से अनुगृहीत करने के बाद, पीछे से प्रयाण करके अनन्तवर्मा के सारे राज्य को अपने अधीन कर लिया।

(३३) अस्मिश्चान्तरे मन्त्रिवृद्धो वसुरक्षितः कैश्चिन्मौलैः संभूय बालमेनं भास्करवर्माणम्, अस्यैव ज्यायसीं भगिनीं त्रयोदश-वर्षां मञ्जुवादिनीम्, अनयोश्च मातरं महादेवीं वसुंधरामादायाप-सर्पन्नापदोऽस्या भावितया दाहज्वरेण देहमजहात्। अस्मादृशैर्मि-त्रैस्तु नीत्वा माहिष्मतीं भर्तृद्वैमातुराय भ्रात्रे मित्रवर्मणे सापत्या देवी दर्शिताभूत्। तां चार्यामनार्योऽसावन्यथाभ्यमन्यत। निर्भर्त्सि-तश्च तया 'सुतमियमखण्डचारित्रा राज्यार्हं चिकीर्षति' इति नैर्घृण्यात्तमेनं बालमजिघांसीत्। इदं तु ज्ञात्वा देव्याह-माज्ञप्तः—'तात नालीजंघ! जीवतानेनार्भकेण यत्र क्वचिद् वधाय जीव। जीवेयं चेदहमप्येनमनुसरिष्यामि। ज्ञापय मां क्षेमप्रवृत्तः स्ववार्ताम्' इति।

(३३) इसी अवधि में बूढ़े मंत्री वसुरक्षित ने, कुछ परम्परागत मंत्रियों से विचार करके इस भास्करवर्मा नाम के बालक को, इसी की ही तेरह साल की बड़ी बहन मञ्जुवादिनी को, इन दोनों की माता महारानी वसुंधरा को लेकर भागते हुए, विधि का ऐसा ही विधान होने के कारण, दाहज्वर के रोग से अपना शरीर छोड़ दिया (अर्थात् उसकी मृत्यु हो गई)। (तद-नन्तर) हमारे जैसे मित्रों ने अपने बच्चों के साथ महारानी को, माहिष्मती नगरी में लाकर, (रानी के पति) अनन्तवर्मा के सौतेले भाई मित्रवर्मा को

सौंप दिया। उस अनार्य (दुष्ट) ने उस आर्या (साध्वी) रानी को बुरी भावना से देखा। उसके द्वारा फटकारे जाने पर मित्रवर्मा ने "यह अभ्रष्ट चरित्र वाली (रानी) अपने पुत्र को राज्याधिकार के योग्य बनाना चाहती है" ऐसा सोच कर निर्दयता से इस बालक को मारना चाहा। ऐसा भांप कर महारानी ने मुझे आदेश दिया—'प्यारे नालीजंघ, जहाँ कहीं भी हो, इस जीवित बालक को (मित्रवर्मा के हाथों) वध से बचा कर (सुरक्षित) रखो। यदि बची रही तो मैं भी इसके पास पहुँच जाऊँगी। (इस बालक की रक्षा के) कल्याण में लगे हुए नालीजंघ, मुझे अपने समाचार भेजते रहना।"

(३३) अस्मिन्निति। अपसर्पन्निर्गच्छन्। द्वैमातुराय, सापत्नभ्रात्र इत्यर्थः। पादचारिणं चरणगामिनम्।

(३४) अहं तु संकुले राजकुले कथंचिदेनं निर्गमय्य विन्ध्याटवीं व्यगाहिषि। पादचारदुःखितं चैनमाश्वासयितुं घोषे क्वचिदहानि कानिचिद्विश्रमय्य, तत्रापि राजपुरुषसंपातभीतो दूराध्वमपासरम्। तत्रास्य दारुणपिपासापीडितस्य वारि दातुकामः कूपेऽस्मिन्नपभ्रश्य, पतितस्त्वयैवमनुगृहीतः। त्वमेवास्यातः शरणमेधि विशरणस्य राजसूनोः' इत्यञ्जलिमबध्नात्। 'किमीया जात्यास्य माता ?' इत्यनुयुक्ते मयाऽमुनोक्तम्—'पाटलिपुत्रस्य वणिजो वैश्रवणस्य दुहितरि सागरदत्तायां कोसलेन्द्रात्कुसुमधन्वनोऽस्य माता जाता' इति। 'यद्येवमेतन्मातुर्मत्पितुश्चैको मातामहः' इति सस्नेहं तमहं सस्वजे। वृद्धेनोक्तम्—'सिन्धुदत्तपुत्राणां कतमस्ते पिता ?' इति। 'सुश्रुतः' इत्युक्ते सोऽत्यहृष्यत्। अहं तु तं नयावलिप्त-

श्मकनयेनैवोन्मूल्य बालमेनं पित्र्ये पदे प्रतिष्ठापयेयम्' इति प्रतिज्ञाय 'कथमस्यैनां क्षुधं क्षपयेयम्' इत्यचिन्तयम्।

(३४) मैं उसे किसी तरह भीड़ से भरे राजकुल से (वाहर) निकाल कर विन्ध्यवन में ले घुसा। पैदल चलने से पीड़ित इस वालक को विश्राम दिलाने के लिए किसी गाँव में कुछ दिन आराम करके, वहाँ भी सिपाहियों के द्वारा पकड़े जाने के (भय से) डरा हुआ मैं (जंगल में) बहुत दूर मार्ग तक चला गया। वहाँ भयङ्कर प्यास से व्याकुल इस वालक के लिए जल लाने के इच्छुक, पर फिसल कर इस कूप में गिरे, मुझ को तूने इस प्रकार वचाया। इसलिए, अव इस अनाथ राजकुमार का तू ही शरण वन' ऐसा कह कर उसने हाथ जोड़े। 'इसकी माता, कौन-सी जाति की है' ऐसा मेरे द्वारा पूछे जाने पर उसने कहा—'कोसल के अधिपति कुसुमधन्वा से पाटलिपुत्र के वनियें (व्यापारी) वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता से इसकी माता उत्पन्न हुई।' 'यदि ऐसा है, तो इसकी माता और मेरे पिता का एक ही नाना है' यह कह कर वड़े प्रेम के साथ मैंने उसका आलिङ्गन किया। उस बूढ़े ने पूछा—"सिन्धुदत्त के पुत्रों में से तुम्हारे पिता कौन से हैं ?" "सुश्रुत हैं" ऐसा कहे जाने पर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। फिर मैं, "अपनी नीति (राजनीति) पर घमण्ड करने वाले, अश्मकेन्द्र को नीति से ही उखाड़ कर इस बालक को अपने पिता के आसन पर प्रतिष्ठित करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके, फिर 'इसकी भूख को कैसे दूर करूँ' यह सोचने लगा।

(३४) घोष आभीराल्पग्रामे। 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः। दूराध्वं दूरमार्गम्। पिपासा तृषा। विशरणस्य शरणरहितस्य। अश्मकनयेन पाषाणोन्मूलनेन। पित्र्ये पदे पितुः स्थाने।

(३५) तावदापतितौ च कस्यापि व्याधस्य त्रीनिषूनतीत्य द्वौ मृगौ स च व्याधः। तस्य हस्तादवशिष्टमिषुद्वयं कोदण्डं चाक्षिप्याविध्यम्। एकश्च सपत्राकृतोऽन्यश्च निष्पत्राकृ-

तोऽपतत् । तं चैकं मृगं दत्त्वा मृगयवे, अन्यस्यापलोमत्वचः क्लोमापोह्य, निष्कुलाकृत्य विकृत्योर्वङ्घ्रिग्रीवादीनि शूलाकृत्य दावाङ्गारेषु, तप्तेनामिषेण तयोरात्मनश्च क्षुधमत्यतार्षम् । एतस्मिन्कर्मणि मत्सौष्ठवेनातिहृष्टं किरातमस्मि पृष्टवान्—'अपि जानासि माहिष्मतीवृत्तान्तम् ?' इति । असावाचष्ट—'तत्र व्याघ्रत्वचो दृतीश्च विक्रीयाद्यैवागतः, किं न जानामि प्रचण्डवर्मा नाम चण्डवर्मानुजो मित्रवर्मदुहितरं मञ्जुवादिनीं विलिप्सुरभ्येतीति तेनोत्सवोत्तरा पुरी' इति ।

(३५) उसी समय किसी व्याध के (द्वारा) चलाये हुए तीन तीरों (की चोट) से बचे हुए दो मृग और वही व्याध वहाँ आ पहुँचे । फिर मैंने उसके हाथ से बचे हुए दो तीरों और धनुष को छीन कर उन (दो मृगों) को बींध दिया। उनमें से एक तो पंख तक धँसे तीर से बिंधा हुआ गिरा और दूसरा पूरी तरह धँसे और इसी कारण झड़े हुए पंखों वाले तीर से बिंधा हुआ गिरा । उनमें से एक मृग व्याध को देकर तथा दूसरे (मेरे द्वारा) उधेड़े हुए बाल और खाल वाले हरिण के मस्तिष्क को निकाल कर, टाँगें, पैर और गर्दन आदि भागों को काट कर और साफ करके और जंगली आग के अंगारों पर सलाखों से (उसे) पका कर भुने हुए (मृग) के मांस से उन दोनों की और अपनी भूख मिटाई। इस काम में मेरे द्वारा (प्रदर्शित) कौशल के कारण अत्यन्त प्रसन्न उस किरात (भील) से मैंने पूछा—"क्या (तुम्हें) माहिष्मती का कोई समाचार मालूम है ?" उसने कहा—"मैं वहाँ बाघ की खाल और चमड़े के थैले बेच कर आज ही आया हूँ। अतः निश्चय ही (वहाँ का हाल) जानता हूँ।" चण्डवर्मा का भाई प्रचण्डवर्मा मित्रवर्मा की बेटी मञ्जुवादिनी से

विवाह करने की इच्छा से आने वाला है, अतः सारा नगर उत्सव में मग्न है।

(३५) सपत्राकृतः पत्रेण सह विद्धः। 'वाहने तु छदे पत्रम्' इति भागुरिः। 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' (पा. ५।४।६१) इति डाच्। अन्यो द्वितीयो निष्पत्राकृतः। मृगयवे लुब्धकाय। अपलोमं रोमशून्यम्। त्वचश्चर्मणः। क्लोम मस्तिष्कम्। 'तिलकं क्लोम मस्तिष्कम्' इत्यमरः। निष्कुलाकृत्य निष्कोष्य। विकृत्य विच्छिद्य। अङ्घ्रींश्चरणान्(?)। 'अङ्गानि' इति वा पाठः। शूलाकृत्य शूले कृत्वा, शूलेन पाचयित्वेत्यर्थः। 'शूलात्पाके' (पा. ५।४।६५) इति डाच्। दावाङ्गारेषु वनवह्निषु। तप्तेन भर्जितेन। आमिषेण मांसेन। क्षुधं क्षुधाम्। अतार्षमतिक्रान्तवान्। व्याघ्रत्वचो व्याघ्रचर्माणि। दृतीश्चर्मपुटानि। 'दृतिभिद्यतनीयत्न-भस्त्री चापि स्त्रियः' समाः इति।

(३६) अथ कर्णे जीर्णमब्रवम्—'धूर्तो मित्रवर्मा दुहितरि सम्यक्प्रतिपत्त्या मातरं विश्वास्य तन्मुखेन प्रत्याकृष्य बालकं जिघांसति। तत्प्रतिगत्य कुशलमस्य मद्वार्तां च देव्यै रहो निवेद्य पुनः कुमारः शार्दूलभक्षित इति प्रकाशमाक्रोशनं कार्यम्। स दुर्मतिरन्तःप्रीतो बहिर्दुःखं दर्शयन्देवीमनुनेष्यति। पुनस्तया त्वन्मुखेन स वाच्यः—'यदपेक्षया त्वन्मतमत्यक्रमिषं सोऽपि बालः पापेन मे परलोकमगात्। अद्य तु त्वदादेशकारिण्येवाहम्' इति। स तथोक्तः प्रीतिं प्रतिपद्याभिपत्स्यति। पुनरनेन वत्सनाभनाम्ना महाविषेण संनीय तोये तत्र मालां मज्जयित्वा तया स वक्षसि मुखे च हन्तव्यः। 'स एवायमसिप्रहारः पापीयसस्तव भवतु यद्यस्मि पतिव्रता'। पुनरनेनागदेन संगमितेऽम्भसि तां मालां मज्जयित्वा स्वदुहित्रे देया। मृते तु तस्मिंस्तस्यां च निर्विकारायां

सत्याम्, सतीत्येवैनां प्रकृतयोऽनुवर्तिष्यन्ते । पुनः प्रचण्डवर्मणे संदेश्यम्—'अनायकमिदं राज्यम् । अनेनैव सह बालिकेयं स्वीकर्तव्या' इति । तावदावां कापालिकवेषच्छन्नौ देव्यैव दीयमानभिक्षौ पुरो बहिरुपश्मशानं वत्स्यावः ।

(३६) ऐसा सुनने के बाद मैंने कान में बूढ़े से कहा—'धूर्त मित्रवर्मा, (मञ्जु-वादिनी को) पूरी तरह अपनी ही बेटी मानने के द्वारा (अर्थात् ऐसा दिखा कर कि वह उसकी ही बेटी है) फिर (उसकी) माता के मन में (अपने लिए) विश्वास उत्पन्न करके और फिर उस (माता) के द्वारा (राज-कुमार) को अपनी ओर खींच कर (वश में करके), उसे मारना चाहता है। अब तुम वापस जाकर (वहाँ) महारानी को इस (राजकुमार) की कुशलता और मेरा समाचार एकान्त में बता कर और फिर (उसके साथ मिल कर) 'राजकुमार को भेड़िया खा गया' ऐसी खुले-आम घोषणा कर देना। वह दुर्बुद्धि (मित्रवर्मा) मन में प्रसन्न होकर, ऊपर से (दिखावे के रूप में) दुःख प्रकट करता हुआ महारानी को सांत्वना देगा। फिर रानी तुम्हारे माध्यम से मित्रवर्मा को कहे—'जिस (राजकुमार) की अपेक्षा से मैंने तुम्हारे विचार की भर्त्सना की, वह बालक भी मेरे पाप के कारण परलोक को चला गया। अब तो मैं तुम्हारा आदेश मानने को ही तैयार हूँ।' ऐसा कहे जाने पर प्रसन्नता को प्राप्त करके वह (मित्रवर्मा) उसके पास जायेगा। फिर वह रानी, इस वत्सनाभ नाम के विष को पानी में घोल कर तदनन्तर उसमें माला को डुबा कर, उस (माला) से (मित्रवर्मा की) छाती और मुख पर प्रहार करे। 'यदि मैं पतिव्रता हूँ, तो तुझ पापी के लिए यह (माला-प्रहार) ही तलवार का प्रहार बन जाए!' फिर इस औषधि से मिलाये हुए पानी में उस माला को धोकर, (महारानी) अपनी पुत्री को उसे (उपहार के रूप में) दे दे। उस (मित्रवर्मा) के मर जाने से, और उसकी पुत्री (मञ्जुवादिनी) पर (माला का) कोई विकार न पड़ने से, सारी प्रजा इस (महारानी) को 'यह तो सती ही है' ऐसा समझ कर

इसकी आज्ञा मानेगी। फिर प्रचण्डवर्मा को संदेश भिजवाना 'यह राज्य तो (अब) विना स्वामी के है। अतः इस राज्य के साथ ही इस बालिका को भी स्वीकार कीजिए। तब तक हम दोनों, साधु के भेष में छिपे हुए, महारानी से ही भिक्षा स्वीकार करते हुए, नगर से बाहर मरघट के पास ठहरेंगे।

(३६) आक्रोशनमाक्षारणा। वत्सनाभः। 'दारदो वत्सनाभः स्यात्' इत्यमरः। संनीय संमिश्र्य। तोय उदके। तया मालया। अगदेनौषधेन। 'संजीवनं स्यादगदम्' इति वैजयन्ती। तस्यां स्वदुहितरि। निर्विकारायां विकारशून्यायाम्। प्रकृतयः प्रजाः। संदेश्यम्, कथनीयमित्यर्थः। कापालिको व्रतधारी, 'कापाली स्यान्महाव्रती' इति कोशः। पुरो बहिः। नगराद्बहिरित्यर्थः।

(३७) पुनरार्यप्रायान्पौरवृद्धानाप्तांश्च मन्त्रिवृद्धानेकान्ते ब्रवीतु देवी—'स्वप्नेऽद्य मे देव्या विन्ध्यवासिन्या कृतः प्रसादः। अद्य चतुर्थेऽहनि प्रचण्डवर्मा मरिष्यति। पञ्चमेऽहनि रेवातटवर्तिनि मद्भवने परीक्ष्य वजन्यं, जनेषु निर्गतेषु कपाटमुद्घाट्य त्वत्सुतेन सह कोऽपि द्विजकुमारो निर्यास्यति। स राज्यमिदमनुपाल्य बालं ते प्रतिष्ठापयिष्यति। स खलु बालो मया व्याघ्रीरूपया तिरस्कृत्य स्थापितः। सा चेयं वत्सा मञ्जुवादिनी तस्य द्विजातिदारकस्य दारत्वेनैव कल्पिता' इति। 'तदेतदतिरहस्यं युष्मास्वेव गुप्तं तिष्ठतु यावदेतदुपपत्स्यते' इति।

(३७) फिर देवी नगर के भले वृद्ध पुरुषों से तथा विश्वसनीय वृद्ध मंत्रियों से एकान्त में कहे—'आज स्वप्न में विन्ध्यवासिनी देवी ने मुझ पर कृपा की है। (और कहा है कि) आज से चौथे दिन प्रचण्डवर्मा मर जायेगा।' फिर पाँचवें दिन रेवा नदी के तट पर विद्यमान मेरे मन्दिर से (चारों ओर)

सुनसान देख कर, लोगों के (वहाँ से) चले जाने पर कपाट (दरवाजा) खोल कर, तुम्हारे पुत्र के साथ कोई ब्राह्मण-पुत्र बाहर निकलेगा। वह इस राज्य का अच्छी तरह पालन करके तुम्हारे बालक (पुत्र) को राज-सिंहासन पर बैठायेगा। मैंने व्याघ्री का रूप धारण करके, उस बालक को शत्रुओं से छिपा रक्खा है। और जो यह (तुम्हारी) पुत्री मंजुवादिनी (है), (वह) उस ब्राह्मणपुत्र की पत्नी बनने के लिए ही बनी है। अतः यह सब अत्यन्त रहस्य तब तक तुम्हारे में ही गुप्त रहे जब तक यह सब पूरा नहीं हो जाता है।"

(३७) आर्यप्रायान्। श्रेष्ठीनित्यर्थः। स्वप्ने स्वप्नावस्थायाम्। म इति मह्यम्। मरिष्यतीति 'मृङ् प्राणत्यागे' इत्यस्य रूपम्। वैजन्यं विजनस्य भावस्तथा। तिरस्कृत्य भीषयित्वा। द्विजातिदारकस्य ब्राह्मणपुत्रस्य। दारत्वेन स्त्रीत्वेन। युष्मास्वेव, भवत्स्वेवेत्यर्थः।

(३८) स सांप्रतमतिप्रीतः प्रयातोऽर्थश्चायं यथाचिन्तितमनुष्ठितोऽभूत्। प्रतिदिशं च लोकवादः प्रासर्पत्—'अहो माहात्म्यं पतिव्रतानाम्। असिप्रहार एव हि स मालाप्रहारस्तस्मै जातः। न शक्यमुपधियुक्तमेतत्कर्मेति वक्तुम्, यतस्तदेव दत्तं दाम दुहित्रे स्तनमण्डनमेव तस्यै जातं, न मृत्युः। योऽस्याः पतिव्रतायाः शासनमतिवर्तते स भस्मैव भवेत्' इति।

(३८) तब वह (मेरी इस कूटनीति से) अत्यन्त प्रसन्न होकर चला गया, और जैसे सोचा था वैसे ही सब कुछ पूरा हो गया। चारों ओर लोकचर्चा फैल गई—"आश्चर्य है! पतिव्रता स्त्री की महिमा!! देखिये वह माला का प्रहार उस (मित्रवर्मा) के लिए तलवार का प्रहार ही हो गया। 'यह काम छल से परिपूर्ण था' ऐसा तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि वही माला (रानी के द्वारा अपनी) पुत्री को दी हुई, उसके लिए स्तनों का आभूषण बन गई, मृत्यु नहीं। जो इस पतिव्रता के आदेश का उल्लंघन करेगा, वह भस्म (जल कर राख) ही हो जायेगा।'

(३८) सांप्रतम् । युक्तमित्यर्थः । प्रासर्पत् प्रसृतोऽभूत् । असिप्रह एव खड्गप्रहार एव । उपधिः कपटम् । दाम माला । दुहित्रे कन्यायै स्तनमण्डनं कुचभूषणम् । अतिवर्त्ततेऽतिक्रामति ।

(३९) अथ महाव्रतिवेषेण मां च पुत्रं च भिक्षायै प्रविष्टौ दृष्ट्वा प्रस्नुतस्तनी प्रत्युत्थाय हर्षाकुलमब्रवीत्—'भगवन्! अयम् अञ्जलिः । अनाथोऽयं जनोऽनुगृह्यताम् । अस्ति ममैकः स्वप्नः स किं सत्यो न वा ?' इति । मयोक्तम्—'फलमस्याद्यैव द्रक्ष्यसि' इति । 'यद्येवं बहु भागधेयमस्या वो दास्याः । स खल्वस्याः सानाथ्यशंसी स्वप्नः' इति मद्दर्शनरागबद्धसाध्वसां मञ्जुवादिनीं प्रणमय्य, भूयोऽपि सा हर्षगर्भमब्रूत–'तच्चेन्मिथ्या सोऽयं युष्मदीयो बालकपाली श्वो मया निरोद्धव्यः' इति । मयापि सस्मितं मञ्जुवादिनीरागलीनदृष्टिलोढधैर्येणाभिहितम्-'एवमस्तु' इति ।

(३९) तदन्नतर कापालिक के वेष में मुझे और अपने पुत्र को भिक्षा के लिए प्रवेश किए हुए देख कर, (वह महारानी वसुंधरा), जिसके स्तनों से दूध टपकने लगा था, उठकर तथा आनन्द से विह्वल होकर कहने लगी—"भगवन्, यह अञ्जलि (आपके लिए जोड़ी है)। मुझ अनाथ (स्त्री) पर कृपा कीजिये ! मैंने एक स्वप्न देखा है। क्या वह सत्य होगा या नहीं ?" मैंने कहा, 'इसका फल आज ही देखोगी।' 'यदि ऐसा है, तो इस आप की दासी का वहुत बड़ा सौभाग्य है क्योंकि वह स्वप्न इस (मेरी पुत्री) की सनाथता (विवाह) को सूचित करता है।" ऐसा कह कर उस (रानी) ने, मेरी दृष्टि में (उत्पन्न हुए) प्रेम को (देखने के कारण) व्याकुल मञ्जुवादिनी द्वारा मुझे प्रणाम करवा कर, एक बार फिर (अपने) आनन्द को छिपाते हुए कहा—'यदि यह सब (जो तुमने कहा है) झूठा हुआ, तो मैं तुम्हारे इस साधु बालक

को कल कैद कर लूँगी।' मैंने भी, जिसका धैर्य मञ्जुवादिनी की प्रेमभरी चितवन (देखने के कारण) नष्ट हो गया था, मुस्कराहट के साथ कहा —'ऐसा ही हो।'

(३९) प्रस्नुतस्तनी पयःप्रसरत्स्तनी। द्रक्ष्यसि, पश्यसीत्यर्थः। सानाथ्यशंसी सनाथस्य भावः सानाथ्यं, तच्छंसतेऽसौ तथा। मद्दर्शनरागेण बद्धं साध्वसं ययेति सा ताम्। मञ्जुवादिनीम् मञ्जु मञ्जुलं वदति सा मञ्जुवादिनी ताम्। प्रणमय्य, नमस्कारं कारयित्वेत्यर्थः। अब्रूत। 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' इत्यस्य रूपम्। सस्मितं सहासमभिहितम्। रागलीना या दृष्टिस्तया लीढमास्वादितं धैर्यं तेन।

(४०) लब्धभैक्षो, नालीजंघमाकार्य निर्गम्य ततश्च तं चानुयान्तं शनैरपृच्छम्—'क्वासावल्पायुः प्रथितः प्रचण्डवर्मा ?' इति। सोऽब्रूत—'राज्यमिदं ममेत्यपास्तशङ्को राजास्थानमण्डप एव तिष्ठत्युपास्यमानः कुशीलवैः' इति। यद्येवमुद्याने तिष्ठ' इति तं जरन्तमादिश्य तत्प्राकारैकपार्श्वे क्वचिच्छून्यमठिकायां मात्राः समवतार्य, तद्रक्षणनियुक्तराजपुत्रः, कृतकुशीलववेषलीलः प्रचण्डवर्माणमेत्यान्वरञ्जयम्।

(४०) भिक्षा प्राप्त करके, नालीजंघ को बुला कर, वहाँ से निकल कर, और तब अपने पीछे आते हुए उस (नालीजंघ) को मैंने धीरे से पूछा—'कहाँ है वह अल्प आयु वाला प्रचण्डवर्मा ?' उसने कहा—'यह राज्य मेरा है', ऐसा जानने से निश्शङ्क होकर, वह सभामण्डप में बैठा है, जहाँ गायक, उसका मनोरंजन कर रहे हैं।' 'यदि ऐसा है तो उपवन में प्रतीक्षा करो'; ऐसा उस वृद्ध को आदेश देकर, उस (उद्यान) की दीवार के एक ओर किसी सुनसान मन्दिर में अपनी वस्त्रादि सामग्री को उतार कर, तथा उसकी रक्षा में राजपुत्र को नियुक्त करके, और नट या गायक की-सी वेशभूषा और लीला बना कर, प्रचण्डवर्मा के पास पहुँच कर, मैंने उसका मनोरंजन किया।

(४०) लब्धभैक्षो लब्धा प्राप्ता भिक्षा येनेति 'भिक्षादिभ्योऽ (पा. ४।२।३८) । नालीजङ्घमेतन्नामानम् । आकार्याहूय । अनुयान्तं पश्चादनुवर्तमानम् । आस्थानमण्डपे सभामण्डपे । कुशीलववर्गायकैः 'गायकास्तु कुशीलवाः' इति वैजयन्ती । उद्यान उपवने । जरन्तं जीर्णम् । 'प्राकारो वरणः सालः' इत्यमरः । अल्पो मठो मठिका । मात्राः परिच्छदादीन् 'मात्रा परिच्छदेऽल्पेंशे प्रवृत्तौ कर्णभूषणे । अक्षरावयवे माने' इति वैजयन्ती । तद्रक्षणे मात्रारक्षणे ।

(४१) अनुरञ्जिततातपे तु समये, जनसमाजज्ञानोपयोगीनि संहृत्य नृत्यगीतनानारुदितानि हस्तचङ्क्रमणमूर्ध्वपादालातपाद-पीडवृश्चिकमकरलंघनादीनि मत्स्योद्वर्तनादीनि च करणानि पुनरादायादाय, आसन्नवर्तिनां क्षुरिकास्ताभिरुपहितवपुः चित्रदुष्कराणि करणानि श्येनपातोत्क्रोशपातादीनि दर्शयन् विंशतिचापान्तरालावस्थितस्य प्रचण्डवर्मणश्छुरिकयैकया प्रत्युरसं प्रहृत्य, 'जीव्याद्वर्षसहस्रं वसन्तभानुः' इत्यभिगर्जन् मद्गात्रमुत्कर्तुमुद्यतासेः कस्यापि चारभटस्य पीवरांसबाहु-शिखरमाक्रम्य, तावतैव तं विचेतीकुर्वन्, आकुलं च लोकमुच्चक्षुः कुर्वन्, द्विपुरुषोच्छ्रितं प्राकारमत्यलंघयम् ।

(४१) लाल धूप वाले (संध्या के) समय में, लोक-समूह के ज्ञान के लिए उपयोगी नृत्य, गीत और तरह-तरह की बोलियों की नकल दिखा कर, और हाथों पर उछलना, ऊर्ध्वपाद (नृत्य) अलातपाद (नृत्य) बिच्छू और मगरमच्छ की चाल आदि और मछली की तरह उछलना आदि शरीर के कई करतब प्रदर्शित करके, पास बैठे हुए (लोगों) की छुरियों को ले-लेकर फिर उनको अपने शरीर में गाड़ कर और बाज की उड़ान तथा उत्क्रोश (कोई विशेष पक्षी) की उड़ान आदि आश्चर्यकारी औ

कष्टसाध्य (अत्यन्त कठिन) करतब दिखाता हुआ, बीस चाप (दूरी मापने का साधन) की दूरी पर भी बैठे हुए प्रचण्डवर्मा की छाती पर एक छुरी से प्रहार करके, 'वसन्तभानु एक हजार वर्ष तक जिए' ऐसे (इस प्रकार कहते हुए) गर्जता हुआ, मेरे शरीर को काटने के लिए तलवार उठाये हुए किसी वीर चार (भाट) के मांसल कन्धों और बाँहों के ऊपर उछल कर, उतने से ही उसे मूर्च्छित करता हुआ और (भय से) व्याकुल, (वहाँ आये) लोगों को (मुझे देखने के लिए) ऊपर उठाए हुए नेत्रों वाला करता हुआ, मैं दो पुरुषों की लम्बाई जितनी ऊँची दीवार को लाँघ गया।

(४१) जनसमाजस्य लोकसमूहस्य ज्ञानोपयोगीनि। नृत्यं नर्तनम्। गीतं गानम्। नानारुदितानि रोदनशब्दानुकरणानि। हस्तयोश्चङ्क्रमण-मितस्ततः प्रसारणम्, भ्रमणं वा। ऊर्ध्वपादमलातपादम्, 'कराभ्यामवनीं स्पृष्ट्वा मूर्धानं भ्रामयेन्मुहुः। उत्तानीकृत्य चरणावूर्ध्वपादं तदुच्यते॥' इति नृत्याध्याये भरतः। 'उद्धृत्यैकं तु चरणमन्यं कृत्वैव कुञ्चितम्। नृत्यत्यनुमतं तिर्यक्तदलातकमेव च॥' इत्यपि। वृश्चिकलङ्घनं मकर-लङ्घनं चेति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते। मत्स्योद्वर्तनानि। मीनवद्विलसितानि। आदायादाय। विश्वासद्योतनार्थं द्विरुक्तिः। क्षुरिकाः शस्त्राणि। ताभिः क्षुरिकाभिः। उपहितवर्म्मा संयुक्तदेहः, 'वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। श्येनपातः, 'परिक्रम्यान्तरिक्षेण संप्राप्योच्चैरदृश्यताम्। आकस्मिकाभिपातेन श्येनपात इतीरितः' इति। उत्क्रोशपातश्च कुररपातः। 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः। चापः। प्रसारित-बाहुद्वयप्रमाणं चाप इत्युच्यते। भाषया 'वांव' इति प्रसिद्धिः। 'विंशति-चाप' इति पाठो मुख्यः। मद्गात्रं मच्छरीरम्। उत्कर्तुं त्रोटितुम्। उद्यतासेरूर्ध्वीकृतखड्गस्य। चारभटस्य चारश्चासौ भटश्चेति व्युत्पत्तिः, 'भटश्चारभटो मतः' इति हलायुधः। पीवरांसं मांसलस्कन्धम्। तं चार-भटम्। द्विपुरुषोच्छ्रितं पुरुषद्वयप्रमाणोच्चम्।

(४२) अवप्लुत्य चोपवने 'मदनुपातिनामेष पन्था

दृश्यते' इति ब्रुवाण एव नालीजंघसमीकृतसैकतास्प पादन्यासया तमालवीथ्या चानुप्राकारं प्राः प्रतिप्रधावितः, पुनरवाचोच्चितेष्टकचितत्वादलक्ष्यपा प्रद्रुत्य लङ्घितप्राकारवप्रखातवलयः, तस्यां शून्यमठिकायां तूर्ण प्रविश्य, प्रतिमुक्तपूर्ववेषः सह कुमारेण मत्कर्मतुमुलराज दुःखलब्धवर्त्मा श्मशानोद्देशमभ्यगाम्। प्रागेव तस्मिन्दुर्गा प्रतिमाधिष्ठान एव मया कृतं भग्नपार्श्वस्थैर्यस्थूलप्रस्तरस्थ बाह्यद्वारं बिलम्।

(४२) और फिर उछल कर, 'मेरा पीछा करने वालों का मार्ग दिखाई देता है' मेरे द्वारा ऐसा कहते ही (मेरे पीछे च वाले) नालीजंघ के द्वारा (मार्ग की) धूल को एक जैसा कर से (जहाँ) मेरे पैरों के निशान दिखाई नहीं देते थे, (वहाँ) त नामक वृक्षों की पंक्ति के साथ दीवार के पूर्व की ओर दौड़ता ह फिर ईंटों के ऊचे-नीचे चिने होने के कारण, (दीवार से) उछल कर कि (किसी को) मेरा गिरना दिखाई न दे, (महल) दीवार (और उसके चारों ओर) गोल खाई लाँघ कर, उस सूने छोटे म में शीघ्र ही प्रवेश करके, पहले वेश को उतार कर, मेरे (साहसिक) के कारण व्याकुलता भरा कोलाहल करने वाले (लोगों से) भरे राज के द्वार से कठिनता से मार्ग ढूँढ़ कर राजकुमार के साथ वापस श्मशान- में पहुँचा। वहाँ मैंने दुर्गा के मन्दिर के बाहर के भाग से लेकर दुर्गा मूर्ति के स्थान तक एक गुफा बना ली जिस का बाहर का प्रवेश स्थिरता के लिए उस मोटे से पत्थर से ढक दिया जिसके पक्ष (भाग) हुए थे।

(४२) अवप्लुत्योड्डीय। सैकतं सिकतामयम्। अस्पष्टपादन्या न स्पष्टः पादन्यासश्चरणपातो यस्यामिति। तमालवीथ्या तमालप

अवाचोच्चितेष्टका उच्चनीचवद्धेष्टकाः। तुमुलो व्याकुलरवः। 'तुमुलो व्याकुलरवः' इति महीपः। प्रस्तरः पाषाणः, 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः॥

(४३) अथ गलति मध्यरात्रे वर्षवरोपनीतमहार्हरत्नभूषण-पट्टनिवसनौ तद्बिलमावां प्रविश्य तूष्णीमतिष्ठाव। देवी तु पूर्वद्युरेव यथार्हमग्निसंस्कारं मालवाय दत्त्वा प्रचण्डवर्मणे, चण्डवर्मणे च तामवस्थामश्मकेन्द्रोपधिकृतामेव संदिश्य, उत्तरेद्युः प्रत्युषस्येव पूर्वसंकेतितपौरामात्यसामन्तवृद्धैः सहाभ्येत्य भगवतीमर्चयित्वा, सर्वजनप्रत्यक्षं परीक्षितकुक्षिवैजन्यं तद्भवनं विधाय दत्तदृष्टिः सह जनेन स्थित्वा, पटीयांसं पटहशब्दमकारयत्।

(४३) इसके बाद आधी रात हो जाने पर किसी वर्षवर (नपुंसक अथवा महारानी का विश्वासपात्र वृद्ध व्यक्ति) द्वारा लाए गए, बहुमूल्य, रत्नों से जड़े आभूषण और भड़कीले वस्त्रों को पहन कर हम दोनों उस गुफा में प्रवेश करके यथोचित चुपचाप बैठ गए। रानी ने, तो पहले दिन ही मालव प्रचण्ड वर्मा का दाहसंस्कार करवाकर, चण्डवर्मा को यह संदेश देकर कि वह अवस्था (अर्थात् प्रचण्डवर्मा की हत्या) अश्मकेन्द्र के षड्यन्त्र से ही हुई, फिर दूसरे दिन प्रातः काल ही पहले से ही संकेतित नागरिक, मन्त्री, सामन्त और वृद्ध पुरुषों के साथ (वहाँ) पहुँच कर भगवती (दुर्गा) की पूजा करके, सब लोगों की आँखों के सामने यह परीक्षा (निश्चय) करके कि मन्दिर के मध्य में बिल्कुल निर्जनता है (अर्थात् वहाँ कोई छिपा नहीं है), अपनी दृष्टि को (बन्द द्वार पर) लगा कर, लोगों के साथ बैठ कर ढोल का बहुत जोर का शब्द करवाया।

(४३) अथेति। गलति, गच्छतीत्यर्थः। वर्षवरः 'षण्ढो वर्षवरः' इत्यमरः। महार्हाणि महामूल्यानि। पट्टनिवसनानि पट्टवस्त्राणि। पूर्वेद्युः पूर्वदिवसे। प्रत्युषसि प्रातःकाले। वैजन्यं विजनस्य भावस्तथा। पटीयांसं श्रेष्ठम्। पटहशब्दं दुन्दुभिध्वनिम्।

(४४) अणुतररन्ध्रप्रविष्टेन तेन नादेनाहं दत्त शिरसैवोत्क्षिप्य सप्रतिमं लोहपादपीठमांसलपुरुषप्रय दुश्चलमुभयकरविधृतैकपार्श्वमेकतो निवेश्य निरगमम् निरगमयं च कुमारम्। अथ यथापूर्वमर्चयित्वा दुर्गामुद्घ टितकपाटः प्रत्यक्षीभूय प्रत्ययहृष्टदृष्टि स्पष्टरोमाञ्च मुद्यताञ्जलि रूढविस्मयं च प्रणिपतन्तीः प्रकृतीरभ्यधाम् 'इत्थं देवी विन्ध्यवासिनी मन्मुखेन युष्मानाज्ञापयति— एष राजसूनुरापन्नो मया सकृपया शार्दूलरूपेण तिरस्कृत्य वो दत्तः। तमेनमद्यप्रभृति मत्पुत्रतया मन्दमातृपक्ष इति प गृह्णन्तु भवन्तः'' । अपि च दुर्घटकूटकोटिघटनापाटवप्रकटशाठ निष्ठुराश्मकघटघट्टनात्मानं मां मन्यध्वमस्य रक्षितारम् रक्षानिर्वेशश्चास्य स्वसेयं सुभ्रूरभ्यनुज्ञाता मह्यमार्यया' इति

(४४) बहुत छोटे छिद्र के द्वारा (अन्दर) घुसे हुए उस के द्वारा संकेत मिल जाने पर, मैं, वलिष्ठ पुरुष के द्वारा प्र करके भी वड़ी कठिनता से हिलाये जा सकने वाले, (मेरे द्वारा) हाथों से पकड़े गए एक भाग वाले, लोहे के वने पादपीठ (घरने के पायदान) को मूर्त्ति के साथ, सिर से ही ऊपर उठा फिर उसे एक ओर रख कर, (वहाँ से) वाहर निकल आया। तदन राजकुमार को भी वाहर निकाला। इसके वाद जैसा पहले वैसे ही दुर्गा की पूजा करके, द्वार खोल कर, (वहाँ एकत्रित प्र के) सामने आकर, विश्वास (के सत्य सिद्ध हो जाने) से प्रसन्न दृष्टि वाली, स्पष्ट उठे रोंगटों वाली, हाथ जोड़ कर खड़ी, आश्चर्य से भरी तथा (मुझे) प्रणाम करती हुई प्रजा को मैंने कहा—"देवी विन्ध्यवासि मेरे माध्यम से तुम सबको इस प्रकार आज्ञा देती है—'विपत्ति का मा

जो यह राजपुत्र है, तथा जिसे मैंने (इस पर) दया करके वाघ के रूप में छिपा रक्खा था, इसे आज तुम्हें दे दिया है। मेरा (ही) पुत्र होने के कारण मैं ही इसकी पालन करने वाली माता हूँ' ऐसा आज से लेकर आप सब इस राजकुमार के वारे में समझ लें। इसके अतिरिक्त असंभव करोड़ों कपटों की योजना वनाने के चातुर्य से प्रकट हुई शठता वाले अतएव कठोर अश्मकेन्द्र रूपी घड़े को तोड़ने में समर्थ मुझे इस (राजकुमार) का रक्षक समझें। देवी ने इस राजकुमार की रक्षा के निर्वेश (शर्त या इनाम) के रूप में, सामने विद्यमान, सुन्दर भवों वाली, इस (राजकुमार) की बहन से विवाह करने की मुझे अनुमति दी है।"

(४४) अंसलपुरुषो मांसलपुरुषः। 'बलवान्मासलोंऽसलः' इत्यमरः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (पा. ५।२।९८) इति लच्प्रत्ययः। साक्षात्कारः। हृष्टा हर्षं प्राप्ता दृष्टिर्यत्रेति। प्रकृतीः प्रजाः। आपन्न आपत्प्राप्तः। तिरस्कृत्यान्तर्धाय। दुर्घटा घटनाशक्या। कूटं कपटम्। कोटिरग्रम्। संख्या वा। घटना योजना। पाटवं कौशलं (तेन प्रकटं सुव्यक्तं यच्छाठ्यं तेन निष्ठरोऽश्मक एव घटस्तस्य घट्टनो चालयिता आत्मा यस्य।

(४५) श्रुत्वैतत् 'अहो भाग्यवान्भोजवंशः, यस्य त्वमार्यादत्तो नाथः' इत्यप्रीयन्त प्रकृतयः। सा तु वाचामगोचरां हर्षावस्थामस्पृशन्मे श्वश्रूः। तदहरेव च यथावदग्राहयन्मञ्जुवादिनीपाणिपल्लवम्। प्रपन्नायां च यामिन्यां सम्यगेव बिलं प्रत्यपूरयम्। अलब्धरन्ध्रश्च लोको नष्टमुष्टिचिन्तादिकथनैरभ्युपायान्तरप्रयुक्तैर्दिव्यांशतामेव मम समर्थयमानो मदाज्ञां नात्यवर्तत। राजपुत्रस्यार्यपुत्र इति प्रभावहेतुः प्रसिद्धिरासीत्। तं च गुणवत्यहनि भद्राकृतमुपनाय्य पुरोहितेन पाठयन्नीतिं राजकार्याण्यन्वतिष्ठम्।

(४५) ऐसा सुन कर, 'अहो, सौभाग्यशाली है भोज का वंश (सन्तान), भगवती द्वारा नियुक्त किये हुए आप जिसके रक्षक हैं।'

इस प्रकार (कहती हुई) प्रजा परम प्रसन्न हुई। और मेरी वह ... वाणी के द्वारा अवर्णनीय आनन्द की स्थिति में पहुंच गई। उसी ... (रानी) ने पत्ते के समान कोमल मञ्जुवादिनी के हाथ को मुझे पकड़ा ... रात हो जाने पर, मैंने गुफा को अच्छी तरह भर दिया। (मेरी) ... को न समझे हुए लोग भी नष्ट (खोई वस्तु को वता देना), मुष्टि (... में वन्द वस्तुओं का नाम अथवा उनकी सम-विषम संख्या ... और चिन्ता (मन में सोची गई वात वताना), आदि के कथन ... उपायों के प्रयोग से मेरी दिव्यांशता (मैं देवता का ही अंश हूं) का समर्थन करते हुए मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे। 'राजकु... भवानी (दुर्गा) का ही पुत्र है' ऐसी उस (राजकुमार) के प्रभाव को ... वाली प्रसिद्धि हो गई। फिर किसी शुभ दिन में मुण्डन करवाये हुए ... राजकुमार का पुरोहित द्वारा यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार करवा कर ... (उसके द्वारा ही) उसे दण्डनीति की शिक्षा दिलवाता हुआ (अर्थात् पुरो... ही को राजकुमार को दण्डनीति की शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर ... मैं प्रतिदिन राजकार्य सम्पादित करता था।

(४५) **स्वसा भगिनी। अप्रीयन्त प्रीतिमापुः। अगोचरामविषया... दिव्यांशतां दिवि भवा दिव्यास्तेषामंशस्तस्य भावस्तत्ता ताम्। आर्य... इति भवानीपुत्र इति। गुणवति। निर्दोष इत्यर्थः। अहनि दिवसे। भद्रा... कृतकल्याणश्मश्रुम्। उपनाय्योपनयनं कारयित्वेत्यर्थः।**

(४६) **अचिन्तयं च—'राज्यं नाम शक्तित्रयायत्तं... शक्तयश्च मन्त्रप्रभावोत्साहाः परस्परानुगृहीताः कृत्ये... क्रमन्ते। मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानाम्, प्रभावेण प्रारम्भ... उत्साहेन निर्वहणम्। अतः पञ्चाङ्गमन्त्रमूलः, द्विरूपप्रभावस्कन्ध... चतुर्गुणोत्साहविटपः, द्विसप्ततिप्रकृतिपत्रः, षड्गुणकिसलय... शक्तिसिद्धिपुष्पफलश्च, नयवनस्पतिर्नेतुरुपकरोति। स चा... मनेकाधिकरणत्वादसहायेन दुरुपजीव्यः।**

(४६) (एक दिन) मैंने सोचा—निश्चय ही राज्य तीन शक्तियों के अधीन है, और वे शक्तियाँ हैं—मंत्र (नीति), प्रभाव (व्यक्तिगत शौर्य) तथा उत्साह; जो आपस में एक-दूसरे की सहायक होने पर कार्यों को पूरा करती हैं। मंत्र से अर्थों का निश्चय होता है, प्रभाव से अर्थ का आरम्भ होता है, उत्साह से (आरम्भ किये हुए अर्थ की) सिद्धि होती है। अतएव पाँच अंग [(१) मित्र, (२) साधन के उपाय, (३) देश और काल का विभाग, (४) विपत्ति का प्रतिकार, (५) सिद्धि] वाले मंत्र रूपी जड़ वाला, दो रूप [(१) धन (२) जनसंख्या)] वाले प्रभावरूपी स्कन्ध (तने) वाला, चार गुने उत्साह (मन, वाणी, शरीर और कार्योंमें प्रवृत्ति) रूपी शाखाओं वाला, ७२ प्रकार की *प्रकृतियाँ-रूपी पत्तों वाला, छः गुण [(१) सन्धि, (२) विग्रह, (३) यान (४) आसन, (५) द्वैधीभाव, (६) आश्रय] रूपी कोंपलों वाला, शक्ति और सिद्धि रूपी फूल और फल वाला नीतिरूपी वृक्ष शासक का उपकार करता है। इस वृक्ष के अनेक अधिकरण (प्रकार अथवा उलझन) वाला होने के कारण असहाय व्यक्ति दुःख से इसे जीवित रख सकता है।

---

*प्रकृतियाँ—(१) मध्यम, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन, (४) शत्रु=चार मूल प्रकृतियाँ। (१) मित्र, (२) अरिमित्र, (३) मित्रमित्र, (४) अरिमित्रमित्र—ये चार, विजिगीषु के आगे रहने वाली, शाखा प्रकृतियाँ। (१) पार्ष्णिग्राह, (२) आक्रन्द, (३) पार्ष्णिग्राहासार, (४) आक्रन्दासार—ये चार, विजिगीषु के पीछे रहने वाली, शाखा प्रकृतियाँ ।। (१) अमात्य, (२) राष्ट्र, (३) दुर्ग, (४) कोष, (५) दण्ड—ये पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ ।। इस प्रकार पहली १२ प्रकृतियों में एक एक की ये पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं। इनको १२ से गुणा कर ६० द्रव्य प्रकृतियाँ हो जाती हैं। ये ६० द्रव्य प्रकृतियाँ चार मूल प्रकृतियों से तथा आठ शाखा प्रकृतियों से (६०+४+८) जोड़ कर ७२ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

(४६) राज्यमिति । शक्तित्रयायत्तं शक्तित्रयाधीनम् । परस्पर गृहीता अन्योन्यकृतसहायाः । कृत्येषु कार्येषु । पञ्चाङ्गमन्त्रमूलः । 'सहा साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चा मुच्यते ॥' इति कामन्दकः । द्विरूपप्रभावोऽर्थानां पुरुषाणां च समृद्धि 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्' इत्यमरः । स्कन्धः शाखा चतुर्गुणो य उत्साहः स एव विटपाः शाखाः । द्विसप्ततिप्रकृतयः प्र पत्राणि यस्येति सः । षड्गुणाः किसलयानि (यस्येति सः) । शक्ति सिद्धिपुष्पफलश्च । शक्तित्रयं पुष्पं सिद्धित्रयं च फलमिति । 'षड्गुण शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः' इति । नय एव वनस्पतिर्नीतितरु अनेकाधिकरणत्वादनेकप्रकारत्वात् । असहायेन सहायहीनेन दुरुपजीव्य दुःखेनोपजीवितुं शक्यः ।

(४७) यस्त्वयमार्यकेतुर्नाम मित्रवर्ममन्त्री स कोस लाभिजनत्वात्कुमारमातृपक्षो मन्त्रिगुणैश्च युक्तः तन्मतिमवमत्यैव ध्वस्तो मित्रवर्मा, स चेल्लब्धः पेशलम् इति । अथ नालीजंघं रहस्यशिक्षयम्—'तात ! आर्य मार्यकेतुमेकान्ते ब्रूहि—'को न्वेष मायापुरुषो य इमां राज्य लक्ष्मीमनुभवति । स चायमस्मद्बालो भुजङ्गेनामुना परिगृहीतः किमुद्गीर्येत ग्रस्येत वा इति स यद्वदिष्यति तदस्मि बोध्यः इति । सोऽन्यदैवं मामावेदयत्—'मुहुरुपास्य प्राभृतैः, प्रवृत्त चित्राः कथाः संवाह्य पाणिपादम्, अतिविस्रम्भदत्तक्षणं तमप्रा त्वदुपदिष्टेन नयेन ।'

(४७) यह जो आर्यकेतु नाम वाला मित्रवर्मा का भूतपूर्व मंत्री है, वह कोसल वंश का होने के कारण राजकुमार की माता का पक्षपाती है तथा मंत्री के गुणों से युक्त है । उसकी मंत्रणा की अवहेलना (उपेक्षा) करने से ही मित्रवर्मा नष्ट हुआ । यदि वह मि

जाए तो अच्छा हो। अतः मैंने नालीजंघ को एकान्त में इस प्रकार शिक्षा दी 'मित्र, आर्यकेतु से एकान्त में पूछना कि कौन है यह चमत्कारी या कपटी पुरुष, जो इस देश की राजलक्ष्मी को भोग रहा है। इस साँप ने हमारे बाल राजकुमार को अपनी पकड़ में जकड़ लिया है। क्या वह इसे उगल देगा या खा जायेगा ?' (तुम्हारे) द्वारा ऐसा पूछे जाने पर, वह जो कुछ कहे वह सब मुझे बताना। (तदनन्तर) उसने एक दिन मुझे ऐसा समाचार लाकर दिया 'उपहारों के साथ बार-बार उसकी सेवा करके, तरह-तरह की कथाएँ आरम्भ करके, हाथ-पैर दबा कर, फिर अत्यन्त विश्वास का अवसर पाकर (आपके द्वारा) सिखाई गई नीति के अनुसार मैंने उस (आर्यकेतु) से सब बातें पूछीं।

(४७) यस्त्वयं नीतिवृक्षः। कोसलाभिजनत्वात्कोसलवंशत्वात्। 'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ' इत्यमरः। मन्त्रिगुणैः प्रधानगुणैः। अवमत्यावगणय्य। स मन्त्री। चेद्यदीत्यर्थः। लब्धः प्राप्तः। पेशलं सुन्दरम्। तातेति। न्विति वितर्के। भुजङ्गेन सर्पेण। उद्गीर्येत त्यज्येतेत्यर्थः। ग्रस्येत वेति। भक्षयिष्यति वा। उपास्य सेवित्वा। प्राभृतैरुपायनैः। प्रत्यग्रचित्ता नवीनचित्ताः। संवाह्य 'संवाहनं पुरस्कारः' इति। विस्रम्भो विश्वासः।

(४८) सोऽप्येवमकथयत्—'भद्र ! मैवं वादीः। अभिजनस्य शुद्धिदर्शनम्, असाधारणं बुद्धिनैपुणम्, अतिमानुषं प्राणबलम्, अपरिमाणमौदार्यम्, अत्याश्चर्यमस्त्रकौशलम्, अनल्पं शिल्पज्ञानम्, अनुग्रहार्द्रं चेतः, तेजश्चाप्यविषह्यमभ्यमित्रीणम्, इत्यस्मिन्नेव संनिपातिनो गुणाः, येऽन्यत्रैकैकशोऽपि दुर्लभाः। द्विषतामेष चिरबिल्वद्रुमः, प्रह्वाणां तु चन्दनतरुः, तमुद्धृत्य नीतिज्ञंमन्यमश्मकमिमं च राजपुत्रमनेन पित्र्ये पदे प्रतिष्ठितमेव विद्धि। नात्र संशयः कार्यः' इति।

(४८) उसने भी ऐसे कहा—उस (आर्यकेतु) ने इस प्रकार उ दिया 'भले आदमी, ऐसा मत कहो। (उच्च) कुल की शुद्धता, असाधा बुद्धि की कुशलता, मनुष्य के बल से कहीं अधिक बल, असीम उदार अत्यधिक आश्चर्यजनक अस्त्रों के संचालन की कुशलता, बढ़ा-चढ़ा कला का ज्ञान, दया से भीगा हुआ मन, असह्य तथा शत्रुओं को कुचलने समर्थ तेज, ऐसे गुण जो दूसरों में एक-एक करके भी नहीं मिलते, वे इकट्ठे इसमें विद्यमान हैं। शत्रुओं के लिए तो यह विषवृक्ष है पर नम्र व्यक्तियों के लिए तो चन्दन का वृक्ष है। इसके द्वारा अपने-आप नीतिज्ञ का अभिमान करने वाले अश्मकेन्द्र के उखाड़ दिये जाने पर इस राजकुमार को (अपने) पिता के आसन पर बैठा हुआ ही समझो इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

(४८) भद्र कल्याणेति संबोधनम्। अभिजनस्य कुलस्य। अस धारणम् महदित्यर्थः। अतिमानुषं मानुषमतिक्रम्य वर्तत इति। अपरि माणं परिमाणरहितम्। औदार्यमुदारस्य भावस्तथा। अस्त्रकौशलमस्त्र कुशलता। शिल्पज्ञानं रचनाज्ञानम्। अविषह्यं सोढुमशक्यम्। अभ्य मित्रीणम् अमित्रान् शत्रूनभिमुखमलं गच्छतीति तथा। 'अस्यमित्रा च' (पा. ५।२।१७) इति चकारात्खः। संनिपातिन एकत्रावस्थिताः चिरबिल्वद्रुमो विषद्रुमः। प्रह्वाणामनुरागवताम्। पित्र्यं पितुरिदम् संशयः संदेहः।

(४९) तच्चापि श्रुत्वा भूयोभूयश्चोपधाभिर्विशोध्य तं मे मतिसहायमकरवम्। तत्सखश्च सत्यशौचयुक्तान् मात्यान्विविधव्यञ्जनांश्च गूढपुरुषानुदपादयम्। तेभ्यश्चो पलभ्य लुब्धसमृद्धमत्युत्सिक्तमविधेयप्रायं च प्रकृतिमण्डल मलुब्धतामभिख्यापयन् धार्मिकत्वमुद्भावयन्, नास्तिकान् दर्थयन्, कण्टकान्विशोधयन्, अमित्रोपधीरपघ्नन्, चातुर्वर्ण्यं च स्वधर्मकर्मसु स्थापयन्, अभिसमाहरेयमर्थान्, अर्थमूला हि

दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः, न चान्यदस्ति पापिष्ठं तत्र दौर्बल्यात् इत्याकलय्य योगानन्वतिष्ठम् ॥

इति श्रीदण्डिनः कृतौ दशकुमारचरिते विश्रुतचरितं नामाष्टम उच्छ्वासः ।

(४९) ऐसा सुन कर बार-बार उपधा (राजनीतिक उपायों) से उसकी परीक्षा करके मैंने उसे अपना सहायक मंत्री बना लिया। तदनन्तर उसकी सहायता से सत्य और शौच से युक्त मंत्रियों को तथा तरह-तरह की वेशभूषा में छिपे हुए गुप्तचरों को राजसेवा के कार्य में नियुक्त किया। उनकी सहायता से यह जान कर कि प्रजा में कौन लालची, कौन धनी, कौन अहंकारी, और कौन अक्सर आज्ञा का उल्लंघन करने वाला हैं, (मैंने सोचा कि) अब मुझे धार्मिकता की भावना जगाते हुए, नास्तिकों को पीड़ित करते हुए, काँटों (विरोधियों) को साफ करते हुए, शत्रुओं के गुप्त षड्यंत्रों को कुचलते हुए, चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) को अपने-अपने धर्म-कर्मों में स्थापित करते हुए, अर्थ (राजस्व या धन) एकत्रित करना चाहिए। क्योंकि राजनीति में प्रतिपादित कार्यों का आरम्भ अर्थ पर ही अवलम्बित है। अर्थ (धन) की दुर्बलता (कमी) से बढ़ कर और कोई पाप नहीं है। ऐसा मन में विचार कर मैं अर्थ एकत्रित करने के उपाय करने लगा।

(४९) भूयोभूयो वारंवारम्। उपधाभिः 'उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्' इत्यमरः। तत्सखः स एव सखेति तत्सखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा. ५।४।९१) इति टच्। सत्यं सत्यप्रतिज्ञानम्। शौचं शुद्धिः। गूढपुरुषान्गुप्तसेवकान्। कण्टकान् रिपून्। अलुब्धतां लुब्धत्वाभावम्। अभिख्यापयन्प्रकटीकुर्वन्। नास्तिकान्नास्तिक्ययुक्तान्। चातुर्वर्ण्यं चतुर्णां वर्णानां ब्राह्मणादीनां समाहारश्चातुर्वर्ण्यम्। अर्थमूला अर्थाधीनाः। दौर्बल्याद्दुर्बलस्य भावस्तथा। आकलय्य मनसि कृत्वेत्यर्थः। योगा-

न्विविधोपायान्, 'योगो युक्तौ च संगत्यां कार्मणालभ्यलाभयोः। दै दाढर्चे प्रयोगे च विष्कम्भादौ तथात्मनि' ॥ 'उपाये भेषजे विड्रू (?) दृंष्टिसंनहने घने। विश्रब्धघातिनि ध्याने युक्तिन्याये च योजने। इति महीपः ॥

इति श्रीसकलशास्त्रार्थसार्थकीकृतशेमुषीविलासरससान्द्रप्रवर्तितासंख्यय समुद्रविद्वत्परिषच्चन्द्रयतीन्द्रसर्वविद्यानिधानश्रीमत्कवीन्द्राचार्यसरस्वती-कृतायां दशकुमारव्याख्यायां पदचन्द्रिकाभिधायां विश्रुतचरितं नामाष्ट उच्छ्वासः ॥

शुकनासोपदेशः

एवं समतिक्रामत्सु दिवसेषु राजा चन्द्रापीडस्य यौवराज्याभिषेकं चिकीर्षुः प्रतीहारानुपकरणसंभारसंग्रहार्थमादिदेश । समुपस्थितयौवराज्याभिषेकं च तं कदाचिद्दर्शनार्थमागतमारूढविनयमपि विनीततरमिच्छन् शुकनासः सविस्तरमुवाच—

इस प्रकार दिन व्यतीत होने पर चन्द्रापीड के यौवराज्य के अभिषेक (स्नान) को चाहने वाले राजा ने अभिषेकयोग्य वस्तुओं के समूह को एकत्रित करने के लिए प्रतिहारों (द्वारपालों) को आज्ञा दी। फिर जिसका राज्याभिषेक समीप आ गया था और जो अचानक शुकनास के दर्शन के लिए वहाँ आया था—ऐसे चन्द्रापीड को पहले से विनम्र होने पर भी उसे और अधिक विनीत बनाने की इच्छा करता हुआ शुकनास (मंत्री) विस्तारपूर्वक कहने लगा—(उपदेश देने लगा)—

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण समतिक्रामत्सु गच्छत्सु दिवसेषु राजा तारापीडश्चन्द्रापीडस्य यौवराज्ये योऽभिषेकस्तं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः प्रतीहारान् द्वारपालानुपकरणस्य स्नानयोग्यसामग्र्याः संभारः समूहस्तस्य संग्रहार्थमानयनार्थमादिदेश आज्ञां दत्तवान् । समिति । समुपस्थितः संजातो यौवराज्याभिषेको यस्य स तम् । कदाचित् कस्मिंश्चित् समये दर्शनार्थमवलोकनार्थमागतं प्राप्तमारूढविनयमपि संप्राप्तविनयमपि । किञ्चिन्निगूढाभिप्रायः । विनीततरं विनम्रतरमिच्छन् वाञ्छन् शुकनासः सविस्तरं सव्यासमुवाच अब्रवीत् । तदेवाह—

तात चन्द्रापीड, विदितवेदितव्यस्याधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति । केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यम-

रत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभव अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्य परमैश्वर्यतिमिरान्धत्वम् । अशिशिरोपचारहार्योऽतितीव्रो दाहज्वरोष्मा । सततममूलमन्त्रगम्यो विषमो विषयविषास्वा मोहः। नित्यस्नानशौचवध्यो रागमलावलेपः। अजस्रमक्षपा सानप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसंनिपातनिद्रा भवतीति विस्तरे भिधीयसे ।

प्यारे चन्द्रापीड, जानने योग्य बातों को जानने वाले तथा सब शास्त्र को पढ़े हुए तेरे लिए उपदेश देने योग्य तनिक भी नहीं है। किन्तु केव (यही कहना है कि) यौवन से उत्पन्न तमोगुणरूपी अन्धकार स्वभाव ही ऐसा है कि सूर्य के द्वारा हटाया नहीं जा सकता, रत्नों के प्रकाश से न नहीं किया जा सकता, दीपक की कान्ति से दूर नहीं किया जा सकता, अत (सब अन्धकारों से) अत्यन्त घना है। धन-सम्पत्ति से उत्पन्न होने वा मत्तता समय की अवधि से समाप्त नहीं होती अतएव (मदिरा आदि पान की मत्तता से भी) विकट है। प्रभुत्वरूपी तिमिर (आँख का रोग से होने वाली अन्धता, अंजन की बत्ती के लगाने से भी नहीं हटती अतएव (वास्तविक अन्धरोग मोतियाबिन्द आदि से) विलक्षण और कष्ट दायक होती है। धनाभिमानरूपी जलाने वाले ज्वर की गर्मी शीतल उ चारों से भी नष्ट नहीं होती, अतएव अत्यन्त तीव्र होती है। विषय (रू रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) रूपी विष के भक्षण से होने वाली, मूर्च्छा जड़ी बूटियों तथा (विष को उतारने वाले) मंत्रों के निरन्तर प्रयोग से भी निवार नहीं की जा सकती, अतएव बड़ी विकट होती है। विषयासक्ति-रूपी म का लेप इतना बलवान होता है कि स्नानत था अन्य पवित्रता पैदा करने वा क्रियाओं के नित्य प्रयोग से भी नष्ट नहीं होता। राज्य-सुखरूपी संन्नि (रोगविशेष) से होने वाली नींद निरन्तर बनी रहती है, रात्रि की समा

पर भी नहीं खुलती, अतएव बड़ी गहरी होती है। इसी कारण से तुम्हें विस्तार के साथ कहा जा सकता है।

तातेति सम्बोधनम्। हे पुत्र चन्द्रापीड, ते तवाल्पमपि स्तोकमप्युपदेष्टव्यं वक्तव्यं नास्ति। तत्र हेतुमाह—अधीतेति। अधीतानि पठितानि सर्वशास्त्राणि येन स तथा तस्य। सर्वपदेन नीतिशास्त्रस्यापि परिग्रहः। अधीतशास्त्रत्वेऽपि तत्त्ववित्त्वाभावादुपदेष्टव्यमस्तीत्यत आह। विदितेति विदितं ज्ञातव्यं वेदितव्य शास्त्राभिप्रायो येन तस्य। आशयमुद्घाटयति—केवलं चेति। परं निसर्गत एव स्वभावत एवाभानुभेद्यमसूर्योच्छेद्यम्। अरत्नेति। न रत्नानां मणीनामालोकेनोच्छेद्यं दूरीकर्तुं योग्यम्। अप्रदीपेति। न प्रदीप प्रभया गृहमणिकान्त्यापनेयं दूरीकरणीयम्। अतीति। अतिशयेन निरवधिकतया गहनमलब्धमध्यं यौवनं तारुण्यं ततः प्रभव उत्पत्तिर्यस्यैवंविधं तमोऽज्ञानम्। द्वितीयो लक्ष्मीमदो द्रव्यमदः। अपरीति। न विद्यते परिणामेनोपशमो यस्य सः। अयं भावः—परिणामेनोपशमः ओषध्यादिषु प्रसिद्धः। विपरीतमत्र वयःपरिणामेऽपि नोपशमः। दारुणो भयावहः। कष्टं दुःखरूपमपरं तृतीयमैश्वर्यमेव तिमिरमन्धकारं तेनान्धत्वं गताक्षत्वम्। अनञ्जनेति। अञ्जनवर्तिविडालादिवसाञ्जनवर्तिस्तया तिमिरान्धत्वं विनश्यति। तदुक्तम्—'अन्धकारे महाघोरे रात्रौ पठति पुस्तकम्' इति पदं वाञ्जनवर्तेरपि न साध्यम्। न निवर्तयितुं शक्यमिति भावः। अशिशिरेति। न शिशिरैः शीतलैरुपचारैश्चन्दनादिभिर्हार्यः परिहर्तुं योग्यः अत्यन्तमतिशयेन तीव्रः कठिनो दर्पोऽभिमानः स एव दाहज्वरस्तीव्रतापस्तस्योष्मा घर्मः। सततेति। सततं निरन्तरं मूलमन्त्रैरगम्यो निर्वर्तयितुमशक्यः। मूलमन्त्रेत्युपलक्षणम्। तेन मणिमधुकरादिविषोत्तारणहेतूनां सर्वेषामपि संग्रहः। विषमः कठिनो विषयाः स्रक्चन्दनादयस्त एव विषं गरलं तस्यास्वादो भक्षणं तस्माद्यो मोहो मूर्च्छा। नित्यमिति। नित्यं सर्वदा स्नानमाप्लवः, शौचं शुचिक्रिया, ताभ्यां न वध्यो न विनाश्य एवंविधो रागो विषयाभिलाषः स एव मलः पङ्कस्तस्यावलेपः संपर्कः। अजस्रमिति।

अजस्रं निरन्तरं न विद्यते क्षयावसाने रात्र्यन्ते प्रबोधो विनिद्रत्वं यस्याः दृशी घोरा च राज्याधिपत्यस्य यत्सुखं सातं तस्य संनिपातः संघातः सा निद्रा प्रमीला भवतीति हेतोर्विस्तरेण वारं वारमभिधीयसे। वक्तव्योऽ त्यर्थः।

गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा। अविनयानामेकैकमप्ये मायतनम्, किमुत समवायः। यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजल प्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागेव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्क समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः इन्द्रियहरिणहारिणी च सततदुरन्तेयमुपभोगमृगतृष्णिका नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपा ण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः। नशयति दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्तकः पुरुषमत्यासंगो विषयेषु।

जन्म से ही प्राप्त ऐश्वर्य, नया यौवन, अनुपम सौन्दर्य तथा अलौकिक शक्ति—यह सब निश्चय ही अनर्थों की बहुत बड़ी परम्परा है। इनमें एक-एक भी सब प्रकार की बुराइयों का घर है फिर इन सबके समूह का कहना ही क्या! शास्त्ररूपी जल के द्वारा धोये जाने पर निर्मल हुई बुद्धि युवावस्था के प्रारम्भ में (राग-द्वेष आदि के कारण) मैली हो जाती है। युवकों की दृष्टि धवलता (आँखों की सफेदी) को न छोड़ती हुई (विषयासक्ति रूपी) राग (लाली) से रँगी रहती है। यौवन के समय रजोगुण से भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली प्रकृति, अपनी इच्छा से मनुष्य बहुत दूर (अनुचित कर्मों की ओर) तक ऐसे घसीट ले जाती है जैसे के बवंडर को उठाने वाली आँधी सूखे पत्ते को बहुत दूर तक उड़ा ले जा

है। यह विषयोपभोगरूपी मृगतृष्णा, (चक्षु-श्रोत्र आदि) इन्द्रियरूपी मृगों को भटकाने वाली (होती है), और इसका परिणाम सदा बहुत बुरा होता है। नवयौवन के कारण कषायित (राग-द्वेष आदि विकारों से परिपूर्ण स्वभाव वाले (युवकों के) मन को भोग किये जाने वाले वे ही विषय पहले की अपेक्षा अधिक मधुर प्रतीत होते हैं; जैसे आँवला आदि कसैले पदार्थों के चखने से कड़वी जीभ को वही जल स्वाद में मीठा लगने लगता है। बुरे मार्ग की ओर ले जाने वाली विषयों के प्रति घोर आसक्ति पथभ्रष्ट कर देने वाले दिग्भ्रम की तरह पुरुष (युवक) को नष्ट कर देती है।

अपरामप्यनर्थपरंपरां प्रदर्शयन्नाह—गर्भेश्वरेति। गर्भेश्वरत्वं बाल्यावधिकमीश्वरत्वम्, अभिनवयौवनत्वं सर्वाधिकं तारुण्यम्, अप्रतिमं प्रतिनिधिशून्यं रूपं सौन्दर्यम्, अमानुषशक्तित्वं न विद्यते मानुषेषु मनुष्येषु यैवंविधा शक्तिः सामर्थ्यं यस्मिंस्तस्य भावस्तत्त्वम्। चकारः समुच्चयार्थः। इति समाप्तौ। खलु निश्चयेन। इयं महती गरीयसी सर्वा समग्रानर्थपरम्परा कष्टपरंपरा। एषां पूर्वोक्तानामेकैकमप्यविनयानां दुर्बुद्धीनामायतनमास्थानम्, किमुत समवायः। एतेषां समुदायस्य दुर्बुद्धिजनकत्वे किं पुनर्भण्यते। तदुक्तं—'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमनवस्थानं किं पुनस्तच्चतुष्टयम्'। अथ यौवनस्यापि दुर्बुद्धिजनकत्वं प्रदर्शयन्नाह—यौवनेति। यौवनारम्भे तारुण्यप्रारम्भे प्रायो बाहुल्येन शास्त्रमेव जलं पानीयं तेन प्रक्षालनं तेन निर्मला निर्गतो मलोऽबोधो यस्या एवंभूतापि बुद्धिः कालुष्यं बुद्धिवैपरीत्यमुपयाति प्राप्नोति। अन्विति। अनुज्झिता अपरित्यक्ता धवलता श्वेतता ययैवंविधापि यूनां तरुणानां दृष्टिः। सरागैवेति। सह रागेण वर्तमानैव भवति। आत्मेति। आत्मेच्छया स्वेच्छया यौवनसमये तारुण्यक्षणे प्रकृतिः पुरुषं दूरमपहरति। दूरं परिनयतीत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे उपमानमाह—शुष्कमिति। वातानां समूहो वात्या वातकलिकोच्यते। शुष्कपत्रं यथापहरति। उभयोः साम्यमाह—समुद्भूतेति। समुद्भूता रजोगुणेन भ्रान्तिर्भ्रमो यस्याम्। पक्षे रजसां रेणूनां भ्रमो

यस्याम् । इन्द्रियेति । इन्द्रियाण्येव करणान्येव हरिणाः कुरङ्गास्तेषां हारि हरणशीलैस्तादृश्युपभोगोऽङ्गनादिकः स एव मृगतृष्णिका मरुमरीचिः सततं निरन्तरम् । सुखाभिमानोत्पादनाद्दुरन्ता दुःखावसाना । नवे नवयौवनेन प्रत्यग्र-तारुण्येन कषायितं विपरिवर्तितमात्मात्मान्तः यस्यैवंभूतस्य पुरुषस्यास्वाद्यमानानि तान्येव विषयस्वरूपाणि मनसश्चेत् मधुरतराण्यापतन्ति । मधुराण्येव भवन्तीत्यर्थः । अत्रैव दृष्टान्तमाह सलिलेति । यथा कषायद्रव्येण हरीतक्यादिना मधुराण्यपि जला मधुराणि स्युः । 'आत्मानः' इति प्रामादिकः पाठः । विषयेषु स्रक्चन्द वनितादिष्वत्यासङ्गोऽत्यासक्तिः पुरुषमात्मानं नाशयति । क इव दिङ्मोहो दिग्भ्रान्तिरिव । उभयोः सादृश्यमाह—उन्मार्ग इति उन्मार्गं पथो विरुद्धाचारश्च तत्र प्रवर्तकः प्रेरकः ।

भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम् । अपगतमले मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखेनोपदे गुणाः । गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रव स्थितं शूलमभव्यस्य । इतरस्य तु करिण इव शङ्खाभरणमान शोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति । हरत्यतिमलिनमन्धकारमि दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव गुरूपदेशः प्रशमहेतुर्वयःपरिण इव पलितरूपेण शिरसिजजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तं परिणमयति । अयमेव चानास्वादितविषयरसस्य ते काल उ देशस्य । कुसुमशरशरप्रहारजर्जरिते हि हृदि जलमिव गलत्यु दिष्टम् । अकारणं च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं चाविनयस्य चन्दनप्रभवो न दहति किमनलः । किं वा प्रशमहेतुनापि प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा ।

आप जैसे ही लोग उपदेश के योग्य होते हैं । (शास्त्रशिक्षा से मैं

क्रोधादि) दोषों के मैल से शून्य मन में उपदेश के गुणकारी वचन सुगमता से ऐसे प्रवेश करते हैं जैसे स्फटिक मणि (विल्लौर) में चन्द्रमा की किरणें। निर्मल जल के समान गुरु के वचन कल्याणकारी होने पर भी बुरे व्यक्ति के कानों में पड़ कर अतीव पीड़ा उत्पन्न करते हैं। किन्तु (वही गुरु-वचन) दूसरे (बुरे से भिन्न अच्छे व्यक्ति) के (कानों में पड़ कर) उसके मुख की शोभा को इस प्रकार और अधिक बढ़ा देते हैं जिस प्रकार शंख का बना आभूषण हाथी की मुखशोभा बढ़ा देता है। सन्ध्या के समय के चन्द्रमा के समान (गुरु का उपदेश) अत्यन्त मलिन (काम-क्रोधादि) दोषों के समूह को अँधेरे के समान नष्ट कर देता है। प्रशम (इन्द्रियों के निग्रह) का कारण गुरु का उपदेश उसी दोष-समूह को निर्मल करता हुआ गुणों (कामरूपी दोष को धन के कमाने में, क्रोध को दण्ड में, लोभ को स्वर्ग आदि की प्राप्ति) में ऐसे बदल देता है जैसे आयु का ढलना (बुढ़ापा), (काले) बालों के समूह को, पलित (बुढ़ापे में बालों का पक जाना) के रूप में सफेद बना देता है। और फिर तुम्हें आदेश देने का यही उचित समय है क्योंकि अभी तुमने विषयों (कामिनी-आदि भोग्य पदार्थों) के रस का आस्वादन नहीं किया है। कामदेव के बाणों के प्रहार से छिदे हुए हृदय (रूपी घड़े) से गुरु का उपदेश जल के समान टपक जाता है। दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्य का कुल अथवा उसका शास्त्र-ज्ञान विनम्रता का कारण नहीं होता। चन्दन से उत्पन्न होने वाली आग क्या नहीं जलाती? और क्या शान्तिकारक होने पर भी जल से समुद्र की आग (वाडवानल) और अधिक तीव्र नहीं हो जाती?

ततः किमित्यत आह—भवादृशा इति। उपदेशानां शिक्षाणां भाजनानि पात्राणि भवादृशा भवत्सदृशा एव भवन्ति, नान्य इति भावः। उपदेशफलमाह—अपगतेति। अपगतो दूरीभूतः कालुष्यलक्षणो मलो यस्मादेवंभूते मनसि चित्ते उपदेशगुणाः शिक्षागुणाः सुखेनानायासेन विशन्ति प्रवेशं कुर्वन्ति। कस्मिन् क इव। स्फटीति। स्फटिकमणौ रजनिकरश्चन्द्र-

स्तस्य गभस्तयः किरणास्तद्वदिव। दोषे सति किं स्यादित्याह—गुरु
मिति। गुरुवचनं हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टा गुरुस्तस्य वचनं
ममलमपि निर्मलमप्यभव्यस्यासाधोः श्रवणस्थितं कर्णकोटरगतं सन्महू
मुपजनयत्युत्पादयतीत्यर्थः। अत्रार्थेऽनुभवसिद्धं दृष्टान्तमाह—सलि
यथा सलिलं पानीयमतिस्वच्छमपि कर्णगतं महाव्यथाजनकं स्यात्।
भावे त्वाह—इतरस्य त्वधिकतरमाननशोभासमुदयमुपजनयति विदग्ध
क इव। शङ्खो जलजस्तस्याभरणं भूषणं करिण इव हस्तिन इव।
दृष्टिदोषबाधनार्थं शङ्खाभरणं कर्णे बध्यत इति लोकरीतिः।
मलिनमतिश्यामं दोषजातं दूषणसमूहमन्धकारमिव तिमिरमिव
दूरीकरोति। क इव। प्रदोषसमयनिशाकर इव यामिनीमुखचन्द्रोदय
प्रकारान्तरेणाह—प्रशम इति।—प्रशमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहस्तद्धेतुर्गुण
शिरसिजजालं शिरोरुहभारममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिण
परिपाकं नयति। क इव। वयःपरिणाम इवावस्थापरिणतिरिव।
सोऽपि शिरसिजजालं केशसमूहं पलितरूपेणामलीकुर्वंस्तदेव शिरसिज
गुणरूपेण परिणमयति। तन्निदानमेव प्रथमे वयसि किमुपदेशेन
आह—अयमिति। अयमेव नापरस्ते तवोपदेशस्य कालः शिक्षाप्रदानसम
अत्रार्थे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—अनास्वादीति। न विद्यते आस्वादोऽनु
यस्यैवंविधो विषयरसो यस्य तथा तस्य। आस्वादितविषयस्य तूप
निरर्थकः स्यादित्याह—कुसुमेति। हि निश्चितम्। कुसुमशरः कं
स्तस्य बाणास्तेषां प्रहारा अभिघातास्तैर्जर्जरिते शिथिलीभूते हृद
ष्टमुपदेशविषयीकृतं जलमिव गलति क्षरति विनश्यति। निरर्थकं भव
त्यर्थः। दोषान्तरमाह—अकारणं चेति। उपशमादिकार्यजनकं
भवतीत्यर्थः। ननु मदनशरप्रहारजर्जरितहृदयस्योपदेशाभावेऽप्युपदेश
प्रशमादिकं सर्वमन्वयो वंशः, श्रुतं च शास्त्रम्, ताभ्यामेव भविष्य
त्याशयेनाह—दुष्प्रकृतेरिति। दुष्प्रकृतेर्दुरात्मनस्तादृशहृदयस्या
श्रुतं चाविनयस्य हेतोर्भवति। न तु विनयायेत्यर्थः। ननु सुवंश
कथमविनये प्रवृत्तिरित्यत आह—चन्दनेति। चन्दनं मलयजं त

त्प्रभवो यस्यैवंभूतोऽनलो वह्निः किं न दहति न भस्मीकरोति। परस्पर-संघर्षदोषे सति चन्दनात्समुत्थितोऽग्निर्दहत्येवेति। ननु प्रशमहेतुभूताच्छ्रुतात् कथमविनयोत्पत्तिरित्यत आह—किं वेति। प्रशमहेतुनापि वारिणा किं वडवानलो वाडवाग्निस्तोयधेः प्रादुर्भवति, सर्वलोकविनाशाय सर्वदा महासमुद्रे तिष्ठति; यस्य वडवामुख इति प्रसिद्धिः। न प्रचण्डतरीभवति प्रबलतरो न स्यात्।

गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षममजलं स्नानम्, अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारोपित-मेदोदोषं गुरूकरणम् असुवर्णविरचनमग्राम्यं कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः।

गुरु का उपदेश पुरुषों के लिए ऐसा बिना जल का स्नान है जो सारे मैल को धो सकता है। वह बिना बुढ़ापे के ही ऐसी वृद्धता है जिसमें पलित (बाल सफेद होना) आदि के कारण कुरूपता नहीं उत्पन्न होती। वह एक ऐसा भारीपन है जो चर्बी बढ़ने के दोष से मुक्त है। वह ऐसा कानों का आभूषण है जो सोने से नहीं बना है और जो ग्राम्यता के दोष से रहित है। यह ऐसा प्रकाश है जिसमें सूर्य-अग्नि आदि प्रकाशकों का प्रकाश नहीं है। वह ऐसा जागरण है जो बेचैनी उत्पन्न नहीं करता।

अथ प्रकारान्तरेण गुरुवचनमाहात्म्यं वर्णयन्नाह—गुर्विति। नामेति कोमलामंत्रणे। गुरूणां हिताहितप्राप्ति-परिहारोपदेष्टृणामुपदेशः शिक्षा पुरुषाणाम्। अजलं जलव्यतिरेकेणापि स्नानमाप्लवः। कीदृशम्। अखिलः समग्रो यो मलः कालुष्यं तस्य प्रक्षालनं शुचीकरणं तत्र क्षमं समर्थम्। अन्विति। अनुपजातमनुत्पन्नं पलितं पाण्डुरः कचस्तदादि वैरूप्यं यस्मिन्नेतादृशम्। अजरमिति। जराव्यतिरेकेण वृद्धत्वं स्थविर-त्वम्। अनेति। नारोपितः स्वीकृतो मेदोदोषो येनैवंभूतं गुरूकरणं स्थली-भवनम्। मेदोदोषेण स्थूलता भवतीति सर्वत्र प्रसिद्धम्। तथायं न भवतीत्यर्थः। असुवेति। न विद्यते सुवर्णस्य कनकस्य विरचनं यस्मिन्नेवं-

भूतमग्राम्यं प्रशंसनीयं कर्णाभरणं श्रवणविभूषणम्। अतीतेति। क्षं गतो ज्योतिः प्रकाशो यस्मादेवंभूत आलोक उद्योतः। न उद्वेगो संतापजनकः प्रजागरो जागरणम्।

विशेषेण राज्ञाम्। विरला हि तेषामुपदेष्टारः। प्रतिशब्द इव राजवचनमनुगच्छति जनो भयात्। उद्दामदर्पश्वयथुस्थगि श्रवणविवराश्चोपदिश्यमानमपि ते न शृण्वन्ति। शृण्वन्तोऽ च गजनिमीलितेनावधीरयन्तः खेदयन्ति हितोपदेशदायि गुरून्। अहंकारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि रा प्रकृतिः अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि, राज्यविषविका तन्द्राप्रदा राजलक्ष्मीः।

विशेष करके राजाओं के लिए (यह अत्यन्त लाभकारी है।) राजा को उपदेश देने वाले लोग बहुत कम होते हैं क्योंकि लोग भय के का प्रतिध्वनि के समान राजा के वचन का अनुसरण करते हैं (रा की हाँ में हाँ मिलाते हैं)। वे राजा, जिनके कानों के छिद्र प्रचण्ड अभिम रूपी सूजन से मुँद गए हैं, दिये जाते हुए उपदेश को भी नहीं सुनते हैं और सुनते हुए भी गजनिमीलित (हाथी का उपेक्षा से आँखें बन्द करना के समान (दिये हुए उपदेश की) उपेक्षा करते हुए भलाई का उपदेश दे वाले गुरुओं को कष्ट पहुँचाते हैं। राजाओं का स्वभाव ऐसा है कि व अहङ्काररूपी दाहज्वर की बेहोशी से अन्धा बना हुआ व्याकुलता से परि रहता है। धन तो झूठा अभिमान और उन्मत्तता को उत्पन्न करने वा होते हैं। राजलक्ष्मी राज्य रूपी विषविकार (जहरीले पदार्थों के सेवन शरीर पर होने वाले प्रभाव) से होनेवाली तन्द्रा (आलस्य) को उत्प करती है।

केवलं तवैव नायमुपदेश इत्यत आह—विशेषेणति। राज्ञां भूभु मयमुपदेशो विशेषेणाधिक्येन प्रदातव्य इति भावः। राज्ञामनेक उपदेष्टार

किं तवोपदेशेनेत्यत आह—विरलेति। हि निश्चितम्। तेषां राज्ञामुपदेष्टार विवक्षितोऽस्मदादिः, न त्वन्यो जनः। तदेव प्रदर्शयन्नाह—प्रतिशब्दक इवेति। जनो लोको भयाद् भीते राजवचनं नृपवचोऽनुगच्छति नृपवचनानुगो भवति। न तु प्रत्युत्तरं दातुं समर्थ इति भावः। क इव। प्रतिशब्दक इव प्रतिध्वनिरिव। यथा सोऽपि मूलशब्दसामान्येनानुगच्छति। केषाञ्चिदुपदेशश्रवणमेव नास्तीत्यत आह—उद्दामेति। उद्दाम उत्कटो दर्पोऽहङ्कारो येषां ते च। पृथु यथा स्यात्तथा स्थगितान्याच्छादितानि श्रवणविवराणि कर्णछिद्राणि येषां ते च ते। द्वौ चकारावेककालं सूचयतः। एवंविधा राजान उपदिश्यमानमपि कथ्यमानमपि हितोपदेशमिति न शृण्वन्ति नाकर्णयन्ति। कदाचिच्छृण्वन्तोऽप्याकर्णयन्तोऽपि गजो हस्ती तस्य यन्निमीलितं नेत्रसंकोचस्तद्वन्निमीलितेनावधीरयन्तोऽनादरं कुर्वन्तः। हितोपदेशदायिनः शिक्षाकथकान् गुरून् खेदयन्ति। दुःखं प्रापयन्तीत्यर्थः। अथ नृपस्वभावं प्रदर्शयन्नाह—राजेति। हि निश्चितम्। एतादृशी राजप्रकृती राज्ञां स्वभावो विह्वला व्याकुला। अहमिति। अहंकार एव दाहज्वरस्तीव्रतापस्तद्धेतुका या मूर्च्छा मोहस्तयान्धकारितान्धकार इवाचरिता। धनराज्यलक्ष्म्याः स्वरूपं प्रदर्शयन्नाह—अलीकेति। अलीकोऽवास्तवो योऽभिमानोऽहंकार उन्मादश्च तावुभौ कुर्वन्तीति तान्येवंविधानि धनानि द्रव्याणि। राज्यमिति। राज्यमेव विषं गरलं तस्माद्यो विकारो विकृतिस्तेन कृत्वा तन्द्रालस्यं तत्प्रदा राजलक्ष्मी राज्यश्रीः।

आलोकयतु तावत्कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्। इयं हि खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात्पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्यम्, इत्येतानि सहवासपरिचयवशाद् विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वैवोद्गता।

कल्याण के अत्यन्त इच्छुक (आप) पहले लक्ष्मी को ही देखें। वारों के समूह-रूपी कमलवन में विचरण करने वाली यह भ्रमरी (भौं लक्ष्मी, दूध के समुद्र से (जन्म लेते हुए वहाँ के साथियों में) कल्पवृक्ष पत्तों से (अपने लिए लोकानुराग रूपी) लालिमा, चन्द्रमा की कला (अत्यन्त दुर्व्यवहाररूपी) अत्यन्त कुटिलता (टेढ़ापन), उच्चैःश्र (नामक अश्व) से अस्थिरता, कालकूट (नामक भयंकर) विष से दू को अपने वश में करने की शक्ति, मदिरा से मादकता, कौस्तुभ नाम मणि से कठोरता, एक साथ रहने के परिचय के कारण, (उनके) वि को हल्का करने वाले इन चिन्ह्नों को मानो (उनसे) लेकर (समुद्र निकली हो ।

नेदं पूर्वोक्तमतथ्यं किंतु सत्यमेवेत्याह—आलोकयत्विति। कल्या मङ्गलेऽभिनिवेश आग्रहो यस्यैवंभूतस्त्वं तावदादौ लक्ष्मीमेव प्रथमालोक विचारयतु। लक्ष्मीदोषानाह—इयमिति। हि निश्चितम्। इयं प्रत्य पलभ्यमाना खड्गानां कौक्षेयकाणां यन्मण्डलं संघातस्तदेव कृष्णत्वसाम्य दुत्पलवनं तत्र विभ्रमोऽवस्थितिस्तस्मिश्चञ्चलत्वसाम्याद् भ्रमरी मधुक लक्ष्मीः। पुनर्दोषान्तरं प्रदर्शयन्नाह—क्षीरेति। यदा कश्चिद्दूरदेशान गन्तुमीहते तदासौ च सहवासिस्मृतिहेतोस्तदीयं किञ्चिद् वस्त्वादा गच्छति, तथेयमपि सहवासजनितो यः परिचयः सम्बन्धविशेषस्तद्व त्सहवासिपारिजातादीनामित्येतानि वस्तूनि गृहीत्वैवादायैव क्षीरसाग द्दुग्धाम्बुधेरुद्गता प्रादुर्भूता। कीदृशानि। विरहः सहवासिभिरसंबन्धस स्मिन्विनोदचिह्नानि चित्तालम्बनलक्षणानि। एतानि कानीत्यपेक्षा माह—पारीति। पारिजातपल्लवेभ्यो मन्दारकिसलयेभ्यो रागं विष लिप्सामारुण्यं च। इन्दुशकलाच्चन्द्रलेखादेकान्तवक्रतां कुटिलतां प्राति कूल्यं च। उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वाच्चञ्चलतां चित्तास्थैर्यं चाञ्चल्यं च कालकूटात् कालकूटनाम्नो विषान्मोहनशक्तिं मूर्च्छोत्पादकशक्तिमन्य वशीकरणशक्तिं च। मदिरायाः कादम्बर्या मदमुन्मादत्वमुन्मोहसंभे लक्षणं च। कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्यं काठिन्यं निर्दयत्वं चेति।

न ह्येवंविधमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते। दृढगुणसन्दाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति। उद्दामदर्पभटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जरविधृता-प्यपक्रामति। मदजलदुर्दिनान्धकारगजघटितघनघटापरि-पालितापि प्रपलायते।

इस संसार में ऐसा अपरिचित (पिछली जान-पहचान को भूल जाने वाला) कोई नहीं है जैसी यह दुष्टा (लक्ष्मी) है। प्राप्त कर लेने पर भी इसे कष्ट से सँभाला जाता है। दृढ़ गुणों (सन्धि-विग्रहादि) की जंजीर से बाँधी जाने पर भी यह भाग जाती है। प्रचण्ड अभिमान वाले हजारों वीरों द्वारा उठाई हुई तलवारों के पिंजरे में जकड़ी हुई भी (वहाँ से) निकल जाती है। (गण्डस्थल से टपकने वाले) मद-जल रूपी दुर्दिन (वर्षा का दिन) से अँधेरा कर देने वाली हाथी रूपी बादलों की घटा से संरक्षित किये जाने पर भी भाग जाती है।

अथ लक्ष्म्यास्तत्सहितस्यापि राज्ञो निन्दां कुर्वन्नाह—न हीति। इह जगत्येवंविधमेतादृशमपरिचितं निर्दाक्षिण्यं किञ्चिन्नास्ति यथेयमना-र्यश्रेष्ठा वर्तते। एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—लब्धेति। लब्धापि महता कष्टेन प्राप्तापि दुःखेन परिपाल्यते परिपालनविषयीक्रियते। दृढं गाढं गुणाः शौर्यादयस्तल्लक्षणं यत्संदानं बन्धनं तेन निष्पन्दीकृतापि निश्चलीकृतापि नश्यति प्रपलायते। उद्दामेति। उद्दाम उत्कटो दर्पोऽहंकारो येषामेवं-भूता ये भटा योद्धारस्तेषां सहस्रं तेन उल्लासिता ऊर्ध्वीकृता या असि-लतास्ता एव पञ्जरं तत्र विधृतापि स्थापिताप्यपक्रामत्यपसरति। मदेति। मदजलं दानवारि तदेव श्यामत्वसाधर्म्याद्दुर्दिनान्धकारस्तद्युक्ता ये गजा हस्तिनस्तैर्घटिता निष्पादिता या घना निबिडा घटा समूहस्तया परिपालितापि रक्षितापि प्रपलायते पलायनं करोति।

न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते।

न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति न श्रुतमाकर्णयति। न धर्ममनुरुध्यते। न त्यागमाद्रियते न विशेषज्ञतां विचारयति। नाचारं पालयति। न सत्यमनुबुध्यते। न लक्षणं प्रमाणीकरोति। गन्धर्वनगरलेखे पश्यत एव नश्यति।

यह (लक्ष्मी) न तो परिचय (जान-पहचान) की परवाह करती है। न (किसी के) अभिजन (अच्छे कुल) को देखती है। न सौन्दर्य देखती है, न वंश-परम्परा का अनुसरण करती है। न शील को देखती है। न किसी की चतुरता को गिनती है। न शास्त्र सुनती है। न धर्म का अनुरोध मानती है। न त्याग का आदर करती है। न विशेषज्ञता (किसी बात को विशेष रूप में जानना) का विचार करती है। न सदाचार का पालन करती है। न सत्य को जानती है। और न लक्षण (ज्योतिष या सामुद्रिक शास्त्र में कहे गए सौभाग्य के चिह्न) को प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है। गन्धर्व-नगर (दृष्टिदोष से आकाश में दिखाई देने वाला झूठमूठ का नगर) की रेखा के समान देखते ही देखते नष्ट हो जाती है।

नेति। परिचयं संस्तवं न रक्षति न पालयति। नेति। अभिजनं कुलं नेक्षते नावलोकयति। नेति। रूपं सौन्दर्यं न आलोकयते अवलोकयति। नेति। कुलक्रमं कुलपरिपाटीं नानुवर्तते नानुगच्छति। नेति। शील-माचारं न पश्यति नावलोकयति। नेति। वैदग्ध्यं पाण्डित्यं न गणयति न विचारयति। नेति। श्रुतं शास्त्रं नाकर्णयति न श्रृणोति। नेति। धर्मं वृषं नानुरुध्यते धर्मानुरोधेनैव न प्रवर्तते, अधर्मवतामपि गृहे तद्दर्शनात्। नेति। त्यागं दानं प्रति नाद्रियते नादरं करोति। कृपणसद्मन्यपि दर्शनात्। नेति। विशेषज्ञतां विशेषेण सर्वार्थवेदितां न विचारयति न विचारणं करोति। यत एव विद्वांसो दरिद्रतोपद्रुताः स्युरिति प्रसिद्धिः। नेति। आचारं

शिष्टानुचरितं मार्गं न पालयति न रक्षति। लक्ष्मीवतोऽपि प्रायः शिष्टाचरणदर्शनात्। नेति। सत्यमवितथं नानुबुध्यते न जानाति। असत्यवतोऽपि गृहे बाहुल्येन दर्शनात्। नेति। लक्षणं मषीतिलकादि सामुद्रिकशास्त्रप्रतिपादितं न प्रमाणीकरोति, लक्षणसत्त्वेऽपि तस्या अभावदर्शनात्। गन्धर्वेति। गन्धर्वनगरलेखा हरिश्चन्द्रपुरीति यस्याः प्रसिद्धिः। असद्वस्तुभ्रमो वा। तद्वदेव पश्यत एवावलोकयत एव पुरुषस्य नश्यति विनश्यति।

अद्याप्यारूढमन्दरपरिवर्तावर्तभ्रान्तिजनितसंस्कारेव परिभ्रमति। कमलिनीसंचरणव्यतिकरलग्ननलिननालकण्टकेव न क्वचिदपि निर्भरमाबध्नाति पदम्। अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविधगन्धगजगण्डमधुपानमत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारा सुनिवसति। विश्वरूपत्वमिव ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्तिम्, अप्रत्ययबहुला च दिवसान्तकमलमिव समुपचितमूलदण्डकोशमण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्, लतेव विटपकानध्यारोहति।

मानो मन्दर (वह पर्वत जिससे देवासुरों ने समुद्र को मथा था) पर्वत के घूमने से उत्पन्न (जल के) भँवर के साथ-साथ घूमने के संस्कार के कारण आज भी घूमती है। कमलों के वन में विचरण के सम्बन्ध से चुभे हुए कमलों के नाल के काँटों से पीड़ित होने के कारण मानो कहीं भी स्थिरता से पैर नहीं जमाती है। महाराजाओं के भवनों में बड़े प्रयत्न से रोके जाने पर भी, अनेक प्रकार के गन्ध-गजों (मत्त हाथियों) की कनपुटियों से (टपकने वाले) मद के पान से मानो मत्त बनी हुई (वहाँ से) खिसक जाती है। कठोरता सीखने के लिए ही मानो तलवार की धारों में रहती है। विश्वरूपता (सर्वव्यापक रूप) को धारण करने के लिए मानो (इसने) नारायण (विष्णु) की मूर्ति का आश्रय लिया हो। (यह) लक्ष्मी अत्यधिक अविश्वसनीय है क्योंकि पूरी तरह विकसित हुए जड़, नाल,

कोश (भीतरी भाग) और मण्डल (विस्तार) वाले सन्ध्याकालीन कमल के समान, पूर्णतया वृद्धि को प्राप्त हुए मूल (सैन्यशक्ति), दण्डशक्ति, कोश और परिमण्डल (राष्ट्र) वाले राजा का भी परित्याग कर देती है। जैसे लता वृक्षों पर चढ़ जाती है वैसे ही यह नीच कामुकों का आश्रय लेती है।

अद्यापीति। अद्यापि इदानीमप्यारूढः प्राप्तो यो मन्दरेण मेरुणा परिवर्तः परिभ्रमस्तज्जनितो य आवर्तः पयसां भ्रमस्तस्माद्या भ्रान्तिर्भ्रमि-स्तज्जनितः संस्कारो वेगाख्यो यस्या एवंविधेव परिभ्रमति परिभ्रमणं करोति। क्वचिदपीति। क्वापि स्थले निर्भरं निश्चलं पदं नाववध्नाति न निदधाति। अत एवोत्प्रेक्षते—लक्ष्म्याः कमलवासस्य प्रसिद्धत्वात् कमलिनीषु संचरणव्यतिकरः सम्बन्धः तेन लग्ना नलिननालकण्टका यस्याः सैवंविधेव। यथा भग्नकण्टका भूमौ निश्चलपदं न दत्ते तथेय-मपीत्यर्थः। अतिप्रयत्नेनातिप्रयासेन विधृतापि स्थिरीकृतापि परमेश्वर-गृहेषूत्कृष्टेभ्यसद्मसु परिस्खलति स्खलनां प्राप्नोति। विविधा ये गन्धगजा गन्धेभास्तेषां गण्डाः करास्तेषां मधु मदस्तस्य पानमास्वादस्तेन मत्ता क्षीबेव। ननु परमेश्वरगृहे गजास्तिष्ठन्तीति कृत्वा तन्मधुपानमत्ताया स्खलनं भवतु परं साधुगृहेष्वपरिस्खलिता कुतो न तिष्ठतीत्यत आह—पारुष्यमिति। पारुष्यं क्रूरत्वमिवोपशिक्षितुमभ्यसितुमसिधारासु खड्गधारासु निवसति निवासं करोति। ययासिधारासु क्रौर्यशिक्षणं कृतं सा क्रूरा साधु-गृहेषु कथं तिष्ठतीति भावः। विश्वं प्रविष्टं यस्मिन् रूपे तत्। अथवा विश्वेन रूप्यते निरूप्यते यद्रूपं तद्विश्वरूपं तस्य भावस्तत्त्वं तदिव गृहीतं नारायणमूर्तिं जनार्दनशरीरमाश्रिताधिगता। अप्रत्ययेति। अप्रत्ययो ऽविश्वासो बहुलो यस्यामेवंभूता सती।। दिवसान्ते यथा कमलं स्वाश्रयं मुञ्चति तथा स्वाश्रयीभूतं भूभुजमपि। तत्रोभयोः साम्यमाह—समीति। सम्यक् प्रकारेणोपचितानि वृद्धिं प्राप्तानि। अथ च समुपचितं वर्धमानं मूलं मित्रादिमूलकन्दः, दण्डो नालम्, कोशः कमलाभ्यन्तरम्, मण्ड-

पारिमाण्डल्यम्, एतानि यस्येति विग्रहः। दण्डः करः, कोशो भाण्डागारः, मण्डलं देशो यस्य। 'मण्डलं द्वादशराजकम्' इत्येकस्य। 'विजिगीषुरुदासीनो मध्यमश्चेति राजकम्। गुणानां विषयं वृद्धा जगुः प्रकृतिमण्डलम्। पार्ष्णिराक्रन्द आसारः' इत्यपि। 'तदेवं शक्रमित्यादिभेदा द्वादश इष्यते। मण्डलं द्वादशराजकम्' इत्यन्ये। लता वल्ली सेव विटा भाण्डादयस्तान् पान्तीति विटपाः। विटपा एव विटपकाः। स्वार्थे कप्रत्ययः। पक्षे विटपा वृक्षाः। विटपानध्यारोहत्याश्रयणं करोति।

गङ्गेव वसुजनन्यपि तरङ्गबुद्बुदचञ्चला, दिवसकरणगतिरिव प्रकटितविविधसंक्रान्तिः पातालगुहेव तमोबहुला, हिडम्बेव भीमसाहसैकहार्यहृदया, प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी, दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति।

वसुओं (आठ देव विशेष) की माता तथा लहरों और बुलबुलों के कारण चंचल गंगा नदी के समान यह लक्ष्मी धन-सम्पत्ति को जन्म देती हुई भी लहरों और बुलबुलों के समान अस्थिर है। अनेक प्रकार की संक्रान्तियों (मेष, वृष आदि १२ राशियों में गमन) को प्रकट करने वाली, सूर्य की गति के समान, लक्ष्मी भी अनेक प्रकार के लोगों में अपना गमन प्रकट करने वाली है। (अर्थात् एक राशि को छोड़ कर दूसरी राशि में जाने वाले सूर्य की गति के समान लक्ष्मी भी एक व्यक्ति को छोड़ कर दूसरे व्यक्ति के पास चली जाती है।) जिस प्रकार पाताल की गुफा अत्यधिक अन्धकार से परिपूर्ण होती है, वैसे ही यह भी तमोगुण-जनित अज्ञान से भरी रहती है। जिस प्रकार हिडिम्बा राक्षसी का हृदय एकमात्र भीमसेन के साहसिक कर्म से आकृष्ट हुआ था, उसी प्रकार इसका हृदय भी एकमात्र साहस से ही आकृष्ट होता है। बिजली को उत्पन्न करने वाली वर्षा ऋतु के समान यह क्षणिक शोभा पैदा करने वाली है। जिस प्रकार (अपने में) अनेक पुरुषों की ऊँचाई को प्रकट करने वाली दुष्टा राक्षसी निर्बल व्यक्ति को (भय से) उन्मत्त बना देती है, उसी प्रकार अनेक पुरुषों की उन्नति

को प्रदर्शित करती हुई लक्ष्मी भी वुद्धिहीन व्यक्ति को (मद से) पा
वना देती है ।

गङ्गा स्वर्धुनी सेव वसु द्रव्यं तज्जनन्यपि तरंगा भङ्गाः बुद्
स्थासकस्तद्वच्चञ्चला चपला। पक्षे वसोर्भीष्मस्य तरङ्गबुद्बुदा
चाञ्चल्यवती च। दिवसकरः सूर्यस्तस्य या गतिर्गमनं सेव प्रकटि
विष्कृता विविधानेकप्रकारा। संक्रान्तिर्वस्तुनेच्छासंबन्धो यया सा।
राशिषु सूर्यसम्बन्धः। पातालं वडवामुखं तस्य गुहा कन्दरा सेव
गुणस्तेन बहुला दृढा। पक्षे तमोऽन्धकारः हिडम्बेव घटोत्कचप्र
भीमसाहसेनातिकठिनकर्मणैकमद्वितीयं हार्दं हृदयं यस्याः। पक्षे भीम
वृकोदरस्य यः साहसगुणः। प्रावृडिति। प्रावृड् वर्षाकालः सेवा
स्वल्पकालीना या द्युतिः प्रकाशस्तत्कारिणी । पक्षेऽचिरद्युतिर्विद्यु
दुष्टेति। दुष्टा क्रूरा या पिशाची राक्षसी सेव दर्शितः प्रकटीकृतो
पुरुषाणामुच्छ्रायोऽभ्युन्नतिर्यया सा। पक्षे ऊर्ध्वीकृत भुजपाणिनरमानं पुरु
अनेकपुरुषाणामुच्छ्राय उच्चता। एवंभूता लक्ष्मीः स्वल्पसत्त्वमल्पसा
नरमुन्मतीकरोति उन्मत्ततां नयति।

सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति। जनं गुणवन्त
पवित्रमिव न स्पृशति। उदारसत्त्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते
सुजनमनिमित्तमिव न पश्यति। अभिजातमहिमिव लंघयति
शूरं कण्टकमिव परिहरति। दातारं दुःस्वप्नमिव न स्मरति
विनीतं पातकिनमिव नोपसर्पति। मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति

सरस्वती के द्वारा स्वीकृत (विद्या-संपन्न) व्यक्ति को (सपत्नी
समान) मानो ईर्ष्या से आलिङ्गन नहीं करती है। (शौर्य आदि)
से युक्त व्यक्ति को अपवित्र (चाण्डाल) के समान नहीं छूती है। उ
आशय वाले व्यक्ति को अमंगल के समान बहुत नहीं मानती है। स
व्यक्ति को अपशकुन के समान नहीं देखती है। उच्च कुल में जन्म

वाले व्यक्ति का ऐसे उल्लंघन कर जाती है जैसे वह साँप हो। शूरवीर का काँटे के समान परित्याग कर देती है। दानी व्यक्ति का बुरे स्वप्न के समान स्मरण नहीं करती। नम्र व्यक्ति के पास उसे पापी समझ कर नहीं जाती। (स्वाभिमानी) मनस्वी व्यक्ति का पागल के समान उपहास करती है।

सरस्वतीति। सरस्वती भारती तया परिगृहीतं स्वीकृतं नरमीर्ष्ययेव मत्सरेणेव नालिङ्गति नाश्लिष्यति। गुणवन्तं शौर्यादिगुणोपयुक्तं जनं नरमपवित्रमिवापावनमिव न स्पृशति न स्पर्शं करोति। उदारेति। उदारं स्फारं सत्त्वं यस्यैवंविधं पुरुषममङ्गलमिव न बहु मन्यते नादरं करोति। सुजनं शुभजनमनिमित्तमिव निष्फलमिव न पश्यति नावलोकयति। अभिजातं कुलीनमहिमिव सर्पमिव लङ्घयत्युत्क्रामयति। शूरमिति। शूरं शौर्यगुणोपेतं कण्टकमिव परिहरति दूरतस्त्यजति। दातारमिति। दातारं बहुप्रदं दुःस्वप्नमिवाशुभस्वप्नमिव न स्मरति न स्मृतिविषयीकरोति। विनीतमिति। विनीतं विनयगुणोपेतं पातकिनमिव पापकारिणमिव नोपसर्पति न पार्श्वे प्रयाति। मन इति। मनस्विनं पण्डितमुन्मत्तमिव ग्रथिलमिवोपहसति उपहास्यं करोति।

परस्परविरुद्धं चेन्द्रजालमिव दर्शयन्ती प्रकटयति जगति निजं चरितम्। तथाहि। संततमूष्माणमुपजनयन्त्यपि जाड्यमुपजनयति। उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावतामाविष्करोति। तोयराशिसंभवापि तृष्णां संवर्धयति। ईश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतित्वमातनोति। बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटुकविपाका, विग्रहवत्यप्यप्रत्यक्षदर्शना, पुरुषोत्तमरतापि खलजनप्रिया, रेणुमयीव स्वच्छमपि कलुषीकरोति।

यह लक्ष्मी इन्द्रजाल (जादू का खेल) के समान एक-दूसरे से (बातों) को दिखाती हुई संसार में अपने [अद्भुत) चरित्र को करती है। जैसे—निरन्तर ऊष्मा (१) गर्मी, (२) धन का मद] करती हुई भी जाड्य [(१) शीतलता, (२) मूर्खता] उत्पन्न करती उन्नति [(१) ऊंचाई, (२) उत्कर्ष] को देती हुई भी नीच [(१) नीचाई, (२) बुरी वृत्ति] को प्रकट करती है। जलराशि (से जन्म लेने पर भी तृष्णा [(१) प्यास, (२) लालच] को बढ़ाती ईश्वरता [(१) शिवत्व, (२) ऐश्वर्य] को धारण करती हुई (अथवा देती हुई भी) अशिव प्रकृति [(१) भगवान् शिव के स्वभाव, (२) बुरे स्वभाव] को फैलाती है। बल (१) शारीरिक (२) सेना) की वृद्धि करती हुई भी लघिमा [(१) हल्कापन, कायरता) लाती है। अमृत के साथ (समुद्र से) उत्पन्न होने पर कटु [(१) कड़वा, (२) दुःखदायी] परिणाम वाली होती है। [(१) मूर्त्ति, (२) युद्ध) वाली होने पर भी आंखों से दिखाई न देने है। उत्तम पुरुष [(१) भगवान् विष्णु, (२) धनी पुरुषों] में रमी पर भी दुष्ट व्यक्तियों को प्यार करती है। मानो रेणु [(१) धूल, रजोगुण] से भरी पूरी सी होकर स्वच्छ [(१) निर्मल, (२) राग दोषों से रहित] मनुष्य को भी मैला कर देती है।

इन्द्रेति। इन्द्रजालमिव कुहकमिव परस्परविरुद्धमन्योन्यान् दर्शयन्ती प्रकाशयन्ती निजमात्मीयं चरितं वृत्तं जगति लोके प्रकट विष्करोति। तदेव दर्शयति—तथा हीति। संततं निरन्तरमूष्माणं मुपजनयन्त्यपि कुर्वत्यपि जाड्यं शैत्यमुपजनयतीति विरोधः तत्परिहारस्तूष्माणं दर्पं शैत्यं जाड्यमित्यर्थात्। उन्नतिमादधा धारयन्त्यपि नीचस्वभावतामाविष्करोतीति विरोधः। तत्परिहारस्तु मुत्कर्षं नीचस्वभावोऽकर्तव्यं कर्मेत्यर्थात्। तोयराशिः समुद्रस्तस्मा भवापि समुत्पन्नापि तृष्णां संवर्धयतीति विरोधः। तत्परिहारस्तु गार्ध्यमित्यर्थात्। ईश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतित्वमनीश्वरप्रकृ

मातनोतीति विरोधः। तत्परिहारस्तु ईश्वरतां प्रभुतामशिवमशुभमित्यर्थात्। बलोपचयमाहरन्त्यप्यानयन्त्यपि लघिमानमापादयतीति विरोधः। तत्परिहारस्तु बलोपचयं सैन्यसमूहं लघिमानं कार्पण्यमित्यर्थात्। अमृतसहोदरापि अमृतेन सहोत्पन्नापि कटुकरसोपेतो विपाको यस्या इति विरोधः। तत्परिहारस्तु कटुको दुःखदायीत्यर्थात्। विग्रहवत्यपि मूर्तिमत्यपि अप्रत्यक्षमगम्यं दर्शनं यस्या इति विरोधः। तत्परिहारस्तु विग्रहवती कलहवतीत्यर्थात्। पुरुषोत्तमरतापि खला ये दुर्जना जनास्ते प्रिया यस्याः इति विरोधः। तत्परिहारस्तु पुरुषोत्तमे कृष्णे रतं मैथुनं यस्या एवंविधापि खलजनानां प्रिया वल्लभेत्यर्थात्। रेणुमयीव रजोगुणमयीव स्वच्छमपि निर्मलमपि कलुषीकरोति मलिनीकरोति।

यथायथा चेयं चपला दीप्यते तथातथा दीपशिखेव कज्जलमलिनेव कर्म केवलमुद्वमति। तथाहि। इयं संवर्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवासजीर्णवलभी धनमदपिशाचिकानाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरःपताका सर्वाविनयानाम्, उत्पत्तिनिम्नगा क्रोधावेगग्राहाणाम्, आपानभूमिर्विषयमधूनाम् संगीतशाला भ्रूविकारनाट्यानाम्, आवासदरी दोषाशीविषाणाम्, उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्, अकालप्रावृड् गुणकलहंसकानाम्, विसर्पणभूमिर्लोकापवादविस्फोटकानाम्, प्रस्तावना कपटनाटकस्य, ।कदलिका कामकरिणः वध्यशाला साधुभावस्य, राहुजिह्वा धर्मेन्दुमण्डलस्य। न हि तं पश्यामि यो ह्यपरिचितयानया न निर्भरमुपगूढः, यो वा न विप्रलब्धः। नियतमियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तमय्यपीन्द्रजालमाचरति, उत्कीर्णापि विप्रलभते, श्रुताप्यभिसंधत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति।

जैसे जैसे यह चपला (लक्ष्मी) चमकती है, वैसे ही वैसे दीपक के के समान काजल-जैसे मैले कर्मों को ही उगलती है। देखिये—यह तृष्णा-रूपी जहरीली बेलों को पनपाने वाली जल की धारा है। इन्द्रियरूपी मृगों को वश में करने के लिए व्याधों का गीत है। आचरण-रूपी चित्रों को मिटाने वाली धुएँ की पंक्ति है। मोहरूपी नींद की विलासशय्या है। धनजन्य अहंकाररूपी राक्षसियों के रहने के लिए पुराना घर है। शास्त्ररूपी नेत्रों के लिए तिमिर (नेत्र रोग) की उत्पत्ति है। सारे दुराचारों की सबसे आगे चलने वाली पताका (झंडी) है। क्रोध के आवेग रूपी मगरमच्छों को जन्म देने वाली नदी है। विषयरूपी मदों की मधुशाला (मदिरा पीने का स्थान) है। भ्रू-विकार (भौंहें तरेरना) रूपी अभिनयों की रङ्गशाला है। दोषरूपी सर्पों के निवास के लिए गुफा है। शिष्ट व्यक्तियों के दया आदि आचरणों को हटाने वाली बेंत की छड़ी है। गुण (दया-दाक्षिण्य आदि) रूपी कलहंसों को (उड़ा देने वाली) असामयिक वर्षा है। लोकनिन्दा-रूपी विस्फोटों (फोड़ों) के फैलने का स्थान है। छलकपटरूपी नाटक की प्रस्तावना (प्रारम्भ) है। काम (मदन) रूपी हाथी के लिए केले का वन है। सौजन्य की वध्यशाला (फाँसी का घर) है। धर्मरूपी चन्द्रमा के मण्डल को ग्रसने के लिए राहु नाम के राक्षस की जीभ है।

निश्चय ही मैं ऐसे (किसी) व्यक्ति को नहीं देखता हूँ जो इस लक्ष्मी के द्वारा कस कर आलिङ्गित न किया गया हो अथवा जो इससे ठगा न गया हो। निश्चय ही यह चित्र में लिखी होने पर भी वहाँ से चली जाती है। पुस्तमयी (मिट्टी या काठ की बनी हुई पुतली का रूप धारण कर लेने पर) भी इन्द्रजाल (जादू के खेल) रचती है। पत्थर में खोदी होने पर भी धोखा देती है। श्रुता (दुराचार का निषेध करने वाले शास्त्र का ज्ञान रखने वाली) होने पर भी बुरा व्यवहार करती है। चिन्तित (व्यापार आदि में लाभ की आशा से भक्ति के साथ ध्यान में लाई जाने पर) भी धोखा देती है।

यथेति। यथा यथेयं लक्ष्मीश्चपला चञ्चला दीप्यते दीप्ता भवति तथा-तथा केवलं दीपशिखेव कज्जलवन्मलिनं कश्मलं कर्मोद्वमत्युद्गिरति। दीपशिखापि कज्जललक्षणं यन्मलिनं कर्म तदेवोद्वमति। तदेव दर्शयति—तथा हीति। तृष्णा लोभस्तल्लक्षणानां विषवल्लीनां संवर्धने विस्तारणे वारिधारा जलश्रेणिः। अत्र श्रीजलधरयोर्वृद्धिहेतुत्वेन साम्यम्। छेद-योग्यतया तृष्णावल्ल्योः साम्यम्। व्याधेति। व्याधगीतिर्मृगवधाजीवि-गानम्। इन्द्रियमृगाणाम् अक्षहरिणानाम्। अत्र नाशकत्वसाम्याच्छ्रीगीत्योः साम्यम्। नाश्यत्वसाम्याच्चाक्षमृगयोः साम्यम्। गानलुब्धाश्च मृगा हन्यन्त इति सर्वप्रसिद्धम्। सच्चरितानि सदाचरणानि तान्वये चित्राणि तेषां परामर्श आचमनं तदर्थं या धूमलेखा धूमपङ्क्तिः। लोकैः कफ-निवृत्त्यर्थं द्रव्यान्तरस्य धूम्रपानं कृत्वा पश्चात् स एवोदीर्यते तत्स्पर्शा-देवालेख्यं विनश्यतीति भावः। मोह इति। मोहो मौढ्यम्, दीर्घनिद्रा निमीलितानि (?) तासां विभ्रमशय्या विलासशयनम्। धनेति। धनानि द्रव्याणि, मदो मुन्मोहसंभेदः त एव पिशाचिन्यस्तासां निवासार्थं जीर्णा प्राचीना वलभी गृहोपरिभागः। तिमिरेति। शास्त्राण्येव दृष्टय-स्तासां तिमिरस्य नेत्ररोगविशेषस्योद्गतिः प्रादुर्भावः। पुर इति। सर्वेषामविनयानां दुर्बुद्धीनां पुरः पताकाग्रे वैजयन्ती। उत्पत्तीति। क्रोधस्य कोपस्य य आवेगाः संभ्रमास्त एव ग्राहा जलजन्तवस्तेषामुत्पत्ति-र्निम्नगा तटिनी। आपानेति। विषया गोचरा एव मधूनि मद्यानि तेषा-मापानभूमिः पानगोष्ठिकास्थलम्। संगीतेति। भ्रुवां विकारा विकृतयस्त एव नाट्यानि तेषां सङ्गीतशाला रङ्गशाला। आवासेति। दोषा एव दूषणान्येव आशीविषा आशी दंष्ट्रा तस्यां विषं येषां त आशी-विषाः सर्पास्तेषामावासार्थं दरी गुहा। उत्सारणेति। सत्पुरुषाः शिष्टा-स्तेषां व्यवहारा आचरणानि तेषामुत्सारणं दूरीकरणं तद्धेतुका वेत्रलता वेत्रयष्टिः। अकालेति। गुणा एव कलहंसाः कादम्बास्तेषामकालप्रावृड्-समयो वर्षाकालः। प्रावृषि हंसा नश्यन्ति। इयं तु सर्वगुणानां विनाश-हेतुरित्यपकर्षस्तु प्रसिद्धिः। विसर्पणेति। लोकेषु येऽपवादा विरोधोक्त-

यस्त एव विस्फोटकाः शिलीन्द्राणि तेषां विसर्पणभूर्मिविस्तरणस्थ प्रस्तावनेति। कपटनाटकस्य कैतवनृत्यस्य प्रस्तावना प्रारम्भः सूत्रधार प्रवेशः। कदलिकेति। कामकरिणो मदनगजस्य कदलिका रम्भा। वध्य साधुभावस्य शोभनाध्यवसायस्य वध्यशाला सूनास्थानम्। राहुजिह्वे धर्मः सदाचारः निर्मलसाम्यात्स एवेन्दुमण्डलं चन्द्रबिम्बं तस्य राहुजि सैंहिकेयरसना।

न हीति। हि निश्चितम् तं पुरुषं न पश्यामि नावलोकयामि। य नित्याभिसंबन्धात्। यः पुमानपरिचितयासंनिहितया निर्भरमनि नोपगूढो नाश्लिष्टः। यो वा न विप्रलब्धो न च विप्रतारितः। नि निश्चितम्। इयं लक्ष्मीरालेख्यगता चित्रलिखितापि चलति न स्थि भवति। अन्येषां चित्तानि चालयतीति वा। पुस्तकेति। पुस्तकम ज्ञानमय्यपि इन्द्रजालवज्जालमाचरति। उत्कीर्णेति। उत्कीर्ण उत्कीरितापि विप्रलभते विप्रतारणां करोति। श्रुतापि आकर्णि अभिसंधत्ते संशयं करोति। चिन्तितापि वञ्चयति वञ्चनां करो

एवंविधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन प गृहीता विक्लवा भवन्ति राजानः, सर्वाविनयाधिष्ठानतां गच्छन्ति। तथा हि। अभिषेकसमय एव चैतेषां मङ्गलकल जलैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्। अग्निकार्यधूमेनेव मलि क्रियते हृदयम्, पुरोहितकुशाग्रसंमार्जनीभिरिवापह्रियते क्षान्ति उष्णीषपट्टबन्धेनेवाच्छाद्यते जरागमनस्मरणम्, आतपत्रम लेनेवापसार्यते परलोकदर्शनम्, चामरपवनैरिवापह्रि सत्यवादिता, वेत्रदण्डैरिवोत्सार्यन्ते गुणाः। जयशब्दकलकला रिव तिरस्क्रियन्ते साधुवादाः, ध्वजपटपल्लवैरिव परामृ यशः।

इस प्रकार के (पूर्वोक्त) बुरे लक्षणों से युक्त इस लक्ष्मी के द्वारा भाग्यवश फँसाए हुये राजा व्याकुल हो जाते हैं और सब प्रकार के दुराचारों का घर बन जाते हैं। जैसे—राज्याभिषेक के समय में ही इन (राजाओं) की उदारता माङ्गलिक घड़ों के जल से मानों धो दी जाती है। यज्ञ के धुएँ से इनका मन मानों मैला कर दिया जाता है। पुरोहितों की कुशा (पवित्र घास) के अगले भागरूपी झाड़ुओं से मानों क्षमा का भाव (धूल की तरह) झाड़ दिया जाता है। पगड़ीरूपी पट्टी के बन्धन से मानों इनका बुढ़ापे के आने का स्मरण ढक दिया जाता है। दूसरे लोक का विचार मानो छत्र-मण्डल (खुले हुए छाते) से रोक दिया जाता है। चामर (चौंरी के झलने) की वायु से सत्य-भाषण को मानो (तिनके के समान) उड़ा दिया जाता है। बेंत की छड़ी से मानो गुणों को दूर कर दिया जाता है। जय-जय शब्द की गूंज से मानो साधुवाद (सौजन्य की प्रशंसा के वचन) दबा दिये जाते हैं। पताकावस्त्रों के प्रान्त भागों से मानो यश पोंछ दिया जाता है।

एवंविधयापि पूर्वोक्तलक्षणलक्षितयाप्यनया श्रिया दुराचारया दुष्टाचरणया कथमपि महता कष्टेन दैववशेन भाग्यवशेन परिगृहीताः स्वीकृता राजानो विक्लवा विह्वला भवन्ति। सर्वेषामविनयानां दुर्बुद्धीनामधिष्ठानतामधिकरणतां च गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। चकारः समुच्चयार्थः। तदेव दर्शयति—तथा हीति। अभिषेकसमये राज्याभिषेकक्षण एवैतेषां राज्ञां मङ्गलकलशजलैरिव कल्याणकुम्भाम्भोभिरिव दाक्षिण्यमनुकूलता प्रक्षाल्यते धावनविषयीक्रियते। अग्नीति। अभिषेकानन्तरं होमस्य सद्भावादग्नीत्युक्तम्। अग्निकार्यं होमादि तस्य धूमेन हृदयं स्वान्तं मलिनीक्रियते। राज्ञामिति शेषः। पुरोहितेति। पुरोहितः पुरोधास्तस्य कुशाग्राणि दर्भाग्राण्येव संमार्जन्यो बहुकार्यस्ताभिरिव क्षान्तिः क्षमापह्रियते दूरीक्रियते। उष्णीषेति। उष्णीषो मूर्धवेष्टनं स एव पट्टबन्धस्तेनेव जरा विस्रसा तस्याः आगमनमागमस्तस्य स्मरणं स्मृतिरा-

च्छाद्यत आव्रियते। आतत्रेति। आतपत्रं छत्रं तस्य मण्डलेन नि- परलोकस्य भवान्तरस्य दर्शनमवलोकनमपसार्यते दूरीक्रियते। चाम- चामरं वालव्यजनं तस्य पवनैर्वीजनैरिव सत्यमवितथं वदतीत्येवं सत्यवादी तस्य भावस्तत्ता सा अपह्रियतेऽपहरणविषयीक्रियते। वे- वेत्रदण्डैर्वेतसयष्टिभिरिव गुणाः शौर्यादय उत्सार्यन्ते दूरीक्रि- जयेति। जयशब्दस्य ये कलकलरवाः कोलाहलशब्दास्तैरिव साधु- ख्यातयस्तिरस्क्रियन्ते न्यक्क्रियन्ते। ध्वजेति। ध्वजा वैजयन्त्य- पटा वस्त्राणि तेषां पल्लवैः प्रान्तैरिव यशः लोकः परामृश्यते पर- लोपः स क्रियते।

तथा हि। केचिच्छ्रमवशशिथिलशकुनिगलपुटचटुला- खद्योतोन्मेषमुहूर्त्तमनोहराभिर्मनस्विजनगर्हिताभिः संप- प्रलोभ्यमाना धनलवलाभापलेपविस्मृतजन्मानोऽनेकदोषोपचि- दोषासृजेव रागावेशेन बाध्यमानाः विविधविषयग्रासला- पञ्चभिरप्यनेकसहस्रसंख्यैरिवेन्द्रियैरायास्यमानाः, प्रकृतिचञ्च- तया लब्धप्रसरेणैकेनापि शतसहस्रतामिवोपगतेन मनसाकु- क्रियमाणा विह्वलतामुपयान्ति।

देखिए—कुछ (राजा) तो थकान के कारण ढीली, पक्षियों की- के समान चञ्चल, तथा जुगनू की चमक के समान थोड़ी देर के लिए मन- लुभाने वाली, ज्ञानी मनुष्यों द्वारा निन्दित, सम्पत्तियों से लुभाये गए, (थोड़े) से धन के लाभ से (उत्पन्न) अभिमान के कारण अपने जन्म को भूले- अनेक दोषों (वात पित्तादि) से बढ़े हुए दूषित रक्त के समान, अनेक- (काम, क्रोधादि) से बढ़ी हुई विषयों को भोगने की लालसा से व्याकुल हुए, अनेक प्रकार के विषय (शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध) रूपी ग्रास (निगलने के लिए) ललचाई हुई, पाँच होते हुए भी मानो कई हजार- वाली (नेत्रादि) इन्द्रियों से पीड़ित किये गए, स्वभाव से ही चंचल

के कारण, अपना मार्ग बना लेने वाले, (और इसीलिए) एक होने पर भी मानो सैकड़ों हजार बने हुए मन के द्वारा परेशान किये हुए, उद्विग्नता को प्राप्त होते हैं।

तदेव दर्शयति—तथा हीति। केचिन्मनुष्याः। श्रमेति। श्रमवशेन प्रयासाधिक्येन शिथिलः श्लथोऽदृढः। शकुनेर्मयूरस्य अन्यस्य वा पक्षि-विशेषस्य यो गलः कण्ठस्तस्य यत्पुटं तद्वच्चपलाभिः। मयूरस्य कण्ठः श्रम-वशेन चात्यन्तं चपलः स्यादिति तदुपमानम्। खद्योत इति खद्योतो ज्योति-रिङ्गणस्तस्य य उन्मेषोऽवभासस्तद्वन्मुहूर्तं मनोहराभिश्चित्तहारिणीभिः। मनस्वीति। मनस्विजनाः पण्डितलोकास्तैर्गर्हिताभिर्निन्दिताभिरेवंविधाभिः संपद्भिः समृद्धिभिः प्रलोभ्यमाना लोभं प्राप्यमाणाः। धनेति। धनस्य द्रव्यस्य यो लवो लेशस्तस्य लाभः प्राप्तिस्तस्माद्योऽवलेपोऽहंकारस्तेन विस्मृतं विस्मरणं प्राप्तं जन्म येषां ते तथानेके दोषा दूषणानि तैरुपचितेन व्याप्तेन। रागावेशेनेति। राग इच्छारुण्यं च तेषामावेशस्तन्मयीभावस्तेन बाध्य-मानाः पीड्यमानाः। केनेव। दोषेति। दोषं दुष्टं यदसृग्रक्तं तेनेव। तत्रापि रागो भवत्येवेति साम्यम्। विविधेति। विविधा येऽनेके विषया गोचरास्त एव ग्रासा गुडेरकास्तत्र लालसैर्लम्पटैः। पञ्चभिरिति। पञ्चभिरपि प्राणप्रमितसंख्यैरपि चक्षुरादिभिरपि शतसहस्रतां लक्षता-मुपगतेन प्राप्तेन अनेकसहस्रसंख्यैरिन्द्रियैः करणैरायास्यमानाः परि-क्लिश्यमानाः। प्रकृतीति। प्रकृत्या स्वभावेन चञ्चलश्चपलस्तस्य भावस्तत्ता तया लब्धः प्रसरोऽवकाशो येनैवंभूतेनैकेन मनसा चित्तेनाकुलीक्रियमाणा विह्वलतामुत्पिञ्जलतामुपयान्ति गच्छन्ति।

ग्रहैरिव गृह्यन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते, सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते, वायुनेव विडम्ब्यन्ते पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते, मदनशरैर्ममहिता इव मुखभङ्गसहस्राणि कुर्वते, धनोष्मणा पच्यमाना इव विचेष्टन्ते, गाढप्रहाराहता इवाङ्गानि न धारयन्ति, कुलीरा इव तिर्यक् परि-

भ्रमन्ति, अधर्मभग्नगतयः पङ्गव इव परेण संचार्यन्ते, मृषावाद विपाकसंजातमुखरोगा इवातिकृच्छ्रेण जल्पन्ति, सप्तच्छदतरव इव कुसुमरजोविकारैः पार्श्ववर्तिना शिरःशूलमुत्पादयन्ति, आसन्न मृत्यव इव बन्धुजनमपि नाभिजानन्ति, उत्कम्पितलोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्ते, कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते जातुषाभरणानीव सोष्माणं न सहन्ते, दुष्टवारणा इव महा मानस्तम्भनिश्चलीकृता न गृह्णन्त्युपदेशम्।

ये राजा ऐसे हो गए हैं मानो ग्रहों (शनि, राहु आदि) के द्वारा पकड़ लिये गए हों, भूतों (एक प्रकार की देवयोनि) से मानो दबोच लिये गए हों, मंत्रों के द्वारा मानो वश में कर लिये गए हों, सत्वों (सिंह आदि हिंस्र पशु) के द्वारा मानो बलपूर्वक पकड़ लिये गए हों, वायु के द्वारा मानो विडम्बित किये (अपमान के साथ इधर-उधर फेंके) गए हों। पिशाचों (राक्षसों) के द्वारा मानो खा लिये गए हों, कामदेव के तीरों से कोमल स्थलों पर चोट खाये हुए मानो हजारों तरह से मुँह बनाते हैं। धन की गर्मी से (भाड़ में पड़े धान की तरह) मानो पकाये जाते हुए विविध प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं। तीव्र प्रहार से घायल हुए मानो (अपने) अंगों को स्वयं धारण नहीं करते हैं। केकड़े के समान तिरछे चलते हैं (सबके साथ कुटिल व्यवहार करते हैं)। अधर्म (पाप) के के कारण (कर्तव्य मार्ग पर) चलने में असमर्थ (ये राजा) लँगड़ों के समान दूसरों (मंत्रियों आदि) के द्वारा चलाये जाते हैं। असत्य-भाषण रूपी विष के विकार से होने वाले मुख रोग (मुँह के छाले आदि पड़ जाना) के रोगियों के समान बड़े कष्ट से बोलते हैं। जैसे सप्तपर्ण नाम के वृक्ष (अपने) फूलों की पराग के विकारों से समीप रहने वालों के सिर में पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं वैसे ही ये भी अपमानसूचक नेत्रभंगिमा (क्रोध से आँखें दिखाना, आंखें तरेरना आदि) रूप रजोगुण के विकारों से पास रहने वाले

लोगों को पीड़ित करते हैं। मरणोन्मुख व्यक्तियों के समान अपने बन्धुओं को भी नहीं पहचानते हैं। जैसे रुग्ण नेत्रों वाले व्यक्ति तेजस्वी (सूर्य आदि चमकीले) पदार्थों को (नेत्ररोग के भय से) नहीं देखते हैं, वैसे ही ये भी (ईर्ष्या के कारण) प्रतापशाली व्यक्तियों को नहीं देखते हैं। बहुत ही जहरीले साँप के द्वारा डसे गए व्यक्तियों के समान महामंत्रों [(१) साँप का विष उतारने वाले मंत्रों, (२) सन्धि-विग्रह आदि षड्गुणों के उत्तम परामर्शों] से भी होश में नहीं आते। लाख से बने गहनों के समान सोष्माण [(१) आग (२) तेजस्वी पुरुषों] को सहन नहीं कर सकते। बड़े प्रमाण वाले आलान-स्तम्भ (हाथी को बाँधने का खूँटा) से जकड़े हुए मदोन्मत्त हाथी की तरह, बढ़े हुए अहंकार से (होने वाली) जड़ता से निश्चल किए गए उपदेश [(१) महावत की बात, (२) भलाई के वचन] को ग्रहण नहीं करते।

ग्रहैरिति। ग्रहैः शनैश्चरादिभिरिव गृह्यन्ते ग्रहणविषयीक्रियन्ते। भूतैः पिशाचैरिवाभिभूयन्ते। मन्त्रैरिति। मन्त्रा देवाधिष्ठातृकास्तैरिवावेश्यन्ते मन्त्रेणान्यत्रावेशः क्रियते। यथा भूतमन्यत्र प्रवेश्यते। सत्त्वैरिव दुष्टप्राणिभिरिवावष्टभ्यन्ते हठेन गृह्यन्ते। वायुनेव पवनेनेव विडम्ब्यन्त इतस्ततो विक्षिप्यन्ते। पिशाचैरिव राक्षसैरिव ग्रस्यन्ते भक्ष्यन्ते। मदनेति। मदनशरैः कामबाणैर्मर्मस्थल आहतास्ताडिता इव मुखभङ्गसहस्राण्याननविकृतिसहस्राणि कुर्वते घटयन्ति। धनेति। धनस्य द्रव्यस्योष्मा तापस्तेन पच्यमाना पाकविषयीक्रियमाणा इव विचेष्टन्ते। विविधां चेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः। गाढेति। गाढस्तीव्रो यः प्रहारो लगुडादिना कुल्लण्टनं तैराहता इवाङ्गानि हस्तपादादीनि धारयन्ति न धर्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। कुलीरेति। कुलीरा इव कर्कटा इव तिर्यक् तिरश्चीना एव परिभ्रमन्ति परिभ्रमणं कुर्वन्ति। अधर्मेति। अधर्मेणासदाचरणेन भग्ना भङ्गं प्राप्ता गतिर्गमनं सत्कर्मणि वृत्तिश्च येषामेवंभूताः पङ्गव इव खञ्जा इव परेणान्येन संचार्यन्ते संचरणशीलाः क्रियन्ते। मृषेति।

मृषावादोऽसत्यभाषणं तस्य विपाकः परिणामस्तेन संजातः समुत्प मुखरोगो येषामेतादृश इवातिकृच्छ्रेण अतिकष्टेन जल्पन्ति ब्रुवन्ति सप्तेति। सप्च्छदतरव इव विषयच्छदवृक्षा इव कुसुमानि नेत्राणि ते ये रजोभिर्गुणैर्विकारा विकृतयस्तैः। पक्षे कुसुमरजोविकारैः पुष्परा विकृतिभिः। 'कुसुमं स्त्रीरजो नेत्रे' इत्यनेकार्थः। पार्श्ववर्तिनां समी स्थायिनां शिरःशूलं मस्तकव्यथामुत्पादयन्ति जनयन्ति। सप्तच्छ कुसुमरजसः शिरःशूलोत्पादकत्वं वैद्यके प्रसिद्धम्। आसन्नेति। आसन्नः समीपवर्ती मृत्युर्येषां त एवंविधा इव बन्धुजनमपि स्वजनमपि नाभि जानन्ति नोपलक्षयन्ति। उदिति। उत्प्राबल्येन कम्पितं धूतं लोचनं ने येषामेवंविधा इव तेजस्विनः प्रतापवतः पुरुषान्निस्पृहान्नेक्षन्ते नावलोक यन्ति। पक्षे तेजस्विनः सूर्यादिकान्। कालदष्टेति। निषिद्धकाले संध्या दिरूपे दष्टा भक्षिताः। सर्पेणेति शेषः। एवंविधा इव महामन्त्रैर्जाङ्गुलि प्रभृतिभिः षाड्गुण्यादिभिरपि न प्रतिबुध्यन्ते न प्रबोधं प्राप्नुवन्ति जातुषेति। जातुषाभरणानि लाक्षानिष्पन्नभूषणानीव सोष्माणं तेजस्विनं पुरुषं न सहन्ते न मृष्यन्ति। दुष्टेति। दुष्टवारणा इव मदोन्मत्तगजा इव महानत्युत्कृष्टो यो मानोऽहंकारस्तल्लक्षणो यः स्तम्भः स्थूणा तेन निश्चलीकृताः स्तब्धतां प्रापिताः सन्त उपदेशं शिक्षां न गृह्णन्ति नाददते। गज पक्षे महन्मानं यस्यैवंविधो यः स्तम्भ आलानस्तम्भस्तेन निश्चलीकृ नद्धाः सन्त उपदेशं हस्तिपकवाक्यं न गृह्णन्ति। अवगणयन्तीत्यर्थः।

तृष्णाविषमूर्च्छिताः कनकमयमिव सर्वं पश्यन्ति, इषव इव पानवर्धिततैक्ष्ण्याः परप्रेरिता विनाशयन्ति, दूरस्थितान्यपि दण्डविक्षेपैर्महाकुलानि शातयन्ति, अकालकुसुमप्रसवा इव मनो हराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः श्मशानाग्नय इवातिरौद्रभूतयः तैमिरिका इवादूरदर्शिनः, । उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठितभवनाः श्रूयमाणा अपि प्रेतपटहा इवोद्वेजयन्ति, चिन्त्यमाना अपि

महापातकाध्यवसाया इवोपद्रवमुपजनयन्ति, अनुदिवसमापूर्यमाणाः पापेनेवाध्मातमूर्तयो भवन्ति, तदवस्थाश्च व्यसनशतसंख्यतामुपगता वल्मीकतृणाग्रावस्थिता जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति।

तृष्णा (धन की लालसा) रूपी विष से मोहित हुए सब पदार्थों को सुवर्णमय (सोना ही होना) ही देखते हैं। जैसे सान पर चढ़ाने से बढ़ी हुई तेज धार वाले तीर किसी के द्वारा चलाये जाने पर (दूसरों का) विनाश करते हैं, वैसे ही मद्यपान से बढ़ी हुई क्रूरता वाले ये राजा भी दूसरों के द्वारा प्रेरित (प्रोत्साहित या बहकाये हुए) हो विनाश करते हैं। जैसे लोग डण्डे के प्रहार के द्वारा (वृक्षों पर) दूर लगे हुए फलों को गिरा देते हैं, वैसे ही ये भी दण्ड (दण्डनीति के) होकर प्रयोग से इनसे दूर रहने वाले उच्च कुलों को भी नष्ट कर देते हैं। (या पीड़ा पहुँचाते हैं।) जिस प्रकार बेमौसम फूलों का खिलना, आकार में मनोहर होने पर भी ससार के विनाश का कारण होता है, इसी प्रकार (ये राजा) चित्ताकर्षक आकृति वाले होने पर भी विनाशक होते हैं। मसान की आग के समान इनकी भूति [(१) ऐश्वर्य, (२) भस्म] अत्यन्त भयङ्कर होती है। जिस प्रकार तिमिर (नेत्ररोग) के रोगी दूर-स्थित वस्तु को देखने में असमर्थ होते हैं; वैसे ही ये भी दूर (परिणाम) को नहीं देखते हैं। जैसे उपसृष्टा (रतिकर्म में लगी हुई वेश्या) का घर विटों का अड्डा बन जाता है, वैसे ही इनके भवन भी नीच व्यक्तियों से भरे रहते हैं। प्रेत-पटहों (मृत व्यक्ति के दाह के समय बजने वालों ढोल के शब्द) के समान केवल सुने जाने पर (देखने का तो कहना ही क्या?) ही उद्वेग (घबराहट) उत्पन्न करते हैं। (ब्रह्महत्या आदि) महापापों के (लिये किए जाने वाले) उद्योगों के समान मन की अशान्ति पैदा करते हैं। प्रतिदिन पाप से भरे जाते हुए मानो स्थूल शरीर वाले हो जाते हैं। और ऐसी दशा वाले वे (राजा) सैकड़ों व्यसनों (बुरी आदतों) का शिकार बनकर

वल्मीक (वामी) पर उगे तिनके के अग्र भाग पर अटकी हुई पानी की बूंदों के समान अपने को गिरने पर भी गिरा (धर्म-भ्रष्ट) नहीं मानते पाते हैं।

तृष्णेति। तृष्णैव विषं गरलं तेन मूर्च्छिता भ्रान्ताः कनकमयं सुवर्णमयमिव सर्वं पश्यन्ति विलोकयन्ति । इषव इति। पानं मधुपानं निपानं घर्षणं च ताभ्यां वर्धितं तैक्ष्ण्यं मदक्रौर्यं प्रहारशक्तिश्च येषामेवंविधा इषव इव बाणा इव परोऽन्यो मन्त्री च ताभ्यां प्रेरिता नोदिता विनाशयन्ति विनाशं जनयन्ति । दण्डो यष्टिर्भागधेयश्च तयोर्विक्षेपाः प्रहाराः दुःखानि च तैर्दूरस्थितान्यपि दविष्ठदेशवर्तीन्यपि फलानीव सस्यानीव महाकुलानि महाभिजनानि शातयन्ति पीडयन्ति पातयन्त्यपि च। अकालेति। मनोहराश्चित्तहारिण्य आकृतय आकारा येषामेवंविधा अपि राजानो लोकविनाशहेतवो भवन्ति । सदाकृतिसाम्यादुपमानान्तरमाह—अकालेति। अकालेऽकृतौ कुसुमप्रसवा इव । तदुक्तम्—'द्रुमौषधिविशेषाणामकाले कुसुमोद्गमः। फलप्रसवयोर्बन्धं महोत्पातं विदुर्बुधाः' । श्मशानाग्नय इति। श्मशानं प्रेतवनं तस्याग्नय इवातिरौद्रा अन्येषां भयोत्पादिका भूतिः संपद्येषां ते तथा। पक्षेऽतिक्रूरा भूतिर्भस्म येषु। तैमिरिकेति। तिमिरं नेत्ररोगः स सञ्जातो येषां ते तैमरिकास्त इवादूरदर्शिनः। भाविनं दोषं न पश्यन्तीत्यर्थः। दूरं परलोकं न पश्यन्तीत्यर्थो वा। पक्षेऽदूरदर्शिनः समीपस्थितवस्तुविलोकिनः। उपसृष्टेति। उपसृष्टा बहिःकृता इव क्षुद्रैर्विटैरधिष्ठितमाश्रितं भवनं गृहं येषां ते तथा। श्रूयमाणा इति। श्रूयमाणा आकर्ण्यमाना अप्युद्वेजयन्त्युद्वेगं जनयन्ति। इव। प्रेतपटहा इव। यथा मृतकवाद्यानि निर्वेदमन्येषां समुत्पादयन्तीत्यर्थः। कस्मिंश्चिद्देशे मृतकानां पुरस्ताद्वाद्यानि वाद्यन्त इति देशाचारः। चिन्त्येति। चिन्त्यमाना अपि चेतसि स्मर्यमाणा अपि महापातकं स्त्रीहत्यादि तदध्यवसाया इव तदभिप्राया इवोपद्रवं वञ्चकादिदुःखमुपजनयन्ति निष्पादयन्ति। अन्विति। अनुदिवसं प्रतिदिवसं पापेनैनसापूर्यमाणा स्फि

माणा इवाध्मातमूर्तयः स्थूलदेहा भवन्ति। तदिति। सैवावस्था येषां ते तदवस्थाः। च समुच्चयार्थः। एवंविधा व्यसनानां द्यूतादीनां शतं तस्य सख्यतां मित्रतामुपगताः प्राप्ताः। 'शरव्यताम्' इति पाठे तु शरव्यं लक्ष्यं तस्य भावस्तत्त्वमुपगता इत्यर्थः। वल्मीकेति। वल्मीकमुपदेहिकागृहं तस्य तृणानि नडादीनि तेषामग्राणि प्रान्तानि तेष्ववस्थिता ये जलबिन्दवस्त इव पतितमपि मनुष्यजन्मनः स्रस्तमपि आत्मानं नावगच्छन्ति न जानन्ति।

अपरे तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धनपिशितग्रासगृध्रैरास्थाननलिनीबकैर्द्यूतं विनोद इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगयां श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्ततां शौर्यमिति, स्वदारपरित्यागमव्यसनितेति, गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यतां सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्तगीतवाद्यवेश्याभिसक्तिं रसिकतेति, महापराधावकर्णनं महानुभावतेति, पराभवसहत्वं क्षमेति, स्वच्छन्दता प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति, वन्दिजनख्यातिं यश इति, तरलतामुत्साह इति, अविशेषज्ञतामपक्षपातित्वमिति, दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तःस्वयमपि विहसद्भिः प्रतारणकुशलैर्धूर्तैरमानुषलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया तथैवेत्यात्मन्यारोपितालीकाभिमाना मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषमात्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति।

फिर दूसरे राजा तो, स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए, धनरूपी मांस के ग्रास (को खाने के लिए ललचाये हुए) गीध जैसे, सभारूपी कमलिनी में (दूसरों को ठगने के लिए) बगले बने हुए (धूर्त व्यक्तियों द्वारा) जूआ तो मनो-

रंजन का साधन है, पराई स्त्री के साथ सम्भोग करना चतुरता है, शिकार खेलना व्यायाम है, मदिरा-पान करना विलास (मौज) है, असावधानी वीरता है, अपनी विवाहिता स्त्री का परित्याग कर देना अनासक्ति है, गुरुजनों के वचनों का निरादर दूसरों के अधीन न रहने का चिह्न है, सेवकों को अपने वश में न रखना सुखपूर्वक सेवा करवाना है। नाच, गाना, बाजा (मृदंग आदि का वजाना), तथा वेश्याओं में आसक्ति (फँसे रहना) रसिकता है, वड़े-वड़े अपराधों को न सुनना (अर्थात् उनकी उपेक्षा करना) बड़ी भारी उदारता है, अपमान को सहन कर लेना क्षमा है, मनमाना आचरण करना प्रभुता का चिह्न है, देवताओं का निरादर करना वड़ा भारी साहस है, भाट लोगों द्वारा गाई जाने वाली प्रशंसा कीर्ति है, चपलता उत्साह है, (अपराधी तथा अनपराधी के मध्य) सूक्ष्म पर्यालोचन न करना निष्पक्षता है—इस प्रकार दोषों को भी गुणों की श्रेणी में स्थापित करते हुए और स्वयं मन में (राजाओं पर) हँसने वाले, दूसरों को ठगने में कुशल धूर्तों के द्वारा देवताओं के योग्य स्तुतियों से ठगे जाते हुए, धन के मद से उन्मत्त मन वाले, ये राजा, अपनी मूर्खता के कारण (जैसा ये धूर्त कहते हैं) सब वैसा ही है ऐसा अपने में झूठे अभिमान का आरोप करने वाले, मरणधर्मा मनुष्य होने पर भी अपने आपको मानो देवताओं के अंश का अवतार, व देवता से अधिष्ठित अतिमानव (अलौकिक पुरुष) समझते हुए प्रारम्भ की गई देवताओं योग्य क्रियाओं से अपनी महिमा दिखाने वाले, सब लोगों की हँसी का पात्र वनते हैं।

अपरे त्विति। अपरेऽन्ये। तु पुनरर्थे। राजानः। श्रीमतां दोषान्तर मप्याह—अपरे त्विति। इति दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिर्धूर्तैर्वि तारकैः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपहासयोग्यताम् यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः। कीदृशैर्धूर्तैः। स्वेति। स्वस्यात्मनो योऽ प्रयोजनं तस्य निष्पादनं करणं तत्र परैस्तत्परैः। धनमिति। धनं द्र तदेव पिशितं मांसं तस्य ग्रासो ग्रहणं तस्मिन्। गृध्रै र्दूरदृग्भिर्यथा तथा

द्रव्यार्जनपरैरित्यर्थः । आस्थानेति । आस्थानं नृपोपवेशनस्थलं तदेव नलिनी कमलिनी तस्यां बकैर्धूर्तैः । यथा बका नलिनीमाश्रित्य तदाश्रय-बलेन स्वात्मानमाच्छाद्य येन केन प्रकारेण परान् वञ्चयित्वाकस्मादेव परान् भक्षयन्ति, तद्वदास्थानबलेन परान्वञ्चयित्वा स्वानि भक्षयन्ति। इतिशब्दार्थमाह—द्यूतमिति । द्यूतं दुरोदरं विनोदः क्रीडामात्रम् । न चैतद्विहिते किञ्चित्पातकमस्तीति भावः । परेति । परदाराः परस्त्रिय-स्तेषामभिगमनं संभोगो वैदग्ध्यमिति चातुर्यमित्यर्थः । मृगयेति । मृगयां मृगव्यां श्रम इति । 'अभ्यासः खुरलीति श्रमो योग्याभ्यासः' इति कोशः । न तु परप्राणव्यापादनजनितं किमपि पातकमस्तीति भावः । पानमिति । पानं मद्यादीनां । विलास इति । विलसितमित्यर्थः । प्रमत्ततामिति । प्रमत्ततां क्षीबतां शौर्यं सुभटकृत्यमिति । स्वेति । स्वस्य दाराः स्त्री तस्याः परित्यागं त्यजनमव्यसनितानासक्तिता इति । न तु धर्माधिक्यम् । गुरुरिति । गुरुर्हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टा तस्य वचनं वचस्तस्या-वधीरणमुल्लङ्घनमपरप्रणेयत्वमन्यवश्यत्वम् । 'वश्यः प्रणेयः' इति कोशः । गुरुवचनावधीरणेन क्रूरोऽयं प्रभुरिति भियापरे सामन्तादयो वश्यत्वं प्रतिपद्यन्ते इति तेषामाशयः । अजितेति । शिक्षार्थं ताडिता भृत्या यस्य राज्ञः सम्यक्सेवां कुर्वन्ति स जितभृत्योऽन्यस्त्वजितभृत्यस्तस्य भावस्तत्ता ताम् । इदं च नृपतेर्दूषणम् । वैगुण्ये भृत्यानामवश्यं शिक्षा प्रदातव्येति राजचिह्नम् । तदुक्तम्—'शठदमनमशठपालनमाश्रितभरणं च राज-चिह्नानि' इति । तस्मिन्सुखोपसेव्यत्वं सुखेनोपसेवितुं योग्यः सुखोप-सेव्यस्तस्य भावस्तत्त्वम् । सुखोपसेव्योऽयं नृप इति लोके ख्यातिमात्रं गुण आरोप्यते । नृत्तेति । नृत्यं नाटचम्, गीतं गानम्, वाद्यमातोद्यम्, वेश्या वारवधूः, तास्वभिसक्तिमत्यासक्तचित्ततां । रसिकता रसाभिज्ञता इति । महेति महापराधानां कौरवयुद्धादीनामवकर्णनं श्रवणं महानुभावता महार्धार्मिष्ठता । अदातृत्ववशात् । मागधादिभिर्विहितस्य गालिप्रदानादिपराभवस्य तिरस्कृतेः सहत्वं क्षमेति क्षान्तिः । स्वच्छन्दतां निरवग्रहतां प्रभुत्वमैश्वर्यम् । देवेति । देवा अर्हदादयस्तेषामवमानन-

मवगणनं महासत्त्वता महाधैर्यता। बन्दीति । बन्दिजना मागधावद्यं ख्यातिं प्रसिद्धिम् । यशः श्लोक इति । एतेन पण्डितजनप्रदानं शोकजनकमिति भावः। तरलतां चपलतामुत्साहः प्रगल्भता इति अवीति । अविशेषज्ञतां विशेषाविशेषानभिज्ञतामपक्षपातित्वं माध्य मिति । अत्र 'द्यूतम्' इत्यारभ्य पूर्वपूर्वस्योद्देश्यतयोत्तरोत्तरस्य वा मानतया पूर्वस्मिन् दोष उत्तरस्य गुणस्यारोपः प्रशंसनमेवाध्यारो अत्राध्यारोपकलक्षणे रूपकव्यासङ्गजनकत्वं सातिशयसुखजनकत्वा साम्यं स्वयमूहनीयम् । अथ धूर्तान् विशेषयन्नाह—अन्त इ अन्तर्मध्ये स्वयमप्यात्मनापि विहसद्भिर्हास्यं कुर्वद्भिः । अन्तं प्रतारणानभिज्ञ इति हास्यनियामकम् । प्रतारणा वञ्चना तत्र कुश भिज्ञैः । किं क्रियमाणा धनिनः । अमानुषलोको देवलोकस्तस्योचिता योग्याभिः स्तुतेर्विशेषणम् । वित्तेति । वित्तस्य द्रव्यस्य मदे मत्तं चित्तं येषां ते तथा। अत एव निश्चेतनतया निर्गता चेतना इ यस्मात्तस्य भावस्तत्ता तया। तथैवेति । यथा यथा प्रतार्यमाणास्त त्यर्थः । आत्मन्यारोपितं स्थापितमलीकं मिथ्याभिमानं यैस्ते त मर्त्यधर्माणोऽपि मर्त्यस्य मनुष्यस्य धर्मा गमनादयो येषामेवंविधा अपि दिव्येति । दिव्या देवसंबन्धिनो येंऽशा भागास्तैरवतीर्णमुत्पन्नमिव सं तमिव देवताधिष्ठितमिवातिमानुषं कर्मातिक्रम्य वर्तमानमात्मानमुद्रं माणा मन्यमानाः। प्रारब्धेति । प्रारब्धा या दिव्योचिता देवजनयो श्चेष्टाः क्रियास्ताभिरनुभावो माहात्म्यं येषां ते तथा। अन्वयस्तु प्र वोक्तः ।

आत्मविडम्बनां चानुजीविना जनेन क्रियमाणामभिनन्दन्ति मनसा देवताध्यारोपणविप्रतारणादसद्भूतसंभावनोपहताश्चान्त प्रविष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं संभावयन्ति । त्वगन्तरि तृतीयलोचनं स्वललाटमाशङ्कते। दर्शनप्रदानमप्यनुग्रहं गणयन्ति दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति । संभाषणमपि संविभ

मध्ये कुर्वन्ति । आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते । स्पर्शमपि पावनमाकलयन्ति । मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्, अनर्थकायासान्तरितोपभोगसुखमित्युपहसन्ति विद्वज्जनम्, जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धोपदेशम्, आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने।

ये राजा अपने ही सेवकों द्वारा की जाती हुई अपनी विडम्बना (ठगाई) का अभिनन्दन करते हैं। अपने ऊपर किसी देवता का आरोप कर लेने के रूप में प्रवञ्चना या मूर्खता से (देवता न होते हुए भी अपने को देवता मानने की झूठी संभावना के कारण) नष्ट हुई बुद्धि वाले ये राजा मानों मन में अपनी दोनों बाँहों के भीतर प्रवेश की हुई अन्य दो भुजाओं की संभावना करते हैं। (अर्थात् धूर्तों के द्वारा वहकाये गए अपने को चार भुजा वाले विष्णु का रूप समझने लगते हैं।) अपने मस्तक को ऐसा समझते हैं मानो इसकी त्वचा (चमड़े) में तीसरा नेत्र छिपा हो। (अर्थात् अपने को साक्षात् शिव का रूप समझते हैं।) दूसरों को अपना दर्शन देना भी उन पर अपनी कृपा समझते हैं। आँख से देख भर लेने को भी उपकार की श्रेणी में रखते हैं। बातचीत कर लेने भर को भी धनदान के रूप में दिखाते हैं। आज्ञा को भी वर देना मानते हैं। (अपने हाथों से दूसरों के) स्पर्श को भी (गङ्गा आदि नदियों के समान) पवित्र करने वाला समझते हैं। झूठी बड़ाई के घमण्ड से भरे हुए ये राजा देवताओं को प्रणाम नहीं करते हैं, ब्राह्मणों को नहीं पूजते हैं, आदरणीय व्यक्तियों का आदर नहीं करते हैं, पूजनीय लोगों की पूजा नहीं करते हैं, प्रणाम करने योग्य व्यक्तियों को प्रणाम नहीं करते, गुरुजनों के आने पर (आदर प्रदर्शित करने के लिए) उठते नहीं हैं। 'व्यर्थ के परिश्रम ने इन्हें विषयभोग के सुखों से वञ्चित कर दिया है'—ऐसा कह कर ये विद्वानों की

खिल्ली उड़ाते हैं। 'बुढ़ापे की व्याकुलता के कारण यह बकवास है'—कह कर वृद्ध पुरुषों के कल्याणकारी वचनों को (निरर्थक) समझते; (यह तो) हमारी बुद्धि का अपमान है—यह समझ कर मंत्रियों की सलाह से ईर्ष्या करते हैं। भलाई की बात कहने वाले पर क्रोध करते।

अनुजीविना जनेन सेवकजनेन क्रियमाणां विधीयमानामात्मविडम्बनां सद्गुणारोपलक्षणाम्। अभिनन्दन्ति प्रशंसन्ति। चकारः पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः। विभूतिमतां राज्ञां पुनर्दोषान्तरमाह—मनसेति। देव हरिहरादेरध्यारोपणं आरोपणं तेन विप्रतारणं वञ्चनं तस्मादि असदिति। असद्भूतासद्रूपा या संभावना देवरूपत्वेन निश्चयस्तेनो विनष्टबुद्धयः। देवत्वाध्यारोपत्वनिमित्तमूलानि प्रदर्शयन्नाह—अन्तरि अन्तर्मध्य प्रविष्टमपरमन्यद् भुजद्वयं यस्मिन्नेवंविधमिवात्मनो युगलं स्वकीयं भुजयुगं संभावयन्ति संभावनाविषयीकुर्वन्ति। स्वस्मिंश्चतुर्भुजत्वं ख्यापितम्। त्रिनेत्रत्वमप्याह—त्वगिति। कृत्तिस्तयान्तर्हितं पिहितं तृतीयं लोचनं यस्मिन्नेतादृशं स्वललाटं लिकामाशङ्कत आरेकाविषयीकुर्वते। दर्शेति। लोकानां दर्शनं स्वात्मप्रकटनमनुग्रहं प्रसादं गणयन्ति मन्यन्ते। दृष्टीति। दृष्ट्याश्च पातमवलोकनं तदप्युपकारपक्ष उपकृतिपक्षे स्थापयन्ति निक्षिपन्ति संभाषेति संभाषणं जल्पनं तदपि संविभागः पारितोषिकं दानं त कुर्वन्ति। पारितोषिकतुल्यं गणयन्तीत्यर्थः। आज्ञामिति। आज्ञा निदेशमपि वरप्रदानं समीहितप्रदानं मन्यन्ते जानन्ति। स्पर्शः सं स्तदपि पावनं पूतं पवित्रमाकलयन्ति विचारयन्ति। मिथ्येति। मि वृथा यो माहात्म्यगर्वो माहात्म्याभिमानस्तेन निर्भरा भृता देवता ऽर्हद्भ्यो न प्रणमन्ति नमस्कारं न कुर्वन्ति। द्विजेति। द्विज त्रयीमुखान्न पूजयन्ति वस्त्रपात्रादिप्रदानेन न सत्कुर्वन्तीत्यर्थः। मा निति। मान्यान् माननीयान्न मानयन्ति न संमानं ददते। नेति। नीयानर्चनायोग्यान्नार्चयन्ति नार्चां कुर्वन्ति। नेति। अभिवादना

संग्रहयोग्यान्नाभिवादयन्ति न पादग्रहणं कुर्वन्ति। नेति। गुरून् हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टॄन् न अभ्युत्तिष्ठन्ति नाभ्युत्थानं कुर्वन्ति। अनर्थकेति। अनर्थको निष्फलो य आयासः प्रयासः श्रौतस्मार्तकर्मणि क्लेशस्तेनान्तरितं व्यवहितमुपभोगोऽङ्गनादिकस्तज्जनितं सुखं सातं यस्येति कृत्वा विद्वज्जनं विबुधजनम् उपहसन्ति उपहासं कुर्वन्ति। जरेति। जरा विस्रसा तस्या वैक्लव्यं विकलता तेन प्रलपितं जल्पितमिति कृत्वा वृद्धानां स्थविराणामुपदेशं शिक्षां पश्यन्ति। जानन्तीत्यर्थः। आत्मेति। आत्मनः स्वस्य या प्रज्ञा बुद्धिस्तस्याः परिभवः पराभव इति कृत्वा सचिवोपदेशाय प्रधानशिक्षाया असूयन्त्यसूयां कुर्वन्ति। हितेति। हितवादिने यथास्थितवादिने कुप्यन्ति कोपं कुर्वन्ति। सचिवोपदेशाय हितवादिन इति चतुर्थी। द्वयमपि 'क्रुध् द्रुह्—' इत्यादिना संप्रदानसंज्ञायां सत्यां ज्ञेयम्।

सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपजनयन्ति, तं तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति, योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति। किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रयोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाः क्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, पराभिसंधानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः, नरपतिसहस्रभुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः, मारणात्मकेषु शास्त्रेष्वभियोगः, सहजप्रमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रमातर उच्छेद्याः।

ये राजा सब तरह से उसका (प्रसन्नता से) अभिनन्दन करते हैं, उसके साथ बातचीत करते हैं, उसे ही अपने पास रखते हैं, उसे ही सहायता देकर बढ़ाते हैं, उसके साथ ही सुखपूर्वक बैठते हैं, उसे ही (धन आदि) देते हैं, उसे

अपना मित्र वनाते हैं, उस की ही वात सुनते हैं, उस पर ही (धन की) करते हैं, उसको वहुत मानते हैं, उसे अपना विश्वासपात्र वनाते हैं, जो दिन निरन्तर अञ्जलि वाँधे हुए, अन्य सव कर्तव्यों को छोड़ कर देवता समान इनकी स्तुति करता है। (अथवा जो इनकी महिमा का वखान है) इन राजाओं के लिए क्या उचित और क्या अनुचित है जव कि लिए अत्यन्त क्रूरता का प्रायः (अक्सर) उपदेश देने से कठोर, चा द्वारा रचित नीतिशास्त्र ही प्रमाण है, अभिचार (मारण आदि क्रियाओं) को करने वाले, (यज्ञ में पशुवध करने से) मुख्यतः क्रूर वाले पुरोहित ही गुरु हैं, दूसरों को ठगने में (दिनरात) लगे हुए (जिनके) उपदेशक हैं, हजारों राजाओं द्वारा भोग कर छोड़ दी गई में जिनकी प्रीति है, मारण, मोहन आदि क्रियाओं के निर्देशक में जिनका अभियोग (प्रवृत्ति) है, स्वाभाविक प्रेम से द्रवीभूत से प्रेम करने वाले भाई (जिन के लिए) समूल नष्ट करने योग्य हैं।

एतादृशं पुरुषं सर्वथा स्तुवन्तीत्याशयेनाह—तमिति। तं पुरुषं सर्वप्रकारेणाभिनन्दन्ति प्रसशंन्ति। तमालपन्ति आलापं कुर्वन्ति। पुरुषं पार्श्वे समीपे कुर्वन्ति रक्षयन्ति। तं संवर्धयन्ति वृद्धिं प्रापयन्ति तेनेति। तेन पुरुषेण सह सुखं यथा स्यात्तथावतिष्ठन्तेऽवस्थानं कुर्वन्ति तस्मायिति। तस्मै पुरुषाय ददति प्रयच्छन्ति। तमिति। तं पुरुषं मित्रतां सुहृद्भावतामुपजनयन्ति निष्पादयन्ति। तस्येति। तस्य पुरुष वचनं वाक्यं शृण्वन्ति। तत्रेति। तस्मिन्पुंसि वर्षन्ति पुनः पुनः कुर्वन्ति। तं पुरुषं बहु मन्यन्ते। अत्युत्कृष्टतया जानन्तीत्यर्थः। तमिति तं प्रत्याप्ततां शिष्टताम् आपादयन्ति प्रतिपादयन्ति। तच्छब्दस्य यच्छब्द साक्षेपादाह—य इति। यः पुमानहर्निशमहोरात्रं अनवरतं निरन्तरं विगतमन्यकर्तव्यं यस्यैवंभूत उपरचिताञ्जलिः संयोजितकरपुटो दैवतमिवेष्टदेवतामिव स्तौति नवीति। यो वेति। यो माहात्म्यं तद्गुण वर्णनालक्षणमुद्भावयति उद्भावनां करोति। विभूतिमतां पुनर्दोषा

माह—किं वेति। तेषां विभूतिमतां वाथवा किं साम्प्रतं युक्तं येषां विभूतिमतां अतिनृशंसप्रायः अतिनिर्स्त्रिंशवहुल उपदेशः शिक्षा निर्गता घृणा दया यस्मादेतादृशं कौटिल्यशास्त्रं यामलादि प्रमाणमिति। अभिचारक्रिया। कृत्याप्रतिकृत्यादिरूपक्रिया। क्रूरेति। क्रूरा निर्स्त्रिंशा एका अद्वितीया प्रकृतिः स्वभावो येषामेवंविधाः पुरोधसः पुरोहिता गुरवो धर्मोपदेशकाः परेषामितरेषामभिसंधानं निरोधस्तत्र परास्तत्परा मंत्रिणः सचिवा उपदेष्टारः शिक्षादायकाः। नरेति। नरपतीनां यत्सहत्वं तेन भुक्ता चासावुज्झिता त्यक्ता चेति कर्मधारयः। एवंविधायां लक्ष्म्यामासक्तिः प्रेमाधिक्यम्। मारणेति। मारणं व्यापादनं तदेवात्मा स्वरूपं येषां तथाविधेषु शास्त्रेष्वभियोग उद्यमः। सहेति। सहजं स्वारसिकं तेनार्द्रं स्विन्नं हृदयं येषामत एवानुरक्ता एतादृशा भ्रातरः सहोदराः उच्छेद्याः मूलत उन्मूलनीयाः।

तदेवंप्रायातिकुटिलकष्टचेष्टासहस्रदारुणे राज्यतन्त्रेऽस्मिन् महामोहकारिणि च यौवने कुमार, तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः। यथा च न प्रकाश्यसे विटैः, न प्रतार्यसे कुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः, न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, न विडम्ब्यसे लक्ष्म्या, न नर्त्यसे मदेन, नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे रागेण, नापह्रियसे सुखेन।

अतः इस प्रकार की अत्यन्त कुटिल तथा कष्टदायक हजारों क्रियाओं के कारण भयङ्कर इस राज्य के शासन-व्यापार में, और इस बड़े भारी मोह (अज्ञान) को उत्पन्न करने वाले यौवन में, (अर्थात् इनके होने पर) हे कुमार ! इस प्रकार प्रयत्न (कार्य) करना, जिससे लोगों के द्वारा तुम्हारी हँसी न उड़ाई जाये, भले लोगों के द्वारा तुम्हारी निन्दा न हो, गुरुओं के

द्वारा तुम्हें धिक्कारा न जाए, मित्रों के द्वारा तुम्हें उलाहने न दिये ज पण्डित तुम पर शोक न करें, विटों (कामुक व्यक्तियों) द्वारा तुम न जाओ (वे तुम्हारे रहस्यों को न खोल दें), धूर्तों के द्वारा ठगे न जा भुजंगों (वेश्याओं में आसक्त कामुक व्यक्तियों) के द्वारा तुम्हारे (का उपभोग न किया जाय, सेवक-रूपी भेड़ियों के द्वारा लूट न लिये जा धूर्तों के द्वारा ठगे न जाओ, स्त्रियों के द्वारा अपने वश में न कर लि जाओ, लक्ष्मी तुम्हें धोखा न दे, मद के द्वारा तुम नचाये न जाओ, काम के द्वारा तुम उन्मत्त (पागल) न बना दिये जाओ, विषय तुम्हें इधर-उ न भटका दें, राग (विषयों के प्रति आसक्ति) तुम्हें आकृष्ट न करले, (राज्य-) सुख के कारण तुम अपने आपको भूल न जाओ।

प्रकृतमुपसंहरन्नाह—तदेवमिति। तदिति हेत्वर्थे एवंप्राये पूर्वो स्वरूपबहुले। अतीति। अतिकुटिला अतिवक्राः कष्टदायिन्यश्चेष्टा कायव्यापारास्तासां सहस्रं तेन दारुणे भीषणे। राज्यतन्त्र इति राज्यस्य तन्त्र इतिकर्तव्यतायाम्। 'इतिकर्तव्यता तन्त्रे' इत्यनेकार्थः अस्मिन्ननुभूयमाने यौवने तारुण्ये च महामोहकारिणि महामौढ्यजनके कुमारेति संबोधनम्। तथेति। तेनैव प्रकारेण प्रयतेथाः प्रयत्नं कुर्याः यथा येन प्रकारेण जनैर्लोकैः भवान् त्वं नोपहस्यसे न उपहासविषयी क्रियसे। साधुभिः सज्जनैर्न निन्द्यसे न निन्दाविषयीक्रियसे। गुरु धर्माचार्यैर्न धिक्क्रियसे न धिग्जीवितमित्यादिवाक्य-गोचरीक्रियसे सुहृद्भिर्मित्रैर्नोपालभ्यसे नोपालम्भविषयीक्रियसे। विद्वद्भिः पण्डितै शोच्यसे न शोकविषयीक्रियसे। यथा विटैरसदाचरणकारिभिर्न प्रकाश न प्रकटीक्रियसे। कुशलैरनाचाराभिज्ञैर्न प्रतार्यसे न प्रतारणाविषयीक्रियसे भुजङ्गैर्गणिकापतिभिर्नास्वाद्यसे गणिकार्थं द्रव्यवितरणद्वारा नोपभुज्यसे सेविकाः सपर्याकारिण एव वृका ईहामृगास्तैर्नावलुप्यसे नानिष्टे प्रसज्यसे नाकुलीक्रियस इत्यर्थः। धूर्तैः शठैर्न वञ्च्यसे न प्रतार्यसे। वनिताभि स्त्रीभिर्न प्रलोभ्यसे न प्रलोभनविषयीक्रियसे। लक्ष्म्या श्रिया न विडम्ब

न विडम्बनायुक्तः क्रियसे। न परित्यज्यस इत्यर्थः। मदेनाधिपत्यजनिताहंकारेण न नर्त्यसे न नृत्यं कार्यसे। मदनेन मनोभवेन न उन्मत्तीक्रियसे न चित्तविप्लवतामापाद्यसे। विषयैरिन्द्रियार्थैर्नाक्षिप्यसे न प्रेर्यसे। रागेण स्नेहादिना न विकृष्यसे नाकृष्यसे। सुखेन सातेन नापह्रियसे न परित्यज्यसे।

कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः पित्रा च समारोपितसंस्कारः, तरलहृदयमप्रतिबुद्धं च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसंतोषो मामेवं मुखरीकृतवान्। इदमेव च पुनःपुनरभिधीयसे। विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वमप्यभिजातमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति। सर्वथा कल्याणैः पित्रा क्रियमाणमनुभवतु भवान्नवयौवराज्याभिषेकमङ्गलम्। कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरूढां धुरम्। अवनमय द्विषतां शिरांसि। उन्नमय स्वबन्धुवर्गम्। अभिषेकानन्तरं च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन् विजितामपि तव पित्रा सप्तद्वीपभूषणां पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयं च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्। आरूढप्रतापो राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति, इत्येतावदभिधायोपशशाम।

यद्यपि आप स्वभाव से ही धीर हो, और (आपके) पिता ने (आपके) हृदय में (अच्छे) संस्कारों को डाला है, तथा (यह भी सत्य है कि) धन चञ्चल हृदय वाले, और अज्ञानी व्यक्ति को ही मतवाला बनाते हैं, फिर भी आपके गुणों से उत्पन्न सन्तोष ने मुझे इस प्रकार (तुम्हें उपदेश देने के लिए) प्रेरित किया। अब भी आपसे बार-बार यही कहा जाता है कि यह दुष्टा लक्ष्मी चाहे कोई विद्वान् भी हो, सावधान भी हो, अत्यन्त बलशाली भी हो, कुलीन भी हो, धीर भी हो, उद्योगी भी हो, फिर भी उसे दुर्जन बना देती है। आप

अपने पिता के द्वारा कल्याणकारी कार्यों के साथ किये जाते हुए यौवरा के अभिषेकरूपी मङ्गल का सब तरह से अनुभव करें। वंशपरम्परा से प्रा तथा पूर्वजों द्वारा उठाये हुए (राज्य के) भार को उठाओ, शत्रुओं के सि को झुका दो, बन्धुओं को उन्नत कर दो, और राज्याभिषेक के वाद दिशा के विजय को प्रारम्भ करके (विश्व भर में) भ्रमण करते हुए, तुम्हा पिता के द्वारा जीती गई भी (जम्बू आदि) सात द्वीपरूपी भूपणों वा पृथ्वी पर फिर से विजय प्राप्त करो। तुम्हारे लिए शत्रुओं पर अ प्रताप स्थापित करने का यह समय है क्योंकि वह राजा जिसने अपना प्र स्थापित कर लिया है, तीनों लोकों को देखने वाले (सर्वज्ञ) योगी के सम सिद्ध आज्ञा वाला हो जाता है (अर्थात् उसकी वात कोई नहीं टालता) इतना सब कहने के वाद (महामंत्री शुकनास) चुप हो गए।

काममत्यर्थं सकलशास्त्रवेतृभिः शिक्षिते त्वय्युपदेशो व्यर्थं इत्यवं पुनराह—प्रकृत्येति। प्रकृत्या स्वभावेन धीरो धैर्यवान्। यद्यपीति पूरणीयम् कीदृक् पित्रा चेति। पित्रा चकारान्मयापि समारोपिता विहिताः संस्का जातकर्मादयः। अथ च तत्तद्गुणविशेषाश्च यस्यैवंभूतः। अथवान्य दप्याह—तरलेति। तरलं चञ्चलं हृदयं चेतो यस्य स तमप्रतिबु बोधरहितं च पुरुषं धनानि द्रव्याणि मदयन्ति मदं जनयन्ति। अहं तु न तथानुनयामीति। येनोपदेशः सार्थकः स्यादिति तदभिप्रायमाशङ्क्यो त्तरमाह—तथापीति। अनुपदेश्यत्वेऽपि भवद्गुणैः शौर्यादिभि संतोषो मनसस्तुष्टिर्मां शुकनासमेवं पूर्वोक्तप्रकारेण मुखरीकृतवा तादृग्वाग्व्यापारे प्रवर्तितवान्। अहार्यविपरीतशङ्कानिवृत्तयेऽयमुपदे इत्यत आह—इदमेवेति। इदं पूर्वोक्तं पुनः पुनर्वारंवारमभिधीयसे कथ्यसे अहार्यशङ्कामुद्घाटयति—विद्वांसमिति। विद्वांसमपि पण्डितमपि सचेत मपि ज्ञानवन्तमपि महासत्त्वमपि महासाहसमप्यभिजातमपि कुलीनमपि धीरमपि धैर्यवन्तमपि प्रयत्नवन्तमपि उद्योगयुक्तमपि पुरुषं लक्ष्मीः श्री खलीकरोति सन्मार्गात् स्खलन्तं प्रापयति। अत्र सर्वत्रापिशब्दः कैमुति

न्यायपरः । अयमप्येवं करोति । अन्यस्य का वार्तेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह— यत इयं दुर्विनीता । अपगतविनयेत्यर्थः । भवान् त्वं पित्रा जनकेन कल्याणैर्मङ्गलैः क्रियमाणं विधीयमानं नवयौवनस्य यो राज्याभिषेकस्तल्लक्षणं यन्मङ्गलं श्रेयोऽनुभवतु अनुभवविषयीकरोतु । पूर्वपुरुषैरूढां कुलक्रमागतां परंपरायातां धुरं राज्यभारमुद्वह उद्वहनं कुरु । अवेति । अवेति । द्विषतां शत्रूणां शिरांसि उत्तमाङ्गानि अवनमय नम्राणि कुरु । स्वबन्धुवर्गं स्वजनसमुदायमुन्नमयोर्ध्वीकुरु । अभीति । अभिषेकानन्तरं यौवराज्याभिषेकादनु । प्रारब्धेति । प्रारब्धः प्रस्तुतो दिग्विजयो येन स परिभ्रमन् प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति गच्छन् तव पित्रा च त्वज्जनकेन विजितामपि स्वायत्तीकृतामपि सप्तद्वीपभूषणां सप्तसंख्याका द्वीपा जम्बूप्रभृतयो भूषणं यस्या एवंविधां वसुन्धरां पुनर्द्वितीयवारं विजयस्व स्वायत्तीकुरु । यमिति । प्रतापं कोशदण्डजं तेज आरोपयितुं लब्धास्पदं कर्तुं ते तवायं कालः समयः । समागत इति शेषः । तस्य फलं प्रदर्शयन्नाह— आरूढेति । आरूढो लब्धास्पदः प्रतापो यस्यैवंभूतो राजा त्रैलोक्यदर्शीव योगीव सिद्धो निष्पन्न आदेश आज्ञा यस्य स तथा त्रिकालदर्श्यपि सिद्धादेशो भवति । यथा वदति तथैव भवतीत्यर्थः । इतीति । इति परिसमाप्तावेतन्मात्रमभिधायोक्त्वा उपशशाम विरतवाग्व्यापारो बभूव ।

उपशान्तवचसि शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरुपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत इव, निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलंकृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयो मुहूर्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम ।

शुकनास के (उपदेश देने के वाद) चुप हो जाने पर उन उपदेश के वचनों से मानो धुला हुआ, मानो खिला हुआ, मानो स्वच्छ किया हुआ, मानो माँज कर साफ किया हुआ, मानो नहलाया हुआ, मानो लीपा हुआ, मानो सजोया हुआ, मानो पवित्र किया हुआ, मानो चमकाया हुआ-सा वह चन्द्रापीड हृदय में प्रसन्न होकर थोड़ी देर वहीं ठहर कर अपने घर चला आया।

उपेति । उपशान्तवचस्युपरतवाग्व्यापारे तस्मिञ्शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिः पूर्वोक्ताभिरुपदेशवाग्भिः शिक्षावचनैः प्रक्षालित धौत इव, उन्मीलित इव विकसित इव, स्वच्छीकृत इव स्वच्छतां प्रा इव, निर्मृष्ट इव मसृणीकृत इव, अभिषिक्त इव स्नपित इव, लिप्त इव प्रलिप्त इव, अलंकृत इव भूषित इव, पवित्रीकृत इव पावनी इव, उद्भासित इवोद्दीपित इव। प्रीतेति । प्रीतं संतुष्टं हृदयं यस्यैवंभूतो मुहूर्तं घटिकाद्वयं स्थित्वा अवस्थानं कृत्वा स्वभवनं निज आजगाम आययौ।

इति श्रीमत्तपोगणगगनाङ्गणगगनमणिभट्टारसार्वभौमट्टारश्रीवि सेनसूरीश्वराणां विजयराज्येपातशाहश्रीअकब्बरप्रदापितोपाध्यायपदधार श्रीशत्रुञ्जयकरमोचनाद्यनेकसुकृतकारकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिविर तायां कादम्बरीनिरन्तरव्याख्यायां शुकनासोपदेशः।

महाकवि-श्रीकालिदास-प्रणीतम्

श्रीरघुवंश-महाकाव्यम्

प्रथमः सर्गः

सञ्जीविनी

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसंकुचद्वामदृष्टये ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तं नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥

शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब कृतार्थसार्थवाहम् ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षिपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

तथापि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

इह हि खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।' इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनताम्, 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन्, रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वात्, 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात्काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वे विशिष्टशब्दार्थयोश्च 'शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥' इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तत्वदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ १॥

अन्वयः—"अहं कालिदासः" वागर्थाविव सम्पृक्तौ, जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ, वागर्थप्रतिपत्तये, वन्दे।

शब्द और अर्थ के समान (नित्यसम्बद्ध) एकरूप और संसार के माता-पिता पार्वतीजी और शिवजी को, शब्द और अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान तथा व्यवहार करने के लिये, मैं (कालिदास) प्रणाम करता हूँ॥ १॥

वागर्थाविवेत्येकं पदम्। "इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम्"। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वागर्थाविव शब्दार्थाविव संपृक्तौ नित्यसंबद्धावित्यर्थः। नित्यसंबद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात्। 'नित्यः शब्दार्थसंबन्धः' इति मीमांसकाः। जगतो लोकस्य पितरौ। माता च पिता च पितरौ। "पिता मात्रा" इति द्वन्द्वैकशेषः। 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसू जनयितारौ' इत्यमरः। एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्टयमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वं च

सूच्यते। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती "तस्यापत्यम्" इत्यण्। "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०" इत्यादिना ङीप्। पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वती-परमेश्वरौ। परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः। मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः। वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं वन्देऽभिवादये। अत्रोपमालंकारः स्फुट एव। तथोक्तम्—'स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संपन्नेन च धर्मतः। साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा।' इति। प्रायिकश्चोपमालङ्कारः कालिदासोक्तकाव्यादौ। भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते। तदुक्तम्—'शुभदो मो भूमिमयः' इति। वकारस्यामृतबीजत्वात्प्रचयगमनादि-सिद्धिः॥ १॥

सम्प्रति कविः स्वाहङ्कारं परिहरति 'क्व सूर्य—' इत्यादिश्लोकद्वयेन

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ २॥

अन्वयः—सूर्यप्रभवः वंशः क्व, अल्पविषया "मे" मतिश्च क्व, "अहम्" मोहाद्, दुस्तरं सागरम् उडुपेन तितीर्षुः अस्मि।

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न हुआ वह तेजस्वी वंश और कहाँ मन्दबुद्धि मैं? (अर्थात् इस वात को मैं जानता हूँ कि पराक्रमी प्रभावशाली रघु के वंश का वर्णन करने में मैं सर्वथा अयोग्य हूँ फिर भी) मैं उसी तरह इसे पार करना चाहता हूँ जैसे कोई छोटी-सी डोंगी से अथाह समुद्र को पार करने की इच्छा कर रहा हो॥ २॥

प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। "ऋदोरप्" अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति साधुः। सूर्यप्रभवो वंशः क्व। अल्पो विषयो ज्ञेयोऽर्थो यस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व। द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। सूर्य-वंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः। तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः। तथा हि। दुस्तरं तरितुमशक्यम् "ईषद्दुःसुषु०" इत्यादिना खल्प्रत्ययः। सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन। उडुपं तु प्लवः

कोलः' इत्यमरः। अथवा चर्मावनद्धेन यानपात्रेण। 'चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः। तितीर्षुस्तरितुमिच्छुरस्मि भवामि। तॄ सन्नन्तादुप्रत्ययः। अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः। इदं वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव। तदुक्तम्—'प्रतिपाद्यमहिम्ना प्रबन्धो हि महत्तरः' इति ॥ २ ॥

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥

अन्वयः—मन्दः, "तथापि" कवियशःप्रार्थी, "अहं" प्रांशुलभ्ये फले लोभात्, उद्बाहुः वामनः इव, उपहास्यतां गमिष्यामि।

बड़े-बड़े कवियों के यश को चाहनेवाला मैं मन्दबुद्धि उसी प्रकार हँसी को प्राप्त होऊँगा, जैसे कि लम्बे मनुष्य के पहुँचने योग्य फल की ओर 'फल तोड़ने के लिये' ऊपर हाथ फैलाए बौना ॥ ३ ॥

किं च मन्दो मूढः। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः। तथापि कवियशःप्रार्थी। कवीनां यशः काव्यनिर्माणेन जातस्तत्प्रार्थना-शीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो वामनः खर्व इव। 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। उपहास्यतामुपहासविषयताम्। "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यत्प्रत्ययः। गमिष्यामि प्राप्स्यामि ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथवा, पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे, अस्मिन् वंशे, वज्रसमुत्कीर्णे मणौ, सूत्रस्य इव, मे गतिः अस्ति।

(किन्तु एक ही मुझे विश्वास है कि वाल्मीकि आदि) पूर्व कवियों ने सूर्यवंश पर रामायण आदि काव्य लिखकर, वाणी का द्वार पहले

खोल दिया है। इसलिये उसमें प्रवेश कर जाना (सूर्यवंश का पुनः वर्णन करना) मेरे लिये वैसे ही सरल है जिस प्रकार हीरे की कनी से विंधे हुए मणि में डोरा पिरोना ॥ ४ ॥

अथवा पक्षान्तरे पूर्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन्। अस्मिन् सूर्यप्रभवे वंशे कुले। जन्मनैकलक्षणः सन्तानो वंशः। वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण। 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः। मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः। समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः संचारोऽस्ति। वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे लब्धप्रवेशस्तद्वर्णनां प्रतिजानानः 'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः, अहम्, आजन्मशुद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्, आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनां, "रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये।"

मन्दमति मैं कालिदास उन प्रतापी सूर्यवंशियों का वर्णन करूँगा, जिनके संस्कार तथा चरित्र जन्म से लेकर अन्त तक शुद्ध रहे और जो किसी कार्य को प्रारम्भ कर, उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। जिनका साम्राज्य समुद्र तक फैला था और जिनके रथ का मार्ग स्वर्ग तक था, अर्थात् पृथिवी से स्वर्ग तक उनके रथ आते-जाते थे ॥ ५ ॥

सोऽहम्। 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण नवमश्लोकस्थेन सम्बन्धः। किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि। आजन्मनः जन्मारभ्येत्यर्थः। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। शुद्धानाम्। "सह सुपा" इति समासः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। आजन्मशुद्धानाम्। निषेकादिसर्वसंस्कारसंपन्नानामित्यर्थः। आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम्। प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः। आसमुद्रं क्षितेरीशानाम्।

सार्वभौमाणामित्यर्थः। आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम्। इन्द्रसहचारि- मित्यर्थः। अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम्। अन्यथा मर्यादायां जन्मादिषु शुद्धयभावप्रसङ्गात्॥ ५॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥ ६॥

अन्वयः—यथाविधिहुताग्नीनां, यथाकामार्चितार्थिनाम्, यथापराध- दण्डानां, यथाकालप्रबोधिनाम् "रघूणामन्वयं वक्ष्ये।"

जो शास्त्रविधि के अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगने वालों को भरपूर दान देते थे, जो दुष्टों को अपराध के अनुसार ही दण्ड देते थे, जो समय पर ही कार्य करते थे॥ ६॥

विधिमनतिक्रम्य यथाविधि। "अव्ययं विभक्ति" इत्यव्ययीभावः। तथा हुतशब्देन "सह सुपे" ति समासः। एवं 'यथाकामार्चित' इत्यादी- नामपि द्रष्टव्यम्। यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम्। यथाकाममभिलाष- मनतिक्रम्यार्चितार्थिनाम्। यथापराधमपराधम् अनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम्। यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनाम् प्रबोधनशीलानाम्। चतुर्भिर्विशेषणैर्देवतायजनार्थिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वा- दीनि विवक्षितानि॥ ६॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥ ७॥

अन्वयः—त्यागाय सम्भृतार्थानां, सत्याय मितभाषिणां, यशसे विजिगीषूणां, प्रजायै गृहमेधिनाम्, "रघूणामन्वयं वक्ष्ये।"

जो कि सत्पात्र में दान देने के लिए ही धन बटोरते थे, सत्य बोलने के लिए ही कम बोलते थे और जो अपनी कीर्ति फैलाने के लिए ही विजय करते थे, (न कि अन्य का राज्य छीनने के लिए), जो सन्तान के लिए ही विवाह करते थे, (न कि भोगविलास के लिए)॥ ७॥

त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै। 'त्यागो विहापितं दानम्' इत्यमरः। संभृतार्थानां संचितधनानाम्। न तु दुर्व्यापाराय। सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलानाम्। न तु पराभवाय। यशसे कीर्तये। 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम्। न त्वर्थसंग्रहाय। प्रजायै सन्तानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् न तु कामोपभोगाय। अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु "चतुर्थी तदर्थार्थ०" इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी गृहैर्दारैर्मेधन्ते संगच्छन्त इति गृहमेधिनः। 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः। 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलायुधः। 'मेधृ संगमे' इति धातोर्णिनिः। एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं यशःपरत्वं पितॄणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ॥७॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—शैशवे अभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणां, वार्धके मुनिवृत्तीनाम्, अन्ते योगेन तनुत्यजां, "रघूणामन्वयं वक्ष्ये।"

जो बचपन में ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते थे, जो जवानी में गृहस्थाश्रम में रहकर विषयों का उपभोग करते थे और बुढ़ापे में मुनियों के समान वन में रहकर तपस्या करते थे (अर्थात् वानप्रस्थाश्रम का पालन करते थे), जो अन्त समय परमात्मा का ध्यान करते हुए शरीर का त्याग करते थे ॥ ८ ॥

शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम्। 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र०' इत्यञ्प्रत्ययः। 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः। तस्मिन्वयस्यभ्यस्तविद्यानाम्। एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः। यूनो भावो यौवनं तारुण्यम्। युवादित्वादण्प्रत्ययः। 'तारुण्यं यौवनं समम्' इत्यमरः। तस्मिन्वयसि विषयैषिणाम्। भोगाभिलाषिणाम्। एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः। वृद्धस्य भावो वार्द्धकम् वृद्धत्वम्। "द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" इति वुञ्प्रत्ययः। 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते

वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः। संघातार्थेऽत्र "वृद्धाच्छः" इति व्यात्सामूहिको वुञ् । तस्मिन्वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्ति तेषाम् । एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः । अन्ते शरीरत्यागकाले परमात्मध्यानेन। 'योगेन संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यमरः। देहं त्यजन्तीति तनुत्यजां देहत्यागिनाम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति क्विप्। भिक्ष्वाश्रमो विवक्षितः ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९

अन्वय :—"सः अहम्" तनुवाग्विभवोऽपि सन्, तद्गुणैः कर्णम् चापलाय प्रचोदितः सन् रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये । (इति पूर्वोक्त श्लोकैः कुलकम्) ।

यद्यपि मेरी वाणी की सामर्थ्य अल्प है, फिर भी मैं पूर्वोक्त गुणों से युक्त रघुवंशियों के कुल का वर्णन करूँगा, (इसलिये कि) उनके के पवित्रता आदि गुणों ने मेरे कान में आकर प्रेरणा की है ॥ ९॥

सोऽहं लब्धप्रवेशः । तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः। आजन्मशुद्धयादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम मागत्य चापलाय चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम् । युवादि त्कर्मण्यण्। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन चतुर्थी प्रचोदितः प्रेरितः सन् । रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये ॥९॥ कुलकम् ॥

संप्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥

अन्वयः—सदसद्व्यक्तिहेतवः सन्तः, तं श्रोतुम् अर्हन्ति; हि, हेम्नः विशुद्धिः, श्यामिका अपि वा, अग्नौ संलक्ष्यते ।

भले-बुरे की पहचान करने वाले विद्वान् ही इस काव्य को सुनने के अधिकारी हैं, क्योंकि सोने का खोटापन अथवा खरापन अग्नि में डालने पर ही जाना जाता है ॥ १० ॥

तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तेर्हेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति । तथा हि । हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकापि लोहान्तरसंसर्गात्मको दोषोऽपि वाग्नौ संलक्ष्यते । नान्यत्र । तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोषविवेकाधिकारिणो नान्य इति भावः ॥ १० ॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥११॥

अन्वयः—मनीषिणां माननीयः, छन्दसां प्रणवः इव, महीक्षिताम् आद्यः, वैवस्वतः नाम, मनुः आसीत् ।

जिस प्रकार वेदों में सर्वप्रथम ॐकार है, उसी प्रकार राजाओं में सर्वप्रथम विद्वानों के पूज्य, सूर्य-पुत्र वैवस्वत नाम के मनु हुए ॥ ११ ॥

मनसा ईषिणो मनीषिणो धीराः विद्वांस इति यावत् । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां माननीयः पूज्यः । छन्दसां वेदानाम् । 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः । प्रणव ओंकार इव । महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः क्षितीश्वराः । क्षिधातोरैश्वर्यार्थात्क्विप् तुगागमश्च । तेषामाद्य आदिभूतः । विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥ ११ ॥

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥१२॥

अन्वयः—शुद्धिमति तदन्वये, शुद्धिमत्तरः, दिलीपः इति, राजेन्दुः, क्षीरनिधौ इन्दुः इव, प्रसूतः ।

उन्हीं सूर्यपुत्र मनु के उज्ज्वल वंश में अत्यन्त पवित्र चरित्र वाले,

राजाओं में श्रेष्ठ, राजा दिलीप वैसे ही पैदा हुए जैसे क्षीरसा
चन्द्रमा ॥ १२ ॥ के समान शीतल स्वभाव वाले।

शुद्धिरस्यातीति शुद्धिमान् । तस्मिञ्शुद्धिमति । तदन्वये तस्य
रन्वये वंशे । 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति
युधः । अतिशयेन शुद्धिमाञ्शुद्धिमत्तरः । "द्विवचनविभज्योप०" इत्या
समासः । क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः ॥ १२ ॥

'व्यूढ'—इत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥१३॥

अन्वयः—व्यूढोरस्कः, वृषस्कन्धः, शालप्रांशुः, महाभुजः, आत्मकर्म
देहम्, आश्रितः, क्षात्रः धर्मः इव, स्थितः ।

चौड़ी छाती वाले, बैल के समान ऊँचे भारी कन्धों वाले, शालवृक्ष
समान उन्नत (ऊँचे) और दीर्घ भुजा वाले, अपने कार्य करने में स
शरीर को धारण किए, राजा दिलीप ऐसे जान पड़ते थे, मानो शरीरधा
क्षत्रियों का वीरतारूपी धर्म हो ॥ १३ ॥ कार्य अनुरूप शरीर

व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्कः । "उरःप्रभृतिभ्यः कप्" इ
कप्प्रत्ययः । 'व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठं च' इति याद
वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स तथा । 'सप्तम्युपमान०' इत्यादि
त्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः । 'प्रा
वृक्षयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति यादवः । 'उच्चप्रांशून्नतो
ग्रोच्छ्रितास्तुङ्ग' इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः । आत्मकर्मक्षमं स्व
पारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्रः क्षत्रसंबंधी धर्म इव स्थितः । मू
मान्पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥१४॥

अन्वयः—सर्वातिरिक्तसारेण, सर्वतेजोभिभाविना, सर्वोन्नतेन, आत्मना, मेरुः इव, उर्वीं क्रान्त्वा स्थितः "एवंभतो दिलीपः"।

जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ने अपनी दृढ़ता से, अपनी कान्ति से तथा ऊँचाई से सभी दृढ़ कान्ति वाले तथा ऊँचे पदार्थों को दबा कर अपने विस्तार से सारी पृथिवी को व्याप्त कर रखा है, वैसे ही राजा दिलीप ने अपने पराक्रम, तेज और लम्बे-चौड़े शरीर से सब को नीचा दिखाकर समस्त पृथिवी-मण्डल को अपने अधीन कर लिया था ॥ १४ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन। 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः। सर्वाणि भूतानि तेजसाभिभवतीति सर्वतेजोभिभावी तेन। सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः। मेरुरिव। उर्वीं क्रान्त्वाक्रम्य स्थितः। मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि। 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥" इति मनुवचनाद्राज्ञः सर्वतेजोभिभावित्वं ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥

अन्वयः—आकारसदृशप्रज्ञः, प्रज्ञया सदृशागमः, आगमैः सदृशारम्भः, आरम्भसदृशोदयः, 'स दिलीप आसीत्'।

राजा दिलीप जैसे सुन्दर और विशालकाय थे, वैसे ही उनकी कुशाग्र बुद्धि थी। जैसी तीक्ष्ण वुद्धि थी वैसे ही वे शास्त्राभ्यासी थे, इसलिये शास्त्रानुकूल ही कार्य करते थे और वैसी ही पूर्ण सफलता भी उनको मिलती थी ॥ १५ ॥

आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः। प्रज्ञया सदृशागमः प्रज्ञानुरूपशास्त्रपरिश्रमः। आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः। आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म। तत्सदृश उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥१६॥

अन्वयः—भीमकान्तैः नृपगुणैः, सः उपजीविनां, यादोरत्नैः अर्णवः इव, अधृष्यश्च, अभिगम्यश्च, बभूव ।

तेज-प्रताप आदि डरावने तथा दया-दाक्षिण्य आदि सुन्दर गुणों के कारण राजा दिलीप का उनके आश्रित जन वैसे ही तिरस्कार नहीं करते थे तथा सेवा करते थे, जैसे कि मकर-मच्छों तथा रत्नों के कारण समुद्र का । (अर्थात् मकरादि से डरकर लोग समुद्र से दूर भी भागते हैं और रत्नों को लेने के लिये उसमें घुसते भी हैं) ॥ १६ ॥

भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणै राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशील-दाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् यादोभिर्जलजीवैः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैश्चार्णव इव । अधृष्योऽनभिभवनीय आश्रयणीयश्च बभूव ॥ १६ ॥

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥१७॥

अन्वयः—नियन्तुः तस्य, नेमिवृत्तयः प्रजाः, आमनोः, क्षुण्णात् वर्त्मनः परं, रेखामात्रमपि, न व्यतीयुः ।

जिस प्रकार चतुर सारथि से चलाये गए रथ के पहिये जरा भी लीक से इधर-उधर नहीं हो पाते, वैसे ही सुयोग्य शासक राजा दिलीप से शासित प्रजा किंचिन्मात्र भी भगवान् मनु के नियमों का उल्लंघन नहीं करती थी ॥ १७ ॥

नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य सम्बन्धिन्यो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । प्रजाः आ मनोः मनुमारभ्येत्यभिविधिः । पदद्वयं चैतत् । समासस्य वि-

षितत्वात् । क्षुण्णादभ्यस्तात्प्रहताच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम् । इतस्तत इत्यर्थः । रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणं । ईषदपीत्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रचप्रत्ययः । परशब्दविशेषणं चैतत् । न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवत्यः कुशलसारथिप्रेषिता रथनेमय इव तस्य प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः ॥ १७ ॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥१८॥

अन्वयः—सः प्रजानां भूत्यर्थम् एव ताभ्यः बलिम् अग्रहीत्, हि रविः सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुं रसम् आदत्ते ।

जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा पृथिवी से जल सोखकर हजारगुनी वर्षा करता है, वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा से जो आय का छठा भाग कर रूप में लेते थे, उसे प्रजा के कल्याण में ही लगा देते थे ॥ १८ ॥

स राजा प्रजानां भूत्या अर्थात् भूत्यर्थं वृद्धयर्थमेव । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' । ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत् । ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं करम्, 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः । तथाहि । रविः सहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधोत्स्रष्टुं दातुम् । उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत् । रसमम्ब्वादत्ते गृह्णाति । 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरोगयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' ॥ इति विश्वः ॥ १८ ॥

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥१९॥

अन्वयः—तस्य सेना परिच्छदः 'बभूव', अर्थसाधनं द्वयमेव, शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः, धनुषि आतता मौर्वी च ।

राजा दिलीप की विशाल सेना तो केवल उपकरण (शोभा) मात्र थी,

उसके प्रयोजन तो इन दो बातों से ही सिद्ध हो जाते थे : एक तो शास्त्रावगाहिनी बुद्धि और दूसरी धनुष पर चढ़ी डोरी ॥ १९ ॥

तस्य राज्ञः सेना चतुरङ्गबलम् । परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छदः उपकरणं बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि संज्ञायां प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्वः । प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः । 'व्याहता' इत्यपि पाठः । धनुष्याातताऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिंजनी गुणः' इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ॥१९॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥

अन्वयः—संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च तस्य प्रारम्भाः प्राक्तनाः संस्काराः इव फलानुमेया 'आसन्' इति शेषः ।

सर्व प्रकार से मंत्रणा को गुप्त रखने वाले तथा बाहर-भीतर के सुख-दुःख से चिन्हों को भी छिपाने वाले राजा दिलीप के समस्त कार्य पूर्वजन्म के संस्कारों के समान, फल से ही जाने जाते ॥ २० ॥

संवृतन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचको भ्रुकुटीमुखरागादिराकारः इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा । 'इङ्गितं हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः । गूढे आकारेङ्गिते यस्य । स्वभावचापलाद् भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वा तृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य । प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः । प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः । 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन ट्युल्प्रत्ययः । संस्काराः पूर्वकर्मवासना इव फलेन कार्येणानुमेया अनुमातुं योग्या आसन् । अत्र याज्ञवल्क्यः—'मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम् । कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात्' । ॥ इति ॥ २० ॥

संप्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षादिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥२१॥

अन्वयः—सः अत्रस्तः 'सन्' आत्मानं जुगोप, अनातुरः 'सन्' धर्मं भेजे, अगृध्नुः 'सन्' अर्थम् आददे, असक्तः 'सन्' सुखम् अन्वभूत् ।

राजा दिलीप निडर होकर अपनी रक्षा करते थे, नीरोग होकर धर्म की सेवा करते थे एवं लोभ छोड़कर धन का संग्रह करते थे, तथा आसक्ति (मोंह) को त्याग कर सांसारिक सुख का अनुभव करते थे ॥ २१ ॥

अत्रस्तोऽभीतः सन् । 'त्रस्तो भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः । त्रासोपाधिमन्तरेणेव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान् अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे । अर्जितवानित्यर्थः । अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान् । 'गृध्नुस्तु गर्धनः । लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः । असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥२२॥

अन्वयः—ज्ञाने मौनं, शक्तौ क्षमा, त्यागे श्लाघाविपर्ययः, 'इत्थं तस्य गुणाः, गुणानुबन्धित्वात्, सप्रसवाः इव, 'अभूवन्' ।

दूसरों की बात जानकर भी चुप रहना, शत्रु से बदला लेने की सामर्थ्य रहते भी क्षमा करना, तथा दान देकर आत्म-प्रशंसा न करना, इस प्रकार दिलीप के ज्ञानादि गुण, मौनादि विरुद्ध गुणों के साथ रहने के कारण सगे भाई-जैसे जान पड़ते थे। (अर्थात् दिलीप में, परस्पर-विरोधी गुण बिना विरोध के रहते थे) ॥ २२ ॥

ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम् । यथाह कामन्दकः 'नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुता' इति । शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्ये क्षमापकारसहनम् । अत्र चाणक्यः 'शक्तानां भूषणं क्षमा' इति । त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः । अत्राह मनुः 'न दत्वा परिकीर्तयेत्' इति । इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात्सहचारित्वात् । सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन् । विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च । तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ॥२३॥

अन्वयः—विषयैः अनाकृष्टस्य, विद्यानां पारदृश्वनः, धर्मरतेः, तस्य जरसा, विना, वृद्धत्वम्, आसीत् ।

सांसारिक भोगों से दूर रहने वाले वेद-वेदांग आदि के पारंगत धर्मानुरागी राजा दिलीप जवानी में ही इतने ज्ञान-सम्पन्न हो गये कि वृद्धावस्था के बिना भी उनमें बुढ़ापा जान पड़ने लगा (अर्थात् वह ज्ञान से बड़े बूढ़े जान पड़ते थे) ॥ २३ ॥

विषयैः शब्दादिभिः 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः । दृशेः क्वनिप् । धर्मे रतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा विना । 'विस्रसा जरा' इत्यमरः । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । वृद्धत्वं वार्द्धकमासीत् । तस्य यूनोऽपि विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसंपत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः । नाथस्तु चतुर्विधं वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत् ॥ २३ ॥

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४।

अन्वयः—प्रजानां विनयाधानात्, रक्षणात्, अपि सः पिता "अभूत्" तासां पितरः 'तु' केवलं जन्महेतव "अभूवन्" ।

अपनी प्रजा को नम्रता (सदाचार) की शिक्षा देने से और उसकी आपत्तियों से रक्षा करने से, एवं अन्न-जल की व्यवस्था करके पालन करने से राजा दिलीप ही वास्तव में प्रजा के पिता थे; पिता कहलाने वाले और सब तो केवल जन्म देकर नाममात्र के ही पिता थे ॥ २४ ॥

प्रजायन्त इति प्रजा जनाः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति डप्रत्ययः । 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः । तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्करणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत् । रक्षणाद्भयहेतुभ्यस्त्राणात् आपन्निवारणादिति यावत् । भरणादन्नपानादिभिः पोषणादपि । अपिः समुच्चये । स राजा पिताऽभूत् तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तारः । केवलमुत्पादका एवाभूवन् । जननमात्र एव पितृणां व्यापारः । सदा शिक्षारक्षणादिकं तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेशः । आहुश्च—'स पिता यस्तु पोषकः' इति ॥ २४ ॥

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥

अन्वयः—दण्ड्यान् एव स्थित्यै दण्डयतः, प्रसूतये परिणेतुः, मनीषिणः तस्य अर्थकामौ अपि, धर्मः एव आस्ताम् ।

लोक-मर्यादा की रक्षा के लिये अपराधियों को अपराध के अनुकूल दण्ड देने वाले और केवल पुत्र के लिये विवाह करने वाले विद्वान् राजा दिलीप का अर्थ और काम भी धर्म ही था ॥ २५ ॥

दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः । 'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव

गच्छति ।" इति शास्त्रवचनात् । तान् दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठ दण्डयतः शिक्षयतः । प्रसूतये सन्तानायैव परिणेतुर्दारान्परिगृह्णतः । म षिणो विदुषः दोषज्ञस्येति यावत् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोवि बुधः । धीरो मनीषी' इत्यमरः । तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एव जातौ । अस्तेर्लङ् । अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पा रूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मशेषतामापादयन्स राजा धर्मोत्त भूदित्यर्थः । आह च गौतमः—'न पूर्वाह्णमध्यदिनापराह्णानफलान्कु यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्' इति ॥ २५ ॥

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥

अन्वय—सः यज्ञाय गां दुदोह; मघवा सस्याय दिवं "दुदोह" उभौ सम्पद्विनिमयेन भुवनद्वयं दधतुः ।

राजा दिलीप, यज्ञ करने के लिये पृथिवी को दुहता था, (अर्थात् प्र से कर लेकर यज्ञ करता था) और इन्द्र अन्न के लिये स्वर्ग को दुहता (अर्थात् वर्षा करके अन्न को बढ़ाता था) । इस प्रकार इन्द्र और दि आपस में अपनी अपनी सम्पत्ति का आदान-प्रदान करके दोनों भुवनों रक्षा करते थे ॥ २६ ॥

स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्तुं गां भुवं दुदोह । करग्रहणेन रिक्तां चका त्यर्थः । मघवा देवेन्द्रः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं दुदोह द्युलोकान्महीलोके वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य०' इत्यादि यज्ञसस्याभ्यां चतुर्थी । एवमुभौ संपदो विनिमयेन परस्परं आदानप्र दानाभ्यां भुवनद्वयं दधतुः पुपुषतुः । राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्चोद भूलोकं पुपोषेत्यर्थः । उक्तं च दण्डनीतौ—'राजा त्वर्थान्समाहृत्य कुर्यादि महोत्सवम् । प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत् ॥' इति ॥ २६ ॥

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥२७॥

अन्वयः—राजानः रक्षितुः तस्य यशः न अनुययुः किल, यत्, तस्करता परस्वेभ्यः व्यावृत्ता 'सती' श्रुतौ स्थिता ।

(भय के कारणों से) उस रक्षक दिलीप के यश को कोई भी राजा न पा सका । क्योंकि उसके राज्य में 'चोरी' यह शब्द केवल सुनने में ही आता था, (अर्थात् दिलीप के राज्य में कोई किसी के धन का अपहरण नहीं करता था, इसलिए उसके यश की भी चोरी न हुई) ॥ २७ ॥

राजानोऽन्ये नृपा रक्षितुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु । कुतः ? यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता । अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः । अथवा 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति, हि इति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥२८॥

अन्वयः—शिष्टः, द्वेष्यः अपि, आर्त्तस्य औषधं यथा, तस्य सम्मतः आसीत्, दुष्टः, प्रियः अपि, उरगक्षता अङ्गुलीव, "तस्य" त्याज्यः "आसीत्" ।

सज्जन पुरुष, शत्रु होते हुए भी दिलीप का वैसे ही प्रिय था जैसे रोगी को कड़वी औषधि; और दुष्ट मनुष्य प्रिय होते हुए भी वैसे ही त्याज्य था जैसे साँप से डसी अंगुली ॥ २८ ॥

शिष्टो जनो द्वेष्यः शत्रुरपि । आर्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव । तस्य संमतोऽनुगत आसीत् । दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि ।

उरगक्षता सर्पदष्टांगुलीव । 'छिन्द्याद् बाहुमपि दुष्टमात्मनः' इति न्या त्याज्य आसीत् । तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥

अन्वयः—वेधाः तं महाभूतसमाधिना विदधे, नूनं, तथा हि सर्वे गुणाः परार्थैकफलाः आसन् ।

ब्रह्माजी ने जिस कारण-सामग्री से 'पृथिवी जल अग्नि वायु आ इन पच महाभूतों को वनाया, उसी कारण-सामग्री से महाराज दि को भी वनाया, यह निश्चित है, इसीलिये जैसे पंचभूतों के गुण दूसरों लिये ही हैं वैसे ही राजा दिलीप के सभी गुण भी दूसरों के ही लि ॥ २९ ॥

वेधाः स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा' इत्यमरः । तं दिलीपम् । स घीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री । महाभूतानां यः समाधिस्तेन म भूतसमाधिना विदधे ससर्ज । नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथा हि । त राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थः परप्रयोजनमेवैकं फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणाः कार्ये मन्तीति न्यायः सूचितः ॥ २९ ॥

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥३०॥

अन्वयः—सः वेलावप्रवलयाम्, परिखीकृतसागराम्, अनन्यशासना उर्वीम्, एकपुरीम्, इव, शशास ।

उस दिलीप ने समुद्र के तटरूपी परकोटा वाली तथा साग 'चारों तरफ की खाईं' वाली, दूसरे राजा के शासन-रहित सारी पृ

चारों ओर दीवार (समुद्र)

का शासन बिना परिश्रम, इस प्रकार किया, जैसे कोई एक नगरी का शासन करता है ॥३०॥

स दिलीपः। वेलाः समुद्रकूलानि। 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः। ता एव वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम्। 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्। प्राकारो वरणः सालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः। परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम्। 'खातं खेयं तु परिखा' इत्यमरः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात्खनेर्डप्रत्ययः। अपरिखाः परिखाः संपद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम्। अभूततद्भावे च्विः। अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास। अनायासेन शासितवानित्यर्थः॥ ३० ॥

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥

अन्वयः—तस्य मगधवंशजा, दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना अध्वरस्य दक्षिणा, पत्नी, इव, सुदक्षिणा इति, 'पत्नी' आसीत्।

राजा दिलीप की मगध कुल में उत्पन्न तथा राजा के चित्त का अनुसरण करने वाली सुदक्षिणा नाम से प्रसिद्ध पटरानी वैसी ही थी जैसी यज्ञ की पत्नी दक्षिणा॥ ३१ ॥

तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा। 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः। एतेनाभिजात्यमुक्तम्। दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्। 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति शाश्वतः। तेन रूढं प्रसिद्धम्। तेन नाम्ना। अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत्। अत्र श्रुतिः—'यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाप्सरसः' इति। दक्षिणाया दाक्षिण्यं नामर्त्विजो दक्षिणत्वप्रापकत्वम्। दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य' इति च॥ ३१ ॥

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥

अन्वयः—वसुधाधिपः, अवरोधे महति अपि, मनस्विन्या त लक्ष्म्या च, आत्मानं कलत्रवन्तं, मेने ।

चक्रवर्ती राजा दिलीप, अनेक रानियों के होते हुए भी, पति इच्छा का अनुसरण करने वाली सुदक्षिणा और राज्यलक्ष्मी से ही को स्त्री वाला मानते थे ॥ ३२ ॥

वसुधाधिपः । अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति सत्यपि मनस्विन्या दृढ त्तया । परिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः । तया सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । वसु धाधिप इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते ॥ ३२ ॥

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥

अन्वयः—सः आत्मानुरूपायां तस्याम्, आत्मजन्मसमुत्सुकः, विलम्बितफलैः मनोरथैः कालं निनाय ।

राजा दिलीप ने, अपने मनोनुकूल सुदक्षिणा में पुत्रोत्पत्ति की अभिलाषा से प्रतीक्षा करते हुए बहुत समय बिताया ॥ ३३ ॥

स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्म जन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ॥ ३३ ॥

संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥३४॥

अन्वयः—तेन सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता जगतः गुर्वी, धूः सचिवेषु निचिक्षिपे ।

पुत्र की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठान करने के लिये राजा दिलीप ने अपनी भुजाओं से उतारा हुआ प्रजापालन रूप राज्यभार मंत्रियों के ऊपर रख दिया, (अर्थात् कार्यभार मंत्रियों को सौंप दिया) ॥ ३४ ॥

तेन दिलीपेन । संतानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय । स्वभुजादवतारितावरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ॥ ३४ ॥

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥

अन्वयः—अथ पुत्रकाम्यया प्रयतौ तौ दम्पती विधातारम् अभ्यर्च्य, गुरोः वसिष्ठस्य, आश्रमं जग्मतुः ।

मन्त्रियों को राज्य का भार सौंपकर, राजा दिलीप तथा सुदक्षिणा ने पवित्र होकर पुत्र की कामना से ब्रह्माजी की पूजा करके अपने कुलगुरु वसिष्ठजी के आश्रम की ओर प्रस्थान किया ॥ ३५ ॥

अथ धुरोऽवतारानन्तरं पुत्रकाम्ययात्मनःपुत्रेच्छया । 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः । 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यधातोरकारप्रत्ययः । ततष्टाप्, तया । तौ दंपती जायापती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य । 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिकाः । गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः । पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ॥ ३५ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥

अन्वयः—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम्, एकं स्यन्दनं, प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावतौ इव, आस्थितौ, ('तौ जग्मतुः' इति पूर्वेण संबन्धः) ।

मधुर एवं गम्भीर घरघराहट वाले एक रथ पर चढ़कर सुदक्षिणा और दिलीप इस प्रकार चले जा रहे थे, जैसे वर्षा के वादल पर बिजली और एरावत (इन्द्र का हाथी) चले जा रहे हों ॥ ३६ ॥

स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम्। प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः। 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः। तं प्रावृषेण्यं पयोमेघं विद्युदैरावताविव। आस्थितावारूढौ। जग्मतुरिति पूर्वेण संबन्धः। इर आपः। 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः। इरावान्समुद्रः तत्र भवः ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः। 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः। अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थरूपत्वात्' इति कीरस्वामी। अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्यं च घटते। किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादैरावती संज्ञा। ऐरावतस्य स्त्र्यैरावतीति कीरस्वामी। तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेतीति। एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं च सूचयति ॥ ३६ ॥

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥३७॥

अन्वयः—आश्रमपीडा मा भूत्, इति, परिमेयपुरःसरौ, अनुभावविशेषात् तु सेनापरिवृतौ, इव, 'स्थितौ जग्मतुः'।

आश्रम के निवासी जनों के कार्य में वाधा न हो, इसलिये राजा दिलीप ने परिमित 'तीन-चार' सेवकों को ही साथ लिया, किन्तु अपने प्रताप व तेज से वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों वड़ी भारी सेना से घिरे हों ॥ ३७ ॥

पुनः किंभूतौ दम्पती ? आश्रमपीडा मा भून्मास्त्वित हेतोः। 'माङि लुङ' इत्याशीरर्थे लङ। 'न माङयोगे' इत्यडागमनिषेधः। परिमेयपुरःसरौ परिमितपरिचरौ। अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताविव स्थितौ ॥ ३७ ॥

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥

अन्वयः—सुखस्पर्शैः, शालनिर्यासगन्धिभिः, पुष्परेणूत्किरैः, आधूतवनराजिभिः, वातैः सेव्यमानौ, 'तौ जग्मतुः' ।

प्रिय स्पर्श वाले, शाल के गोंद के सुगन्धयुक्त फूलों के पराग को उड़ाने वाले और वनवृक्षों की पंक्ति को धीरे-धीरे कँपाने वाले पवन से सेवा किए गये वे दोनों चले जा रहे थे ॥३८ ॥

पुनः कथंभूतौ ? सुखः शीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः । शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः । 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः 'इगुपध०' इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः । पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मान्द्यादीषत्कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ ॥ ३८ ॥

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥

अन्वयः—रथनेमिस्वनोन्मुखैः शिखण्डिभिः द्विधा, भिन्नाः षड्जसंवादिनीः मनोभिरामाः, केकाः, शृण्वन्तौ, 'तौ जग्मतुः' ।

रथ के पहिये की घरघराहट सुनकर 'मेघों के गर्जन की भ्रांति से' ऊपर को मुख किए हुए मोरों की, शुद्ध और विकृत भेद से दो प्रकार की षड्ज स्वर जैसी, मधुर-मनोहर वाणी को सुनते हुए राजा दिलीप और सुदक्षिणा चले ॥ ३९ ॥

रथनेमिस्वनोन्मुखैः । मेघध्वनिशङ्कयोन्नमितमुखैरित्यर्थः । शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्ना । शुद्धविकृतभेदेनाविष्कृतावस्थायां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः तत्सादृश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते । अत एवाह—षड्जसंवादिनीरिति । षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः । तदुक्तम्—नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन् । 'षड्भ्यः संजायते

यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ॥' स च तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वरविशे 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीक त्थिताः स्वराः' ॥ इत्यमरः। षड्जेन संवादिनीः सदृशीः। तदुक्तं ङ्गेन—'षड्जं मयूरो वदति' इति। मनोभिरामा मनसः प्रियाः। मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः। 'केका वाणी मयू इत्यमरः। ताः केकाः शृण्वन्तौ। इति श्लोकार्थः॥ ३९॥

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥

अन्वयः—अदूरोज्झितवर्त्मसु, स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु, मृगद्वन्द्वेषु परस् क्षिसादृश्यं पश्यन्तौ, 'तौ जग्मतुः'।

रथ के मार्ग को छोड़कर पास से रथ को एकटक देखते मृगों के जोड़े में, सुदक्षिणा-दिलीप एक-दूसरे के नेत्रों की समानता देखते हुए, आश्रम को गये ॥४०॥

विश्रम्भाददूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु। स्यन् बद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथ आबद्धा सञ्चिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु। 'दृग्दृष्टि लोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः। कौतुकवशा सक्तदृष्टिष्वित्यर्थः। मृग्यश्च मृगाश्च मृगाः 'पुमान्स्त्रिया' इत्येक तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु। 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः। परस्परा सादृश्यं पश्यन्तौ। द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुदक्षिणाक्षिसादृश्यं दिलीपा दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम्॥ ४०॥

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम्।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥

अन्वयः—श्रेणीबन्धात्, अस्तम्भां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः, कलनि सारसैः क्वचिद्, उन्नमिताननौ, 'तौ जग्मतुः'।

किसी स्थान में आकाश में उड़ते हुए तथा प्रिय बोलने वाले हंसों को देखने के लिए ऊपर को मुख उठाये हुए वे चले जा रहे थे। एक पाँत में उड़ते हुए हंस ऐसे जान पड़ते थे मानो बिना खम्भे (चौखट) के ही बन्दनवार टँगी हो ॥ ४१ ॥

श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धनाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहितां तोरणं बहिर्द्वारम्। 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः। तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः। कुर्वद्भिरिवेत्यर्थः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम्। कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः करणैः। क्वचिदुन्नमिताननौ। 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ॥ ४१ ॥

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥

अन्वयः—प्रार्थनासिद्धिशंसिनः पवनस्य अनुकूलत्वात्, तुरगोत्कीर्णैः रजोभिः अस्पृष्टालकवेष्टनौ, 'तौ जग्मतुः'।

मनोरथ की सफलता को सूचित करने वाले वायु के अनुकूल होने से 'सामने दिशा में चलने से' घोड़ों के खुरों से उठी धूलि सुदक्षिणा के केशों और राजा दिलीप की पगड़ी को न छू सकी ॥ ४२ ॥

प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्यानुकूलत्वाद् गन्तव्यदिगभिमुखत्वात्। तुरगोत्कीर्णैः रजोभिरस्पृष्टा अलकादेव्या वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ। 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुता' इति वक्ष्यति ॥ ४२ ॥

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥४३॥

अन्वयः—सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलं, स्वनिःश्वासानुकारिणम्, अरविन्दानाम्, आमोदम् उपजिघ्रतौ 'तौ जग्मतुः'।

तालाबों की तरंगों में टकराने से शीतल अतएव अपने श्वास का अनुकरण करने वाली कमल की सुगन्ध को सूँघते हुए वे रा रानी जा रहे थे ॥४३॥

सरसीषु वीचिक्षोभशीतलमूर्मिसंघट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनु शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीय मुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ॥ ४३ ॥

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४॥

अन्वयः—आत्मविसृष्टेषु, यूपचिह्नेषु, ग्रामेषु यज्वनाम् अमो आशिषः, अर्घ्यानुपदं, प्रतिगृह्णन्तौ 'तौ जग्मतुः' ।

राजा दिलीप से ब्राह्मणों को दान में दिये गए और जिनमें यज्ञ स्तम्भ गड़े हुए थे, ऐसे गाँवों में अर्घ्य भेंट करने के पश्चात् याज्ञि ब्राह्मणों के सफल आशीर्वाद लेते हुए, सुदक्षिणा और दिलीप चले जा थे ॥ ४४ ॥

आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धाय दारुविशेषः यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः आशिषः आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः । तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । पादार्घा च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः अर्घ्यस्यानुपदमन्वक् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकु र्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनु क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः ॥ ४४ ॥

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥

अन्वयः—हैयंगवीनम् आदाय उपस्थितान् घोषवृद्धान् वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ, 'तौ जग्मतुः'।

भेंट देने को गौ का ताजा मक्खन लेकर आये हुए गाँव के बूढ़े अहीरों से जंगली वृक्षों के नाम पूछते हुए, राजा तथा सुदक्षिणा जा रहे थे।। ४५ ।।

ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयंगवीनम्। ह्यः पूर्वेद्युर्भवम्। 'तत्तु हैयंगवीनं यद्ध्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः। 'हैयंगवीनं संज्ञायाम्' इति निपातः। तत्सद्योघृतमादायोपस्थितान्घोषवृद्धान्। 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः। वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ। 'दुह्याच्—' इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम्। कुलकम् ।। ४५ ।।

काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ।।४६।।

अन्वयः—व्रजतोः शुद्धवेषयोः तयोः हिमनिर्मुक्तयोः चित्राचन्द्रमसोः, योगे 'सति' काऽपि, अभिख्या, आसीत्।

मार्ग में जाते समय सुदक्षिणा के साथ उज्ज्वल वस्त्र पहने राजा दिलीप की वैसी ही अपूर्व शोभा हो रही थी जैसी शिशिर ऋतु के पश्चात् चैत्र की पूर्णिमा में चित्रा नक्षत्र के साथ निर्मल चन्द्र की होती है ।। ४६ ।।

व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलीपयोः। हिमनिर्मुक्तयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव। योगे सति काप्यनिर्वाच्याभिख्या शोभाऽऽसीत्। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः। चित्रानक्षत्रविशेषः। शिशिरापगमे चैत्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ।। ४६ ।।

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ।।४७।।

अन्वयः—प्रियदर्शनः, बुधोपमः, भूमिपतिः तत्तत्, पत्न्यै दर्शयन् लङ्घितम् अपि अध्वानं न बुबुधे।

पण्डितों के समान बुद्धिमान्, तथा मनोहर शरीर वाले राजा दिलीप, अपनी स्त्री को मार्ग के सब दर्शनीय दृश्य दिखाते हुए, ऐसे गये कि पीछे छूटे मार्ग को भी न जान सके ॥ ४७॥

प्रियं दर्शनं स्वकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः। योग्यदर्शनीय इत्यर्थः। भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयंल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं बुबुधे न ज्ञातवान्। बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः। इदं विशे तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

सदुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥

अन्वयः—दुष्प्रापयशाः, श्रान्तवाहनः, महिषीसखः, सः सायं, संयमिनः तस्य महर्षेः आश्रमम् प्रापत्।

अन्य मनुष्यों से, दुर्लभ यश वाले और थके हैं घोड़े जिनके ऐसे, राजा दिलीप अपनी पत्नी के साथ सायंकाल होते-होते संयमी महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुँच गए ॥ ४८ ॥

दुष्प्रापयशाः। दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः। श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्यः। महिष्याः सखा महिषीसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः। सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः। स राजा सायं सायंकाले संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्याश्रमं प्रापत्। पुषादित्वादङ ॥ ४८ ॥

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥

अन्वयः—वनान्तरात्,उपावृत्तैः,समित्कुशफलाहरैः अदृश्याग्निप्रत्युद्यातैः तपस्विभिः पूर्यमाणम्, 'आश्रमं प्रापत'।

दूसरे वन से समिधा, कुशा तथा फलों को लेकर लौटे हुए तपस्वियों से वसिष्ठाश्रम भरा हुआ था, और उन आनेवाले तपस्वियों की अदृश्य श्रौताग्नि अगवानी कर रहा था ॥ ४९ ॥

वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः प्रत्यावृत्तैः। समिधश्च कुशांश्च फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तैः। 'आङि ताच्छील्ये' इति हरतेराङ्पूर्वादच्प्रत्ययः। अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गताः तैस्तपस्विभिः पूर्यमाणम्। 'प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति' इति श्रुतेः। यथाह—'कामं पितरं प्रोषितवन्तं पुत्राः प्रत्याधावन्ति। एवमेतमग्नयः प्रत्याधावन्ति सशकलान्दारूनिवाहरन्' इति ॥ ४९ ॥

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥

अन्वयः—नीवारभागधेयोचितैः उटजद्वाररोधिभिः, मृगैः, ऋषिपत्नीनाम् अपत्यैः इव, आकीर्णम् 'आश्रमं प्रापत्'।

ऋषिपत्नियों के बालकों के समान तिन्नी के चावल खाने के अभ्यासी, इसीलिए पर्णकुटियों के द्वारों को छेके खड़े हुए मृगों से वह आश्रम परिपूर्ण था ॥ ५० ॥

नीवाराणां भाग एव भागधेयोंऽशः। 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वक्तव्यसूत्रात्स्वाभिधेये धेयप्रत्ययः। तस्योचितैः। अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्द्वाररोधकैर्मृगैः ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव आकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥५१॥

अन्वयः—सेकान्ते मुनिकन्याभिः आलवालाम्बुपायिनाम् विहङ्गानाम्, विश्वासाय, तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्, 'आश्रमं प्रापत्'।

राजा दिलीप, पक्षिगण निर्भय होकर पानी पियें, इस दृष्टि से वृक्षों की जड़ों में पानी देकर मुनिबालिकाएँ जहाँ से तुरत हट जाती थीं उस आश्रम में पहुँचे ॥ ५१ ॥

सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने। मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः। आलवालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम्। 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः। विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विश्रम्भाय 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। तत्क्षणे सेकक्षणे उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिंस्तम्। ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ॥ ५१ ॥

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥

अन्वयः—आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु, उटजाङ्गनभूमिषु, निषादिभिः मृगैः, वर्तितरोमन्थम्, 'आश्रमम् प्रापत्'।

राजा दिलीप सायंकाल के समय मुनि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे जहाँ कि पर्णशालाओं के आँगनों में धूप के चले जाने से इकट्ठे किए नीवार नामक धान्य के ढेरों पर बैठे हुए हरिण रोमन्थ, अर्थात् जुगाली कर रहे थे ॥ ५२ ॥

आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु। 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः। उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति। 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः। निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन्नाश्रमे तम् ॥ ५२ ॥

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥

अन्वयः—अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः पवनोद्धूतैः आहुतिगन्धिभिः, धूमैः आश्रमोन्मुखान्, अतिथीन्, पुनानम्, 'आश्रमम् प्रापत्'।

राजा दिलीप मुनियों से किए गए हवन की गन्ध से मिश्रित धुएँ से, जो कि हवा से आश्रम के इधर-उधर फैला हुआ था, आने वाले अतिथियों को पवित्र करने वाले मुनि वसिष्ठजी के आश्रम में पहुँचे ॥५३॥

अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः। होमयोग्या इत्यर्थः। 'समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोति' इति वचनात्। तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः। आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनः तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन्पुनानं पवित्रीकुर्वाणम्। कुलकम् ॥ ५३ ॥

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥५४॥

अन्वयः—अथ, सः, यन्तारम् धुर्यान् विश्रामय, इति, आदिश्य, ताम् पत्नीम्, रथात्, अवारोहयत्, स्वयम् च अवततार।

आश्रम में पहुँच कर राजा सारथि को घोड़ों की थकान दूर करने का आदेश देते हुए सुदक्षिणा सहित रथ से उतरे ॥ ५४ ॥

अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिं धुरं वहन्तीति धुर्या युग्याः। 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरंधराः' इत्यमरः। धुर्यान्रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार। 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे 'जनीजॄष०' इति मित्त्वे 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। दीर्घपाठे 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणत्वाद्ह्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥ ४५ ॥

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥

अन्वयः—सभ्याः, गुप्ततमेन्द्रियाः, मुनयः, सभार्याय, गोप्त्रे, नयचक्षुषे, अर्हते, तस्मै, अर्हणाम् चक्रुः।

वसिष्ठजी की आज्ञा से आश्रम में स्थित जितेन्द्रिय मुनियों ने शास्त्रज्ञ, पूजा के योग्य एवं रक्षक और सुदक्षिणा-सहित राजा दिलीप की पूजा की ॥ ५५ ॥

सभायां साधवः सभ्याः । 'सभायां यः' इति यप्रत्ययः । मेन्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय । शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे । अत एव प्रशस्ताय । पूज्यायेत्यर्थः । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥५६॥

अन्वयः—सः सायन्तनस्य विधेः अन्ते अरुन्धत्या अन्वासितम् तपोनिधिम्, स्वाहया अन्वासितम् हविर्भुजम् इव ददर्श ।

राजा दिलीप ने, सायंकालिक संध्यावन्दनादि के अनन्तर अपनी पत्नी अरुन्धती से सेवित वसिष्ठजी को इस प्रकार बैठे देखा मानो अपनी पत्नी स्वाहादेवी से सेवित साक्षात् अग्निदेव हों ॥५६॥

स राजा सायंतनस्य सायंभवस्य । 'सायंचिरम्०' इत्यादिना ट्युलप्रत्ययः । विधेर्जपहोमानुष्ठानस्यान्तेऽवसानेऽरुन्धत्यान्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् । 'अन्वासनं ... इत्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वसिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव । ददर्श । 'समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेत् ॥' इत्यनुष्ठानस्य मध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रतधर्मत्वेनोक्तं न कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मसमाप्त्यभिधानात् ॥ ५६ ॥

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥५७॥

अन्वयः—मागधी राज्ञी, राजा, च, तयोः, पादान्, जगृहतुः, गुरुपत्नी, गुरुः, च, तौ, प्रीत्या, प्रतिननन्दतुः ।

सुदक्षिणा और दिलीप ने गुरु वशिष्ठ और गुरु-पत्नी को नमस्कार किया । तब उन्होंने भी दोनों राजा-रानी को प्रेमपूर्वक आशीर्वाद दिया ॥ ५७ ॥

मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धती-वसिष्ठयोः पादाञ्जगृहतुः । 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्तारौ । सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभूतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः संभावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमः ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥५८॥

अन्वयः—मुनिः, आतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् राज्याश्रममुनिम्, तम्, राज्ये, कुशलम्, प्रपच्छ ।

वशिष्ठजी ने दिलीप के रथ के हिलने-डुलने से उत्पन्न खेद को आतिथ्य सत्कार से दूर किया, और राज्य-संबन्धी कुशल पूछा ॥ ५८ ॥

मनिः । अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तया शान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम् । राज्यमेवाश्रमं तत्र मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ । पृच्छतेस्तु द्विकर्मत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गतत्वाद्राजकर्मवचनः, सप्ताङ्गवचनः । 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात्, तथाह मनुः—स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन्राज्यमुच्यते ॥ इति । तत्र 'ब्राह्मणं

कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्य च ॥' इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्म... चितः कुशलप्रश्नः एव कृत इत्यनुसंधेयम् । अत एवोक्तमरा... श्रममुनिमिति ॥ ५८ ॥

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥५९॥

अन्वयः—अथ, विजितारिपुरः वदताम् वरः, अर्थपतिः अथर्वनि... तस्य पुरः, अर्थ्याम्, वाचम्, आददे ।

वसिष्ठजी के कुशल पूछने पर वाक्पटु चक्रवर्ती राजा दिलीप ने... प्राय वचन बोले ॥ ५९ ॥

अथ प्रश्नान्तरं विजितारिपुरो विजिशत्रुनगरो वदतां वक्तॄणां श्रेष्ठः 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अर्थपती राजाथर्ववेदस्य ... पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्य... वाचमाददे । वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः । अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहितक... भिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते । यथा कामन्दकः—'त्रय्यां दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः । अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्ति पौष्टिकम्' इति ॥ ५९ ॥

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥

अन्वयः—सप्तसु, अंगेषु, मे, शिवम्, उपपन्नम्, ननु, यस्य, मे, दैवी... मानुषीणाञ्च, आपदाम्, त्वम्, प्रतिहर्ता, असि ।

मेरे, स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा बल-रूप राज्य के सातों अङ्गों में कुशल ही है, क्योंकि मेरी, दैवी तथा मानुषी, दोनों प्र... की विपत्तियों के दूर करने वाले आप स्वयं विद्यमान हैं ॥६०॥

हे गुरो ! सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु । 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । सप्ताङ्गानि' इत्यमरः । शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव । नन्ववधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । कथमित्यत्राह-यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् । मानुषीणां मनुष्येभ्यः आगतानां चौरभयादीनाम् । उभयत्रापि 'तत आगतः' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप् । आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयितासि । अत्राह कामन्दकः—'हुताशनो जलव्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा । इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः ॥ आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् । पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम्' ॥ इति ॥ ६० ॥

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥६१॥

अन्वयः—दूरात्, प्रशमितारिभिः मन्त्रकृतः तव, मन्त्रैः, दृष्टलक्ष्यभिदः, मे, शराः, प्रत्यादिश्यन्ते इव ।

मंत्रों की रचना अथवा प्रयोग करने वाले आप (वशिष्ठ) के उन मंत्रों के कारण जो परोक्ष में ही (मेरे) शत्रुओं का विनाश कर देते हैं, प्रत्यक्ष लक्ष्य को बींध देने वाले मेरे बाण मानों निरर्थक हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

दूरात्परोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्रान्कृतवान्मन्त्रकृत् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव । मन्त्रैः कर्तृभिः दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं तन्मात्रं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव । वयमेव समर्थाः किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव नः पौरुषं फलतीति भावः ।

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥६२॥

अन्वयः—हे होतः त्वया, विधिवत्, अग्निषु, आवर्जितम् हविः अवग्रहविशोषिणाम्, सस्यानाम्, वृष्टिः, भवति ।

हे हवन करने वाले, गुरो ! आप जो विधिपूर्वक अग्नि में आहुति डालते हैं वह अवग्रह (वर्षा का अभाव) के कारण सूख जाने वाले धान्यों के लिए वृष्टि-रूप हो जाती है ॥६२॥

हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादि ... कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यच्प्रत्ययः । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवाग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति । वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः 'अग्नौ दत्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' ॥ ६२ ॥

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥६३॥

अन्वयः—मदीयाः, प्रजाः, पुरुषायुषजीविन्यः, निरातङ्काः, निरीतयः 'यत्' 'सन्ति' तस्य, त्वद्ब्रह्मवर्चसम्, 'एव', हेतुः ।

मेरा प्रजा-वर्ग, जो सौ बरस तक जीने वाला तथा निर्भय है, तथा अतिवृष्टि आदि उपद्रवों से रहित है, उसमें आपका व्रत, वेदपाठ आदि ही कारण है ॥ ६३ ॥

आयुर्जीवितकालः । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् वर्षशतमित्यर्थः । 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः । 'अचतुरविचतुरसुचतुर०' इत्यादिसूत्रेणाच्प्रत्ययान्तो निपातः । मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः निरातङ्का निर्भयाः 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः । निरीतयोऽति- वृष्ट्यादिरहिता इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव व्रताध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः । 'व्रताध्ययनसंपत्तिरित्येतद्ब्रह्मवर्चसम्' इति हलायुधः । ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच्प्रत्ययः । 'अतिवृष्टिर...

मुष्टिमूषिकाः शलभाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥' इति कामन्दकः ॥ ६३ ॥

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥६४॥

अन्वयः—ब्रह्मयोनिना, गुरुणा, त्वया, एवम्, चिन्त्यमानस्य, 'अत एव'. निरापदः, मे, सम्पदः, सानुबन्धाः, कथं न स्युः ।

ब्रह्मा से जन्म लेने वाले आप जैसे गुरु द्वारा मेरी इस प्रकार देख-भाल करने के कारण, (अतएव) विपत्तियों से मुक्त हुए (मुझ दिलीप की) मेरी संपत्तियाँ (सदा) स्थिर क्यों न वनी रहेंगी ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य । अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे सम्पदः सानुबन्धाः सानुस्यूतयः । अविच्छिन्ना इति यावत् । कथं न स्युः । स्युरेवेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

किंतु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥६५॥

अन्वयः—किंतु. तव, एतस्याम्, वध्वाम्, अदृष्टसदृशप्रजम्, माम्, सद्वीपा, रत्नसूः, अपि, मेदिनी, न, अवति ।

यद्यपि आपकी कृपा से मेरी समस्त सम्पत्तियाँ अविच्छिन्न हैं तथापि आपकी इस शिष्य-वधू सुदक्षिणा से स्वसदृश पुत्र न पाकर समस्त रत्नों को उत्पन्न करने वाली द्वीपों से युक्त यह पृथ्वी भी मुझे संतुष्ट नहीं करती है ॥ ६५ ॥

किंतु तवैतस्यां वध्वां स्नुषायां 'वधूर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमरः । अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपाऽपि । रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि । 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप् । मेदिनी नावति न प्रीणाति । अवधातू रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने । रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम् ॥ ६५ ॥

तदेव प्रतिपादयति—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥६६॥

अन्वयः—मत्तः, परम्, पिण्डविच्छेददर्शिनः, वंश्याः, स्वधासंग्रह 'सन्तः', श्राद्धे, प्रकामभुजः, नूनम्, न, 'भवन्ति' ।

मेरे अनन्तर पुत्र के अभाव में पिण्ड के लोप का विचार मेरे पूर्वज श्राद्ध के अवसर पर स्वधा (पितृभोज्य) के संग्रह करते हुए निश्चय ही तृप्त होकर भोजन नहीं करते होंगे ॥ ६६ ॥

मत्तः परं मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल्' । पिण्डविच्छेददर्शिनः दानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणाः । वंशोद्भवा वंश्याः पितरः । स्वधेत्यव्ययं भोज्ये वर्तते । तस्याः संग्रहे तत्परा आसक्ताः सन्तः श्राद्धे पितृकर्म 'पितृदानं निवापः स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमरः । प्रकाम पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति नूनं सत्यम् । 'कामं प्रकामं पर्याप्तम्' इत्य निर्धना ह्यापद्धनं कियदपि संगृह्णन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥६७॥

अन्वयः—मत्परम्, दुर्लभम्, मत्वा, 'इदानीम्' मया, आवर्जितम् पयः, पूर्वैः, स्वःनिश्वासैः, कवोष्णम्, 'यथा', उपभुज्यते, नूनम् ।

मेरे पश्चात् पुत्र के न होने से दुर्लभ समझकर आजकल मेरे दिये को मेरे पूर्वज अपने दुःख भरे निश्वासों से कुछ गर्म करके पीते हैं। कोई सन्देह नहीं है) ॥ ६७ ॥

मत्परं मदनन्तरम् । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि' इत्यनेन पञ्चमी । दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मयाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पितृभिः स्वनिःश्वासैर्दुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते।

मिति तर्के। कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः। 'कोष्णं कवोष्णं मंदोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः॥ ६७॥

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥६८॥

अन्वयः—इज्याविशुद्धात्मा, प्रजालोपनिमीलितः, अहम्, लोकालोकः, अचलः, इव, प्रकाशः, अप्रकाशः, च, अस्मि।

यज्ञ आदि से मैं देवऋण से मुक्त होने के कारण प्रसन्नचित्त, तथा पुत्र के अभाव में पितृऋण से मुक्त न होने के कारण मलिनचित्त हूँ, अतः मेरी स्थिति लोकालोक पर्वत के समान है, जिसके एक ओर प्रकाश तथा दूसरी ओर अँधेरा रहता है॥ ६८॥

इज्या यागः। 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति क्यप्प्रत्ययः। तया विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः। प्रजालोपेन संतत्यभावेन निमीलितः कृतनिमीलनः सोऽहम्। लोक्यत इति लोकः। न लोक्यत इत्यलोकः। लोकश्चालोकश्चात्र स्त इति लोकश्चासावलोकश्चेति वा। लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव। 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः। प्रकाशत इति प्रकाशश्च देवर्णविमोचनात्। न प्रकाशत इत्यप्रकाशश्च पितॄणामविमोचनात्। पचाद्यच्। अस्मीति शेषः। लोकालोकोऽप्यन्तः सूर्यसंपर्काद्बहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम्॥ ६८॥

ननु तपोदानादिसंपन्नस्य किमपत्यैरित्याह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥६९॥

अन्वयः—तपोदानसमुद्भवम्, पुण्यम्, लोकान्तरसुखम्, 'भवति'। हि शुद्धवंश्या, सन्ततिः, इह, परत्र, च, शर्मणे, भवति।

जो पुण्य तप अथवा दान से उत्पन्न होता है वह केवल परलोक में

ही सुख देता है, किन्तु शुद्ध वंश में उत्पन्न पुत्र तो इस लोक में परलोक में भी सुख पहुँचाता है ॥ ६९ ॥

समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः कारणम्। तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं यत्पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम्। शुद्धे वंशे भवा शुद्धवंश्या संततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। भवतीति शेषः ॥ ६९ ॥

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥७०॥

अन्वयः—हे विधातः, तया, हीनम्, माम्, स्नेहात्, स्वयम्, सिक्तम्, वन्ध्यं, आश्रमवृक्षकम् इव पश्यन्, कथम्, न दूयसे।

हे सृष्टि बनाने वाले, जिस प्रकार स्वयं प्रेमपूर्वक जल से सींच कर बढ़ाये हुए वृक्ष को फलशून्य देखकर दुःखी होना उचित है, उसी प्रकार मुझको भी पुत्र रहित देखते हुए आप क्यों दुःखी नहीं होते ? ॥ ७० ॥

हे ! विधातः ! स्रष्टः ! तया संतत्या हीनमपत्यं माम्। स्नेहात् स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं वन्ध्यमफलम्। 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी' इत्यमरः। आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपोतमिव पश्यन्कथं न दूयसे न परितप्यसे। विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते ॥ ७० ॥

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥

अन्वयः—हे भगवन्, मे, अन्त्यम्, ऋणम्, अनिर्वाणस्य, दन्तिनः, अरुन्तुदम्, आलानम्, इव, असह्यपीडम्, अवेहि।

हे भगवन् ! इस समय मुझे पैतृक ऋण इस प्रकार कष्ट पहुँचाता है जिस प्रकार कि स्नान-क्रिया न होने से हाथी को उसके बन्धन के मर्म को बींधने वाला खूंटा ॥ ७१ ॥

हे भगवन् ! ममान्त्यमृणं पैतृकमृणम् । अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः । दन्तिनो गजस्य। अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुदं मर्मस्पृक् । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इति, 'अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः। 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्—' इत्यादिना मुमागमः । आलानं बन्धनस्तम्भमिव । 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमरः । असह्या सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिंस्तदवेहि । दुःसहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः । 'निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि' इति पालकाप्ये । 'ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा । संतत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्' ।। ७१ ।।

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ।।७२।।

अन्वयः—हे तात, तस्मात्, यथा, मुच्ये, तथा, संविधातुम्, 'त्वम्' अर्हसि, हि इक्ष्वाकूणाम्, दुरापे, अर्थे, सिद्धयः, त्वदधीनाः, 'सन्ति' ।

हे गुरो, इसलिए जिससे कि मैं पितृऋण से उन्मुक्त हो सकूँ ऐसा उपाय कीजिये, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के कठिन कार्यों की सिद्धियाँ आपके ही आधीन हैं ।। ७२ ।।

हे तात ! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि । हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानाम् । तद्राजत्वाद्बहुष्वणो लुक् । दुरपे दुष्प्राप्येऽर्थे । सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी । 'न लोक—' इत्यादिना कृद्योगे षष्ठीनिषेधात् ।। ७२ ।।

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ।।७३।।

अन्वयः—इति, राज्ञा, विज्ञापितः, ऋषिः, ध्यानस्तिमितलोचनः, 'सन्' क्षणमात्रम्, सुप्तमीनः, ह्रदः, इव, तस्थौ ।

दिलीप की प्रार्थना के अनन्तर पुत्राभाव का कारण जानने के लि महर्षि वसिष्ठ, मछलियों के सो जाने से तरङ्गरहित तालाब के सम निश्चल होकर क्षण-मात्र समाधिस्थ हो गए ॥ ७३ ॥

इति राज्ञा विज्ञापित ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन्क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥ ७३ ॥

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥७४॥

अन्वयः—प्रणिधानेन, भावितात्मा, सः, भुवः भर्तुः सन्ततेः स्तम्भकारणम्, अपश्यत्, अथ, एनम्, प्रत्यबोधयत् ।

महर्षि वसिष्ठ समाधि द्वारा शुद्ध चित्त होकर पृथ्वी के स्वामी दिलीप की सन्तान न होने का कारण जान गये और दिलीप से कहने लगे ॥ ७४ ॥

स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धान्तःकरणो भुवो भर्तुर्नृपस्य संततेः स्तम्भकारणं संतानप्रतिबन्धकारणमपश्यत् । अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति 'गतिबुद्धि' इत्यादिनाणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ७४ ॥

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥

अन्वय—पुरा, शक्रम्, उपस्थाय, उर्वीम्, प्रति, यास्यतः, तव, पथि, कल्पतरुच्छायाम्, आश्रिता, सुरभिः, आसीत् ।

हे राजन्, पहले कभी तुम्हारे इन्द्र-भवन से भूलोक आते समय मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई थी ॥ ७५ ॥

पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय संसेव्योर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् । स्थितेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥

अन्वयः—ऋतुस्नाताम् इमाम्, राज्ञीम् धर्मलोपभयात्, स्मरन्, प्रदक्षिणक्रियार्हायाम् तस्याम्, त्वम्, साधु, न आचरः ।

ऋतुकाल में अभिगमन न होने से कहीं धर्म लोप न हो जाय, इस भय से केवल रानी का ही चिन्तन करने के कारण तुमने मार्ग में बैठी हुई कामधेनु का प्रदक्षिणादि से सत्कार नहीं किया ॥ ७६ ॥

ऋतुः पुष्पम् । रज इति यावत् । 'ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च' इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यर्त्वभिगमनलक्षणस्य लोपाद् भ्रंशाद्यत् भयं तस्मात्स्मरन्ध्यायन् । 'मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।' इतिशास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियार्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यां धेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचरो नाचरितवानसि । व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः । ऋतुकालाभिगमने मनुः—'ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा' इति । अकरणे दोषमाह पराशरः—'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नोपसर्पति । बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशयः ॥' इति ॥ ७६ ॥

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥७७॥

अन्वयः—यस्मात्, 'त्वम्' माम् अवजानासि, अतः, मत्प्रसूतिम्, अनाराध्य, ते, प्रजा, न, भविष्यति, इति, सा, त्वाम्, शशाप ।

क्योंकि तुम परिक्रमा आदि न करने से मेरा तिरस्कार कर रहे हो अतः मेरी सन्तान की आराधना किये विना तुम्हें सन्तान न होगी, ऐसा उसने तुम्हें शाप दे दिया ॥ ७७ ॥

यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि अतः कारणान्मत्प्रसूतिं मम

सन्ततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति सा सुरभिस्त्वां शशाप। 'शप आक्रोशे' ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः।
नदत्याकाशगङ्गाया स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥७८॥

अन्वयः—हे राजन्, सः, शापः, त्वया, न, श्रुतः, सारथिना, च, न, 'श्रुतः', उद्दामदिग्गजे, आकाशगङ्गायाः, स्रोतसि, नदति, 'सति'।

हे राजन्, कामधेनु का दिया हुआ वह शाप न तो तुमने सुना न तुम्हारे सारथि ने ही सुना, क्योंकि बन्धन-मुक्त (होकर स्नान के लिए आए) दिग्गजों से युक्त आकाशगङ्गा का प्रवाह कोलाहल कर रहा था॥ ७८ ॥

हे राजन्! स शापस्त्वया न श्रुतः। सारथिना च न श्रुतः। अश्रवणे हेतुमाह—क्रीडार्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तस्मिन् आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥ ७८ ॥

अस्तु, प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥

अन्वयः—तदवज्ञानात्, आत्मनः, ईप्सितम्, सार्गलम्, विद्धि, हि, पूज्य-पूजाव्यतिक्रमः, श्रेयः, प्रतिबध्नाति।

इसलिए कामधेनु का अनादर करने से अपने मनोरथ को रुका हुआ समझो, क्योंकि पूज्यों की पूजा के उल्लंघन से कल्याण में बाधा हो जाती है॥ ७९ ॥

तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम्। आप्नोतेः सन्नन्तात्क्तः ईकारश्च। सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि

जानीहि। तथाहि पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि। स्वयं वा कथंचिदागमिष्यतीत्याशा न कर्तव्येत्याह—

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥८०॥

अन्वयः—सा, च, इदानीम्, दीर्घसत्रस्य, प्रचेतसः, हविषे, भुजङ्गपिहितद्वारम्, पातालम् अधितिष्ठति।

और वह कामधेनु इस समय चिरकाल साध्य वरुण के यज्ञ में दही, आदि हविष्य के लिए, सर्पों से अवरुद्ध द्वार (दरवाजा) वाले पाताल में गई हुई है ॥ ८० ॥

सा च सुरभिरिदानीं दीर्घसत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गपिहितद्वारं भुजङ्गावरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति। पाताले तिष्ठतीत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ ८० ॥

तर्हि का गतिरित्यत आह—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥८१॥

अन्वयः—तदीयाम्, सुताम्, सुरभेः प्रतिनिधिम्, कृत्वा, शुचिः सपत्नीकः, 'सन्' आराधय, हि, सा, प्रीता, 'सती' कामदुघा 'भवति'।

इस समय तुम कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को ही उसकी प्रतिनिधि मानकर शुद्ध होकर भार्या-सहित पूजा करो, क्योंकि प्रसन्न होने पर वह मनोरथ पूर्ण कर देती है ॥ ८१ ॥

तस्याः सुरभेरियं तदीया, तां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः। सह पत्न्या वर्तते इति सपत्नीकः सन्। 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः।

आराधय। हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती। कामान्दोग्धीति कामदुघा भवति। 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः, घादेशश्च ॥ ८१ ॥

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥८२॥

अन्वयः—इति वादिन एव होतुः अस्य आहुतिसाधनम् अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुः वनात् आववृते।

वसिष्ठजी के ऐसा कहते हुए ही हवन शील इस (वशिष्ठ) की यज्ञ की आहुति (दधि, घी आदि) का साधन, कामधेनु की पुत्री नन्दिनी नाम की प्रशंसनीय गाय वन से लौट आई ॥८२॥

इति वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य। 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः। अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम्। नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनी नामानिन्द्यागर्ह्या प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता। अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्, इति भावः ॥ ८२ ॥

संप्रति धेनुं विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ॥८३॥

अन्वयः—पल्लवस्निग्धपाटला, ललाटोदयम्, आभुग्नम्, श्वेतरोमाङ्कम्, बिभ्रती, नवम् शशिनम् 'बिभ्रती' सन्ध्या, इव 'स्थिता' वनात् 'आववृते'।

कोमल किसलय के समान चिकनी तथा पाटल (लाल) रंगवाली सन्ध्या के समान वह नन्दिनी कुछ टेढ़े तथा पश्चिम दिशा में उदित होने वाले नवीन चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण के रोम-चिह्न को अपने मस्तक पर धारण करती हुई (वन से लौटी) ॥ ८३ ॥

पल्लववत्स्निग्धा चासौ पाटला च संध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम्। ललाट उदयो यस्य स ललाटोदयः। तमाभुग्नमीषद्वक्रम्।

'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः। "ओदितश्च" इति निष्ठातस्य नत्वम्। श्वेतरोमाण्येवाङ्कस्तं बिभ्रती। नवं शशिनं बिभ्रती संध्येव स्थिता ॥ ८३ ॥

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेणाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥८४॥

अन्वयः—कोष्णेन, अवभृथात्, अपि, मेध्येन, वत्सालोकप्रवर्तिना, प्रस्नवेण, भुवम्, अभिवर्षन्ती, कुण्डोध्नी, 'वनात्, आववृते'।

कुछ गरम तथा यज्ञान्तस्नानजल से भी पवित्र एवं बछड़े को देखकर स्वयं टपकने वाले दूध से पृथ्वी को सींचती हुई स्थूल थन वाली नन्दिनी (वन से लौटी) ॥ ८४ ॥

कोष्णेन किंचिदुष्णेन। "कवं चोष्णे" इति चकारात्कादेशः। अवभृथादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण, 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः। वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिस्यन्दनेन भुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती। कुण्डमिवोध आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी। 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। "ऊधसोऽनङ्" इत्यनङादेशः। "बहुव्रीहेरूधसो ङीष्" इति ङीष् ॥८४॥

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥८५॥

अन्वयः—खुरोद्धूतैः, अन्तिकात्, गात्रम्, स्पृशद्भिः, रजःकणैः, महीक्षितः, तीर्थाभिषेकजाम्, शुद्धिम्, आदधाना, 'वनात् आववृते'।

पास से शरीर को स्पर्श करने वाली खुरों से उठाई धूलि से पृथ्वीपति दिलीप की तीर्थ-जल में स्नान करने से उत्पन्न शुद्धि को करती हुई नन्दिनी (वन से लौटी) ॥ ८५ ॥

खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः। "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" इति चकारात्पञ्चमी। रजसां कणैः। महीं क्षियत ईष्ट इति

महीक्षित्तस्य। तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजाम्। शुद्धिमादधाना कुर्वाणा। एतेन वायव्यं स्नानमुक्तम्। उक्तं च मनुना—'आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणम्। आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्।' इति॥ ८५॥

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥८६॥

अन्वयः—निमित्तज्ञः, तपोनिधिः, पुण्यदर्शनाम्, ताम्, दृष्ट्वा, आशंसितावन्ध्यप्रार्थनम्, याज्यम्, पुनः, अब्रवीत्।

शकुनशास्त्र के विद्वान् वसिष्ठ मुनि आई हुई पवित्रदर्शना नन्दिनी को देखकर सफल मनोरथ होने वाले राजा दिलीप से पुनः बोले॥ ८६॥

निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वसिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा आशंसितं मनोरथः। नपुंसके भावे क्तः। तत्रावन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य स तम्। अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः। याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत्॥ ८६॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥८७॥

अन्वयः—राजन्, आत्मनः, सिद्धिम्, अदूरवर्तिनीम् विगणय, यत्, इयं, कल्याणी, नाम्नि, कीर्तिते एव, उपस्थिता।

हे राजन्, अब आप अपनी मनोरथसिद्धि शीघ्र ही पूर्ण हुई समझें, क्योंकि यह मङ्गलमूर्ति नन्दिनी नाम लेते ही सामने आ गयी॥ ८७॥

हे राजन्! आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूरवर्तिनीं शीघ्रभाविनीं विगणय विद्धि। यद्यस्मात्कारणात्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः। "बह्वादिभ्यश्च" इति ङीष्। इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते सत्येवोपस्थिता॥ ८७॥

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥८८॥

अन्वयः—वन्यवृत्तिः, 'सन्', इमाम् गाम्, शश्वत्, आत्मानुगमनेन, अभ्यसनेन विद्याम्, इव प्रसादयितुम्, अर्हसि ।

जैसे कि अभ्यास के द्वारा विद्या प्रसन्न हो जाती है उसी प्रकार हे राजन् ! तुम भी निरन्तर कन्द, मूल, फल खाकर मुनियों के समान वृत्ति अपना कर इस गाय का सदा अनुसरण करते हुए इसे प्रसन्न करो ॥८८॥

वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य यथाभूतः सन् । इमां गां शश्वत्सदा । आ प्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः । आत्मनस्तव कर्तुः अनुगमनेनानुसरणेन । अभ्यसनेनानुष्ठातुरभ्यासेन विद्यामिव । प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्तु मर्हसि ॥ ८८ ॥

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥८९॥

अन्वयः—अस्याम्, प्रस्थितायाम्, प्रतिष्ठेथाः, स्थितायाम्, स्थितिम्, आचरेः, निषण्णायाम्, निषीद, पीताम्भसि, अपः, पिबेः ।

हे राजन्, जब यह चले तब चलना, जब खड़ी हो तो खड़े होना, और बैठे तो बैठना, जब जल पी चुके तब जल पीना, इस प्रकार छाया के समान इसका अनुसरण करना ॥ ८९ ॥

अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि । "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् । स्थितायां निवृत्तगतिकायां स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु । तिष्ठेत्यर्थः । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीताम्भसि सत्यामपः पिबेः पिब ॥ ८९ ॥

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामा तपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥९०॥

अन्वयः—वधूः, भक्तिमती, प्रयता, च 'सती' अर्चिताम्, एनाम् प्रा... आ तपोवनात्, अन्वेतु, सायम् अपि, प्रत्युद्व्रजेत् ।

वधू सुदक्षिणा भी पवित्र होकर भक्तिपूर्वक इसकी पूजा करके प्रतिदिन प्रातःकाल तपोवन की सीमा तक इसे पहुँचाने जाये ... सायंकाल के समय भी तपोवन की सीमा पर पहुँचकर इसे स्वागतपूर्वक आश्रम में लाये ॥ ९० ॥

वधूर्जाया च भक्तिमती प्रयता सती गन्धादिभिरर्चितामेनां गां प्रा... तपोवनात् । आङ् मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । साय... प्रत्युद्व्रजेत् प्रत्युद्गच्छेत् । विध्यर्थे लिङ् ॥ ९० ॥

इत्या प्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥९१॥

अन्वयः—इति त्वम्, आ प्रसादात्, अस्याः परिचर्यापरः, भव, अविघ्नम् अस्तु, पिता, इव, पुत्रिणाम्, धुरि, स्थेयाः ।

मेरी बतलाई विधि के अनुसार प्रसन्न होने तक तुम इसकी ... करो । तुम्हारे विघ्न नष्ट हों । अपने पिता के समान तुम भी पुत्र वा... में श्रेष्ठ होओ ॥ ९१ ॥

इत्यनेन प्रकारेण त्वमा प्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाभिविध्यो' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनोः परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भ... ते तवाविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु । "अव्ययं विभक्ति"—इत्यादिना... भावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणां सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनिप्रत्यय... धुर्यग्रे स्थेयास्तिष्ठेः । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादे... त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ॥ ९१ ॥

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥९२॥

अन्वयः—देशकालज्ञः, प्रीतिमान्, शिष्यः, सपरिग्रहः, आनतः, 'सन्' शासितुः आदेशम्, तथा, इति, प्रतिजग्राह ।

देश तथा काल के ममंज्ञ राजा दिलीप ने प्रसन्न होकर सुदक्षिणा सहित बड़ी नम्रतापूर्वक गुरु वसिष्ठ के आदेश को स्वीकार किया ॥९२॥

देशकालज्ञः । देशोऽग्निसंनिधिः । कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः । विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षं ज्ञानमव्याहतमिति जानन् । अत एव प्रीतिमाञ्शिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । आनतो विनयनम्रः सन् । शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार ॥ ९२ ॥

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोदितश्रियम् ॥९३॥

अन्वयः—अथ, प्रदोषे, दोषज्ञः सूनृतवाक्, स्रष्टुः, सूनुः, ऊर्जितश्रियम्, विशाम्, पतिम्, संवेशाय, विससर्ज ।

तब रात्रि के समय सत्य-प्रियभाषी विद्वान् ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ ने लक्ष्मीसंपन्न राजा दिलीप को सोने के लिए आज्ञा दी ॥ ९३ ॥

अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । सूनृतवाक्सत्यप्रियवाक् । 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः । स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः । अनेन प्रकृतकार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति । उदितश्रियं विशांपतिं मनुजेश्वरम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । संवेशाय निद्रायै । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः । विससर्जाज्ञापयामास ॥ ९३ ॥

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥९४॥

अन्वयः—कल्पवित्, मुनिः, तपःसिद्धौ सत्याम् अपि, नियमापेक्षया अस्य, वन्याम्, एव, संविधाम्, कल्पयामास ।

व्रत-प्रयोग में कुशल मुनि वसिष्ठ ने तप की सिद्धि से राजाओं के योग्य शय्या तैयार कर देने की सामर्थ्य होने पर भी दिलीप के लिए नन्दिनी के सेवा-रूप व्रत का ध्यान रखते हुए कुशाओं के विछौने का ही प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥

कल्पविद्व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः तपःसिद्धौ सत्यामपि । तपसा राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया तदाप्रभृत्येव व्रतचर्यापेक्षया । अस्य राज्ञो वन्यामेव । संविधीयतेऽनयेति संविधाम् कुशादिशयनसामग्रीम् । "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः । "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्माद्यर्थत्वम् । कल्पयामास सम्पादयामास ॥९४॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥९५॥

अन्वयः—प्रयतपरिग्रहद्वितीयः, सः, कुलपतिना, निर्दिष्टाम्, पर्णशालाम्, अध्यास्य, कुशशयने, संविष्टः, 'सन्' तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम्, निशाम्, निनाय ।

राजा दिलीप नियमों का पालन करने वाला सुदक्षिणा के साथ कुलपति वसिष्ठजी द्वारा बताई हुई पर्णकुटी के कुशासन पर सोये तथा उनके शिष्यों द्वारा किये गए वेदघोष से यह जानकर कि रात बीत गई है, जाग गये ॥ ९५ ॥

स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वसिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशालां

मध्यास्याधिष्ठाय तस्यामधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः। "अधिशीङ्" इत्यादिना-धारस्य कर्मत्वम्। कर्मणि द्वितीया। प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः। कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन्। तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणामध्ययनेनापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास। अपररात्रेऽध्ययने मनुः—'निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्'। 'न चापररात्रमधीत्य पुनः स्वपेत्' इति गौतमश्च। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् तदुक्तम्—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।

इति महोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनी-समाख्यया व्याख्यया भाषानुवादेन च समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वसिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः।

महाकवि-श्रीभारविप्रणीतम्

[1]किरातार्जुनीयम्

'घण्टापथ'-भाषानुवाद-सहितम्

प्रथमः सर्गः

(कोलाचल-श्रीमल्लिनाथ-सूरिकृतो घण्टापथः)

अर्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् ।
पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥

आलम्बे जगदालम्बे हेरम्बचरणाम्बुजे ।
शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्माऽनुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥

१—किरातः—वनेचरो म्लेच्छजातिविशेषः अत्र तु किरातवेषधा[री] शिवः, अर्जुनश्च तृतीयः पाण्डवः । किरातश्च अर्जुनश्च किरातार्जु[नौ] (द्वन्द्वःसमासः), किरातार्जुनौ अधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयम्, "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" इत्यनुवर्तमाने "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वजननादिभ्यश्छ[ः]" इति छ प्रत्ययः, "आयनेयी. . . . ." इति छस्य ईय्, किरातार्जुनीयमित्यन्व[र्था] संज्ञा ।

नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नानानिबन्धविषयैकपदैर्नितान्तं साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान्भारविनामा कविः—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥'

—इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनताम्, 'काव्यालापाँश्च वर्जयेत्' इति निषेधशास्त्रस्याऽसत्काव्यविषयतां च पश्यन्किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाऽविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात्, 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन्कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

अन्वयः—कुरूणाम्, अधिपस्य, श्रियः, पालनीं, प्रजासु, वृत्तिं, वेदितुं, यम्, अयुङ्क्त, वर्णिलिङ्गी, सः, वनेचरः, विदितः (सन्), द्वैतवने, युधिष्ठिरं समाययौ ।

भाषार्थ—प्रजा को प्रसन्न रखने से ही राजा की राज्यलक्ष्मी स्थिर रह सकती है । इसलिये कुरुवंशी राजा जहाँ राज्य करते हैं उन देशों के स्वामी दुर्योधन का प्रजा के प्रति कैसा व्यवहार है, यह जानने के लिये युधिष्ठिर ने जिस गुप्तचर को भेजा था, ब्रह्मचारीवेषधारी वह वनेचर सब जान कर द्वैतवन में युधिष्ठिर से आ मिला ॥१॥

घण्टापथः—श्रिय इति। आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते। तदुक्तम्—

'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥' इति॥

कुरूणां निवासः कुरवो जनपदाः। 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः। 'जनपदे लुप्'। तेषाम् [कुरूणां] अधिपस्य [—स्वामिनः] सम्बन्धिनीम्। शेषे षष्ठी। श्रियः—राजलक्ष्म्याः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी। पाल्यतेऽनयेति पालनी, ताम् (पालनीं)—प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः। प्रजारागमूलत्वात्सम्पद इति भावः। 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट्। 'टिड्ढाणञ्'—इत्यादिना ङीप्। प्रजासु—जनेषु विषये। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। वृत्तिं—व्यवहारं। वेदितुं—ज्ञातुं। यं—वनेचरम्। अयुङ्क्त—नियुक्तवान्। वर्णः—प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी—ब्रह्मचारी।

तदुक्तम्—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥'

एतदष्टविधमैथुनाऽभावः प्रशस्तिः। 'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः। तस्य लिङ्गं—चिह्नमस्यास्तीति—वर्णिलिङ्गी—ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः। सः—नियुक्तः। वने चरतीति वनेचरः—किरातः। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः। 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। विदितं—वेदनम्—अस्यास्तीति विदितः—परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः। ('अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः। अथवा—विदितवृत्तान्तो विदितः) उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वम्। न तु कर्तरि क्तः। सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाऽभावात्। अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः। विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः'

पीतमेषामस्तीति 'पीताः' इति सर्वत्र। अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—विभक्ताः, पीता इति'। अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः। 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद्-भ्रातृषूपचरितम्। 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति। तद्वदत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचरे उपचर्यते। एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्' 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या' एवमादयो व्याख्याताः। अथवा विदितः—विदितवान्। सकर्मका-दप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः। यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ। यथाऽऽहुः—

'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया'॥इति॥

द्वैतवने—द्वैताख्ये तपोवने। यद्वा—द्वे इते गते यस्मात्तद्द्वीतम् द्वीतमेव द्वैतम्। तच्च तद्वनञ्च तस्मिन्। शोकमोहादिवर्जिते इत्यर्थः। युधि—रणे। स्थिरं युधिष्ठिरं—धर्मराजम्। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्। 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम्। समाययौ—सम्प्राप्तवान्। अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकदैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे वंशस्थवृत्तम्। तल्लक्षणम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति॥ १॥

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तत्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥२॥

अन्वयः—कृतप्रणामस्य, सपत्नेन, जितां, महीं, महीभुजे, निवेदयिष्यतः, तस्य, मनः, न विव्यथे, हि, हितैषिणः मृषा, प्रियं, प्रवक्तुं, न इच्छन्ति।

भाषार्थः—युधिष्ठिर को प्रणाम करने के बाद, शत्रु द्वारा जीती हुई पृथिवी का (अर्थात् दुर्योधन के उत्कर्ष का) वर्णन उनके सामने करते हुए

उस वनेचर के मन में किसी प्रकार का भय या चंचलता नहीं हुई। क्योंकि वास्तव में हित चाहने वाले व्यक्ति मीठी-मीठी झूठी बातें कहकर किसी को धोखे में रखना नहीं चाहते ॥ २ ॥

कृतप्रणामस्येति। (कृतः प्रणामो येन स कृतप्रणामः, तस्य) कृतप्रणामस्य—तत्कालोचितत्वात्कृतनमस्कारस्य। सपत्नेन—रिपुणा दुर्योधनेन। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। जितां—स्वायत्तीकृतां। महीं—(पृथ्वीं, महीं भुनक्तीति महीभुक्, तस्मै) महीभुजे—युधिष्ठिराय। क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम्। निवेदयिष्यतः—ज्ञापयिष्यतः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। तस्य—वनेचरस्य। मनो न विव्यथे—'कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामी' ति मनसि न चचालेत्यर्थः। 'व्यथ् भयचलनयोः' इति धातोर्लिट्। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति। हि—यस्मात्। हितमिच्छन्तीति हितैषिणः—स्वामिहितार्थिनः पुरुषाः। मृषा—मिथ्याभूतं। प्रियं—(मधुरं वचः) प्रवक्तुं (—जल्पितुं) नेच्छन्ति। अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः। 'अमौढ्यममान्द्यमृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते[1] ॥ २ ॥

तथापि प्रियार्हे राज्ञि कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

---

१. 'नीतिवाक्यामृत' श्रीसोमदेव सूरि प्रणीत उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इससे केवल राजनीति का ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। श्रीमल्लिनाथ ने इस टीका में स्थान-स्थान पर इसके उद्धरण दिये हैं।

अन्वयः—रहसि, स, द्विषां, विघाताय, विधातुम्, इच्छतः, भूभृतः, अनुज्ञाम्, अधिगम्य, सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं, विनिश्चितार्थाम्, इति वाचम्, आददे ॥

भाषार्थः—एकान्त में वह वनेचर, शत्रुविनाश के उद्योग की इच्छा करते हुए राजा युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर ललित, युक्तिपूर्ण तथा निश्चित अर्थ वाली वाणी इस प्रकार कहने लगा ॥ ३ ॥

द्विषामिति । रहसि—एकान्ते । सः—वनेचरः । द्विषां—शत्रूणाम् । कर्मणि षष्ठी । विघाताय—विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । 'भाववचनाश्च' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः । अत्र यद्यपि तादर्थ्यमपि न दोषः, तथापि प्रयोगवैचित्र्यविशेषस्याप्यलङ्कारत्वादेवं व्याचक्षते । विधातुं—व्यापारं कर्तुमिच्छतः। 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । द्विषो विहन्तुमुद्युञ्जानस्येत्यर्थः । अत एव (भुवं बिभर्तीति भूभृत् तस्य) भूभृतः—युधिष्ठिरस्य । अनुज्ञाम् (—आज्ञाम्) अधिगम्य (—प्राप्य) सुष्ठु भावः सौष्ठवं—शब्दसामर्थ्यम् । सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः । उदारस्य भाव औदार्यम्—अर्थसम्पत्तिः, तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये । अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राऽल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातं कुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्याऽनित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः । उक्तं च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति ।) ते एव विशेषः, तयोर्वा विशेषः, तेन शालते (—शोभते) इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी, ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्थां—विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थाम् । इति—वक्ष्यमाणरूपां वाचम् । आददे—स्वीकृतवान् । उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रथमं तावदप्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यक्षोभं याचते—

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

अन्वयः—नृप ! क्रियासु, युक्तैः, अनुजीविभिः, चारचक्षुषः, प्रभवः, न, वञ्चनीयाः, अतः, असाधु, साधु, वा, क्षन्तुम्, अर्हसि, हितं, मनोहारि, च, वचः, दुर्लभम् (भवति)।

भाषार्थः—हे राजन्, किसी भी कार्य में नियुक्त सेवकों द्वारा स्वामी ठगे नहीं जाने चाहियें, क्योंकि दूत ही राजा के नेत्र हैं (जैसे नेत्र से देखा हुआ प्रमाण होता है वैसे ही राजा के लिये दूत का कथन भी प्रमाण होता है) अतः अच्छा या बुरा जो कुछ भी मैं कहूँ उसे क्षमा करें। क्योंकि एक ही बात सुनने में अच्छी भी लगे और हित कर भी हो, ऐसा कठिनता से मिलता है॥ ४॥

क्रियास्विति। हे नृप ! क्रियासु—कृत्यवस्तुषु। युक्तैः—नियुक्तैः। (अनु जीवन्तीति अनुजीविनः तैः), अनुजीविभिः—भृत्यैः। चरादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चराः। पचाद्यच्। त एव चाराः। चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्ययः। ते एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः। 'स्वपरमण्डले कार्याऽकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते। प्रभवः—निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनः। न वञ्चनीयाः—न प्रतारणीयाः। सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः। अतः—अप्रतार्यत्वाद्धेतोः। असाधु—अप्रियं, साधु—प्रियं वा। 'मदुक्त' मिति शेषः। क्षन्तुं—सोढुम् अर्हसि। कुतः ?। हितं—पथ्यं च, मनोहारि—प्रियं च, वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः॥ ४॥

तर्हि तूष्णींभाव एव वरमित्याशङ्क्याह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥५॥

अन्वयः—यः, अधिपं, साधु, न शास्ति, सः, किंसखा; यः, हितात् न

संश्रृणुते, स, किंप्रभुः; हि, नृपेषु, अमात्येषु, च, अनुकूलेषु, सर्वसम्पदः, रतिं, कुरुते ॥

भाषार्थः—जो अपने स्वामी को हित की राय नहीं देता वह मन्त्री, मित्र या सेवक दुष्ट है और जो अपने हितैषियों की उचित बात को न सुनकर मनमानी करता है वह राजा भी कुराजा ही है। जब राजा और अमात्य आदि परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहते हैं तभी सब प्रकार की सम्पदाओं का उपभोग करते हैं अर्थात् उन्हीं की राज्यलक्ष्मी सदा स्थिर रहती है॥ ५ ॥

इति । यः सखा—अमात्यादिः । (अधिपातीत्यधिपः तम्) अधिपं—स्वामिनं । साधु—हितं । न शास्ति—नोपदिशति । 'ब्रुविशासि' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद्द्विकर्मकत्वम् । सः—हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा—दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः —प्रभुः—निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी, हितात्—आप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । न संश्रृणुते—न श्रृणोति । 'हित' मिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि—'इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स—हितमश्रोता प्रभुः । किंप्रभुः—कुत्सितस्वामी । पूर्ववत्समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं, श्रोतव्यं च स्वामिना । एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति । हि—यस्मात् । नृपेषु—राजसु । अमा सह भवा अमात्यास्तेषु (अमात्येषु—मंत्रिषु) च 'अव्ययात्त्यप्' । अनुकूलेषु—परस्परानुरक्तेषु सत्सु । सर्वाश्च ताः सम्पदः सर्वसम्पदः—विविधैश्वर्याः । सदा रतिम्—अनुरागं । कुर्वते—कुर्वन्ति । न जातु जहतीत्यर्थः । अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैव राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतदश्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धेरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्तिसिद्धिरूपकार्येण समर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः तदुक्तम्—'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

अन्वयः—निसर्गदुर्बोधं, भूपतीनां, चरितं, क्व, अबोधविक्लवाः, जन्तवः, क्व, निगूढतत्त्वं, विद्विषां, नयवर्त्म, यत्, मया, अवेदि, अयं, तव, अनुभावः॥

भाषार्थः—कहाँ तो राजाओं का स्वभाव से ही दुर्ग्रह व्यवहार और कहाँ मेरे जैसे अज्ञानी पामर वनेचर प्राणी । अत्यन्त गुप्त रहस्यों वाले इस शत्रुओं के नीतिमार्ग को मैं जो कुछ जान पाया वह आपका ही प्रताप है ॥६॥

निसर्गेति । (निसर्गाद् दुर्बोधम्) निसर्गदुर्बोधं—स्वभावदुर्ग्रहम् । 'ईषद्दुःसुषु' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । (भुवः पतयः भूपतयः) भूपतीनां चरितं (—व्यवहारः) क्व ? (अबोधेन विक्लवाः) अबोधविक्लवाः—अज्ञानोपहताः । जन्तवः—मादृशाः । पामरजना इत्यर्थः । क्व । नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः । तथापि (निश्चयेन गूढं तत्त्वं यस्य तत्) निगूढतत्त्वं—संवृतयाथार्थ्यं । विद्विषां (—शत्रूणां, नयस्य वर्त्म) नयवर्त्म—षाड्गुण्ययोगः ।

'सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च ।
द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ॥'

इत्यादिरूपः—यन्मयाऽवेदि । ज्ञातमिति यावत् । विदेः कर्मणि लुङ् । अयम् । इदं वेदनमित्यर्थः । विधेयप्राधान्यात्पुंलिङ्गनिर्देशः । तव अनुभावः—सामर्थ्यम् । अनुगतो भावोऽनुभाव इति घञन्तेन प्रादिसमासः । न तूपसृष्टाद् घञ्प्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यनुपसर्गाद्भवतेर्धातोर्घञ्विधानात् । अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो राज्ञां ? । प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमासः' इति । दोषपरिहारौ सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि, न तु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः ॥ ६ ॥

सम्प्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥७॥

अन्वयः—सुयोधनः, नृपासनस्थः, अपि, वनाधिवासिनः, भवतः, पराभवं, विशङ्कमानः, दुरोदरच्छद्मजितां, जगतीं, नयेन, जेतुं, समीहते ॥

भाषार्थः—सुयोधन यद्यपि राजसिंहासनारूढ़ है फिर भी वन में रहने वाले आप से पराजित हो जाने की शंका करता हुआ द्यूतक्रीडा के बहाने जीती हुई पृथ्वी को नीति से वश में करने का प्रयत्न कर रहा है ॥७॥

विशङ्कमान इति । सुखेन युध्यते सुयोधनः । 'भाषायां शासियुधिदृशिमृषिभ्यो युज्वाच्यो' । (नृपस्य आसनं नृपासनं, तस्मिन् तिष्ठतीति) नृपासनस्थः—सिंहोसनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति (तस्मात्) वनाधिवासिनः—वनस्थात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः । भवतः—त्वत्तः । पराभवं—पराजयं । विशङ्कमानः—उत्प्रेक्षमाणः सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं—द्यूतम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । तस्य छद्मना—मिषेण । जितां—लब्धां, दुर्नयार्जिताम् । जगतीं—महीम् । 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । नयेन—नीत्या । जेतुं—वशीकर्तुं । समीहते—व्याप्रियते । न तूदास्ते इत्यर्थः । बलवत्स्वामिकविशुद्धागमं च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनसः समाधिरिति भावः । अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणपदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासाद् द्वितीयं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तम्—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ ७ ॥

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह—

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

अन्वयः—तथापि, जिह्मः, सः, भवज्जिगीषया, गुणसम्पदा, शुभ्रं, यशः,

तनोति, भूतिं, समुन्नयन्, महात्मभिः समं विरोधः, अपि, अनार्यसंगमाद्, वरम् ॥

भाषार्थः—यद्यपि वह दुर्योधन बड़ा क्रूर और कुटिल है फिर भी आपको जीतने की इच्छा के उद्देश्य से वह (अपने) (दान, दया आदि) गुणों की महिमा के द्वारा (अपना) धवल यश फैला रहा है। ऐश्वर्य को बढ़ाता हुआ महात्माओं के साथ विरोध भी नीचों की संगति से कहीं अच्छा है ॥ ८ ॥

तथापीति । तथापि—साशङ्कोऽपि । जिह्मः—वक्रः । वञ्चक इति यावत् । सः—दुर्योधनः—(भवन्तं जेतुमिच्छा भवज्जिगीषा, तया) भवज्जिगीषया—गुणैर्भवन्तमाक्रन्तुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति तृतीया। (गुणानां सम्पत्, तया) गुणसम्पदा—दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा करणेन। शुभ्रं यशस्तनोति—स खलो गुणलोभनीयां त्वत्संपदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः। नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गाऽलाभे नीच-सङ्गमाद्वरम्, उत्कर्षावहत्त्वादित्याह—समुन्नयन्निति । तथा हि—भूतिं (—ऐश्वर्यं) समुन्नयन्—उत्कर्षमापादयन् । 'लटः शतृशानचौ'—इत्यादिना शतृप्रत्ययः । पुनर्लङ्ग्रहणसामर्थ्यात्प्रथमासामानाधिकरण्यम् । महात्मभिः (सज्जनैः) समम् सहेत्यर्थः । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। (न आर्याः अनार्याः; अनार्याणां सङ्गमः, तस्माद्) अनार्यसङ्गमात्—दुर्जनसंसर्गात् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वरं—मनाक्प्रियः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। अत्र मैत्र्युपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य । 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यानदोषापत्तिः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे (?)—'समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरात्तकम्' इति । न च वाक्यान्तरमेतद्येनोक्तदोषपरिहारः स्यात् । अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः । स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

ननु 'कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृताऽरिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥९॥

अन्वयः—कृतारिषड्वर्गजयेन, अगम्यरूपां, मानवीं, पदवीं, प्रपित्सुना, अस्ततन्द्रिणा, तेन, पौरुषं, नक्तन्दिवं, विभज्य, नयेन, वितन्यते ॥

भावार्थः—काम-क्रोधादि को जीतकर वह अत्यन्त नम्र हो गया है। सामान्य जन जिसका अनुसरण नहीं कर सकते उस मनु के उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहता है। आलस्य-रहित होकर उसने कार्य का दिन और रात के लिये विभाग कर लिया है। इस प्रकार वह नीतिपूर्वक शासन को बढ़ा रहा है॥ ९॥

कृतेति। षण्णां वर्गः—समूहः 'षड्वर्गः'। अरीणाम्—अन्तःशत्रूणां कामक्रोधादीनां, षड्वर्गः—अरिषड्वर्गः। शिवभागवतवत्समासः। तस्य जयः कृतो येन, तेन तथोक्तेन। विनीतेनेत्यर्थः। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः। (अगम्यं रूपं यस्याः सा, तां) अगम्यरूपां—पुरुषमात्रदुष्प्रापाम्। मनोरिमां—मानवीम्—मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः। पदवीं—प्रजापालनपद्धतिं। प्रपित्सुना—प्रपत्तुमिच्छुना। प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। 'सनि मीमा—' इत्यादिनेसादेशः। अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। अस्ता तन्द्रिः—आलस्यं यस्य तेन—अस्ततन्द्रिणा—अनलसेनेत्यर्थः। तदिः सौत्रो धातुः तस्मात् 'वङ्क्र्यादयश्च' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः। 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्य' इति 'वन्दीघटीतरीतन्द्रीति ङीषन्तोऽपि' इति क्षीरस्वामी। तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति यावत्। तेन दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत्। युवादित्वादण्प्रत्ययः। 'पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् अहोरात्रयोरित्यर्थः। 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थ-

वृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽच्समासान्तः । विभज्य—अस्यां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा । नयेन—नीत्या । वितन्यते—विस्तार्यते ॥ ९ ॥

सम्प्रति भृत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

अन्वयः—गतस्मयः, सः, सन्ततं, अनुजीविनः, प्रीतियुजः, सखीन्, इव, सुहृदः, बन्धुभिः, समानमानान्, बन्धुतां, कृताधिपत्याम्, इव, साधु, दर्शयते ॥

भाषार्थः—अहङ्कार रहित होकर वह दुर्योधन सेवकों के साथ सदा प्रेमी मित्रों का-सा व्यवहार करता है और मित्रों को भाइयों की तरह मानता है, और वन्धुओं के साथ जैसे कि वे राज्याधिकारी हों व्यवहार दिखाता है। ऐसा वह लोक को दिखाता है (अर्थात् लोग ऐसा समझते हैं कि वह उत्तम प्रकार से वर्तता है) ॥ १० ॥

सखीनिति । (गतः स्मयो यस्य सः) गतस्मयः—निरहङ्कारः, अत एव सः—दुर्योधनः। सन्ततम्—अनारतं। साधु—सम्यक्। अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनः—भृत्यान्। (प्रीतिं युञ्जन्ति, तान्) प्रीतियुजः—स्निग्धान्। सखीनिव—मित्राणीव। दर्शयते। लोकानिति शेषः। 'हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदः—मित्राणि च 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः' इति निपातः। बन्धुभिः—(समानः मानः येषां ते, तान्) भ्रात्रादिभिः। समानमानान्—तुल्यसत्कारान्। दर्शयते। बन्धूनां समूहो बन्धुता, ताम्। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृतमाधिपत्यं—स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते—बन्धूनधिपतीनिव दर्शयते इत्यर्थः। यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्सम्भावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनां 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम्।

पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—'स राजाऽनुजीव्यादीन् सख्यादीनिव दर्शयते। सख्यादय इव ते तु तं पश्यन्ति। सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते। स्वयमेव छन्दानुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम्। अणि कर्त्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम्। एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोह्यते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे। भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम्। यथाह—'पश्यन्ति भृत्या राजानम्'—'दर्शयते भृत्यान् राजा'—'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति इति। अत्राह कैयटः—ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन न भाव्यम्। उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते—अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति। यथा—'स्थलमारोपयति मनुष्यान्' इति। इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तॄणां भृत्यानां णौ कर्मत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमिति ॥१०॥

न चायं त्रिवर्गात्प्रमाद्यतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

अन्वयः—यथायथं, विभज्य, समपक्षपातया, भक्त्या, असक्तम्, आराधयतः, अस्य, गुणानुरागात्, सख्यम्, ईयिवान्, इव, त्रिगणः, परस्परं न बाधते ॥

भाषार्थः—दुर्योधन ने धर्म-अर्थ-काम का यथोचित विभाग कर दिया है और वह तीनों की समान रूप से आसक्ति-रहित होकर आराधना करता है। इसलिये उसके गुणों के प्रति अनुराग के कारण मानो परस्पर मित्रता को प्राप्त हुए त्रिगण (धर्म, अर्थ और काम), परस्पर एक-दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते ॥११॥

असक्तमिति। यथायथं—यथास्वं, विभज्य—असङ्कीर्णरूपं

विविच्येत्यर्थः। 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनाद् द्विर्भावो नपुंसकत्वञ्च। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। पक्षे पातः—पक्षपातः—आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया। भक्त्या—अनुरागविशेषेण। पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः। पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति। असक्तम्—अनासक्तम्। अव्यसनितयेति यावत्। आराधयतः—सेवमानस्य। अस्य—दुर्योधनस्य। त्रयाणां—धर्मार्थकामानां, गणः—त्रिगणः—त्रिवर्गः। 'त्रिवर्गो धर्मकामाद्यैश्चतुर्वर्गः समीक्षकैः' इत्यमरः। गुणानुरागात्—तदीयगुणेष्वनुरागात्। गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः। सख्यं—मैत्रीम्। 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः। ईयिवान्—उपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। 'नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म। परस्परं न बाधते—समवर्तित्वादस्य धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्द्धन्त इत्यर्थः। उक्तश्च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति॥ ११॥

अथ श्लोकत्रयेणोपायकौशलं दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया॥१२॥

अन्वयः—तस्य, निरत्ययं, साम, दानवर्जितं, न (प्रवर्तते), सत्क्रियां विरहय्य, भूरि दानं न (प्रवर्तते) गुणानुरोधेन विना विशेषशालिनी सत्क्रिया न प्रवर्तते॥

भाषार्थः—वह बिना कुछ दिये किसी पर निर्बाध रूप से प्रसन्नता प्रकट नहीं करता, (जिस किसी को संतुष्ट करना होता है अवश्य कुछ न कुछ देता है)। वह जिन्हें बहुत देता है उनका पूर्ण सत्कार भी करता है, गुणों की परीक्षा किये बिना किसी का विशेष रूप से सत्कार नहीं करता॥१२॥

निरत्ययमिति। तस्य—दुर्योधनस्य। निरत्ययं—निर्बाधम्। अमायिकमित्यर्थः। अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः। साम—सान्त्वम्।

'सामसान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। (दानेन वर्जितं) दानवर्जितं (—दानरहितं) न प्रवर्तते। अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यदुष्करत्वादिति भावः। उक्तं च—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्॥' इति॥

तथा भूरि—प्रभूतम्, न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः। दानं—धनत्यागः। सदित्यादरार्थेऽव्ययम्। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात्। तस्य क्रियां-सत्क्रियां। विरहय्य—विहाय। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः। न प्रवर्तते। अनादरे दानवैफल्यादिति भावः। चैवं सर्वत्र—येनाविवेकित्वं, कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रेति। (विशेषेण शालते इति) विशेषशालिनी—अतिशययोगिनी। सत्क्रिया। आदरक्रिया। (गुणेषु अनुरोधः गुणानुरोधः, तेन) गुणानुरोधेन—गुणानुरागेण विना न प्रवर्तते। 'पृथग्विना—' इत्यादिना तृतीया। गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः। अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः।

तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा'॥ इति॥ १२॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना 'स्वधर्म इत्येव' निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥१३॥

अन्वयः—वशी, सः, वसूनि, वाञ्छन्, न, मन्युना, न, निवृत्तकारणः (सन्), स्वधर्मः, इत्येव, गुरूपदिष्टेन, रिपौ, सुते, अपि, वा, धर्मविप्लवं, निहन्ति॥

भाषार्थः—मन और इन्द्रियों को वश में किए हुए वह (दुर्योधन) किसी प्रकार के धनादि लोभ से या किसी पर क्रुद्ध हो जाने से उसे दण्ड नहीं दे देता, बल्कि लोभादि कारणों से निवृत्त हुआ वह "राजा का यह धर्म है कि अपराधी को दण्ड दे और निरपराध को छोड़ दे" ऐसा समझकर कोई शत्रु हो अथवा अपना पुत्र ही क्यों न हो उसे भी शास्त्रोक्त दण्ड देकर अधर्म को रोकता है।। १३ ।।

वसूनीति । वशी—दुर्योधनः, वसूनि—धनानि, वाञ्छन्—लोभान्नेत्यर्थः। 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना—कोपेन, न च । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः । किन्तु (निवृत्तानि कारणानि यस्यासौ) निवृत्तकारणः—निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्। स्वधर्म इत्येव—स्वस्य राज्ञः सतो ममाऽयं धर्मो—ममेदं कर्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः ।

'अदण्डयान्दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥'

—इति स्मरणादिति भावः । (गुरुभिः उपदिष्टः, तेन) गुरूपदिष्टेन—प्राड्विवाकोपदिष्टेन ।

'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः ।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥'

—इति नारदस्मरणात् । दण्डेन—दमेन । शिक्षयेत्यर्थः । रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः । एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम् । (धर्मस्य विप्लवः, तम्) धर्मविप्लवं—धर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति—निवारयति। दुष्ट एवास्य शत्रुः, शिष्ट एव बन्धुर्न तु सम्बधनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

अन्वयः—सः, शङ्कितः (सन्) परितः, परेतरान्, रक्षान्, विधाय, अशङ्किताकारम्, उपैति, क्रियापवर्गेषु, अनुजीविसात्कृताः, सम्पदः, अस्य कृतज्ञतां, वदन्ति ॥

भाषार्थः—वह सदा आप से शङ्कित रहता हुआ भी चारों ओर से आत्मीय जनों को रक्षक नियुक्त करके निश्शंक जैसा बना रहता है। काम कराने के बाद कर्मचारियों को दी हुई प्रचुर सम्पत्ति से प्रतीत होता है कि वह कितना कृतज्ञ है ॥ १४ ॥

विधायेति । शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितः—अविश्वस्तः सन्, परितः—सर्वत्र स्वपरमण्डले, (परेभ्य इतरे तान्) परेतरान्—आत्मीयान् । अवञ्चकानिति यावत् । यद्वा—परानितरयन्ति—भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति (परेतराः तान्—) परेतरान् । तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मण्यण-प्रत्ययः । रक्षन्तीति (रक्षाः, तान्—) रक्षान्—रक्षकान् । मन्त्रगुप्ति-समर्थानित्यर्थः । 'नन्दिग्रहि—' इत्यादिना पचाद्यच् । विधाय—कृत्वा नियुज्येत्यर्थः । '(न शङ्कितः अशङ्कितः अशङ्कितश्चासौ आकारः, तं) अशङ्किताकारमुपैति (—निःशंकवद्व्यवहरति अथवा) स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखेनैव परान् भिनत्तीत्यर्थः ।

न च तान्रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियते । क्रियापवर्गेषु—(क्रियाणाम् अपवर्गाः क्रियापवर्गाः, तेषु) कर्मसमाप्तिषु, अनुजीविसात्कृताः—भृत्याधीनाः कृताः अपरावर्तिततया दत्ता इत्यर्थः । 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः । सम्पदः (—सम्पत्तयः) अस्य—राज्ञः, कृतज्ञताम्—उपकारित्वं, वदन्ति । प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः ॥ १४ ॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अन्वयः—तेन, पदेषु, सम्यक् विभज्य, लम्भिताः, विनियोगसत्क्रियाः, उपायाः, संघर्षम्, उपेत्य, इव, परिबृंहितायतीः, अर्थसम्पदः, अनारतं, फलन्ति ॥

भावार्थः—दुर्योधन द्वारा योग्य अधिकारों वाले पदों या व्यक्तियों में अच्छी प्रकार विभाजित करके प्रयोग किये हुए और इसी समुचित प्रयोग से अनुगृहीत हुए सामादि उपाय मानो अपनी-अपनी ओर से एक-दूसरे की स्पर्द्धा करते हुए सुस्थिर धनधान्यादि सम्पत्ति को निरन्तर उसके लिये उत्पन्न कर रहे हैं ॥ १५ ॥

तेन—राज्ञा, पदेषु—उपादेयवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । सम्यक्—असङ्कीर्णमव्यस्तं च, विभज्य—विविच्य । विनियोगः (—प्रयोग) एव सत्क्रिया—अनुग्रहः, सत्कार इति यावत्। येषां ते। लम्भिताः—स्थानेषु सम्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थः। उपायाः—सामादयः । संघर्षं—परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा । (परिबृंहिता आयतिर्यासां ताः) परिबृंहितायतीः—प्रचितोत्तरकालाः । स्थिरा इत्यर्थः। (अर्थानां सम्पदः अर्थसम्पदः, ताः) अर्थ-सम्पदः (—धनधान्यादिसम्पत्तीः) अनारतम्—अजस्रं, फलन्ति—प्रसुवते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अर्थसम्पदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अन्वयः—नृपोपायनदन्तिनां, अयुग्मच्छदगन्धिः, मदः, अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्, तदीयम्, आस्थाननिकेतनाजिरम्, भृशम्, आर्द्रतां, नयति॥

भाषार्थः—दुर्योधन द्वारा जीते हुए राजाओं ने उपहार में इतने हाथी दिये हैं कि उनके सप्तपर्ण पुष्प की गन्ध जैसे मद-जल से सभा-भवन के आँगन में, जो कि अनेकों राजाओं के रथों से और घोड़ों से भरा है, पिछलन हो गई है ॥१६॥

अनेकेति। (अयुग्मानि—विषमानि (सप्त) छदानि यस्य तस्य,) अयुग्मच्छदस्य—सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासौ—अयुग्मच्छदगन्धिः। 'सप्तम्युपमान' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः। नृपाणाम्—उपायनानि—उपहारभूता ये दन्तिनः (—गजाः) तेषां मदः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः—क्षत्रियाः। 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन्। रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम्। सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलं—व्याप्तं, तदीयम्—(आतिष्ठन्त्यस्मिन् इति आस्थानं—सदः, तस्य निकेतनं—भवनं मण्डपो वा, तस्य अजिरं—प्राङ्गणम्, तत्) आस्थाननिकेतनाजिरं—सभामण्डपप्राङ्गणं, भृशम्—अत्यर्थं, आर्द्रतां—पङ्किलत्वं नयति। एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता अत एवोदात्तालङ्कारः। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ॥ १६ ॥

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥१७॥

अन्वयः—चिराय, तस्मिन्, क्षेमं, वितन्वति, (सति) अदेवमातृकाः, कुरवः, अकृष्टपच्याः, इव, कृषीवलैः, सुखेन, लभ्याः, सस्यसम्पदः, दधतः, चकासति ॥

भाषार्थः—बहुत काल से दुर्योधन प्रजा के पालन में तत्पर है। जो कुरुदेश केवल वर्षा के जल के भरोसे रहते थे और जहाँ के किसानों को अत्यन्त श्रम करना पड़ता था, वहाँ नदी आदि से नहर निकाल कर उसने

भूमि ऐसी उपजाऊ बना दी है कि कृषकों के किसी श्रम के बिना जैसे अपने आप उगे अन्न से परिपूर्ण वे कुरुदेश शोभित हो रहे हैं ॥१७॥

सुखेनेति । चिराय तस्मिन्—दुर्योधने, क्षेमं (—कुशलं) वितन्वति—क्षेमङ्करे सति । देवः—पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृकाः—वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः । ते न भवन्तीति —अदेवमातृकाः । नदीमातृका इत्यर्थः । 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्' ।' इत्यमरः । एतेनास्य कुल्यादिपूर्तप्रवर्त्तकत्वमुक्तम् । कुरूणां निवासाः कुरवो—जनपदविशेषाः । कृष्टे स्वयमेव पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः । 'राजसूय'—इत्यादिना कर्मकर्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव । कृषिर्येषामस्तीति । (कृषीवलाः, तैः—) कृषीवलैः—कर्षकैरित्यर्थः । 'रजःकृषि—'इत्यादिना वलच्प्रत्ययः । 'वले' इति दीर्घः । सुखेन—अक्लेशेन, लभ्याः—लब्धुं शक्याः, (सस्यानां सम्पदः, ताः) सस्यसम्पदो दधतः—धारयन्तः । "नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । चकासति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते इत्यर्थः । 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । संपन्नजनपदत्वादसन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः ॥ १७ ॥

नन्वेवं जनपदानुवर्तिनः कथमर्थलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

अन्वयः—उदारकीर्त्तेः, दयावतः, अभिरक्षया, प्रशान्तबाधम्, उदयं, दिशतः, वसूपमानस्य, अस्य, गुणैः, उपस्नुता, मेदिनी, स्वयं, वसूनि, प्रदुग्धे।

भावार्थः—प्रचुर यशशाली, दयालु, सब प्रकार के उपद्रवों को शान्त करके प्रजा की रक्षा द्वारा वृद्धि करते हुए, कुबेरतुल्य संपत्तिशाली इस दुर्योधन के गुणों से द्रवित हुई-सी पृथ्वी उसके लिये स्वयं ही धन दुह रही है ॥१८॥

उदारेति । (उदारा कीर्तिः यस्य स उदारकीर्तिः, तस्य) उदारकीर्तेः—महायशसः । 'उदारो दातृमहतोः, इत्यमरः । दयावतः—परदुःखप्रहाणेच्छोः । अत एव प्रशान्तबाधं—(प्रशान्ताः बाधाः यस्मिन् स, तं) प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उदयविशेषणं वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः । (अभितः रक्षा अभिरक्षा, तया) अभिरक्षया—सर्वतस्त्राणेन । उदयं—वृद्धि । दिशतः—संपादयतः । (वसुः उपमानं यस्यासौ, तस्य) वसूपमानस्य—कुवेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः । अस्य—दुर्योधनस्य । गुणैः—दयादाक्षिण्यादिभिः । उपस्नुता—द्राविता । मेदिनी—पृथ्वी । वसूनि—धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । स्वयंप्रदुग्धे—अक्लेशेन दुह्यते इत्यर्थः । दुहे कर्मकर्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु—"विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सर्वस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्ग्या मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति संक्षेपः ॥ १८ ॥

वीरभटानुकूल्यमाह—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
नसंहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ।१९।

अन्वयः—महौजसः, मानधनाः धनार्चिताः, संयति, लब्धकीर्तयः, न संहताः, न भिन्नवृत्तयः, धनुर्भृतः, असुभिः, तस्य, समीहितुं, वाञ्छन्ति ॥

भाषार्थः—अत्यन्त वलशाली, जिनका मान ही धन है दुर्योधन द्वारा अनेक प्रकार से धन द्वारा पुरस्कृत, युद्धों में विजयी होने से लब्धकीर्ति, अपने स्वार्थ-साधन के लिये संघ न बनाने वाले और अपना भिन्न-भिन्न मत न रखने वाले योद्धा अपने प्राण देकर भी उस दुर्योधन का हित करने को तत्पर रहते हैं ॥१९॥

महौजस इति। (महत् ओजो येषां ते) [महौजसः—महाबलाः। अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः। मानः—कुलशीलाद्यभिमान एव—धनं येषां ते मानधनाः। अन्यथा कदाचिद् बलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भावः। धनार्चिताः—धनैरर्चिताः, सत्कृताः। अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः। संयति—संग्रामे। (लब्धा कीर्तियैस्ते) लब्धकीर्तयः बहुयशस इत्यर्थः। अन्यथा कदचिन्मुह्येयुरिति भावः। संहताः—मिथःसङ्गताः। स्वार्थनिष्ठाः, न भवन्तीति—न संहताः। नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। (भिन्ना वृत्तिर्येषां ते)) भिन्नवृत्तयो—मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा—न भवन्तीति नभिन्नवृत्तयः। पूर्ववत्समासः। अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः। (धनूंषि बिभ्रति इति) धनुर्भृतः—धानुष्काः। आयुधीयमात्रोपलक्षणमेतत्। प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम्। तस्य—दुर्योधनस्य। असुभिः—प्राणैः। प्रियाणि—अभीष्टानि। समीहितुं—कर्तुं—वाञ्छन्ति। आनृण्यार्थं प्राणान्दातुमिच्छन्ति। अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः। अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः। लक्षणस्तूक्तम्। तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद्विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टिः ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०॥

अन्वयः—अशेषितक्रियः, स, सच्चरितैः, चरैः, महीभृतां, क्रियाः, निःशेषं, वेद, धातुः, इव, तस्य, ईहितम्, हितानुबन्धिभिः, महोदयैः, फलैः, प्रतीयते ॥

भावार्थः—सम्पूर्ण राजकार्यों को समाप्त करके वह अपने सच्चरित्र

गुप्तचरों द्वारा दूसरे राजाओं के सारे क्रियाकलापों को पूर्ण रूप से जानता है। किन्तु जैसे विधाता की इच्छा को कोई नहीं जानता, काम हो जाने पर ही वह मालूम पड़ती है उसी प्रकार दुर्योधन की चेष्टाओं को भी प्रजा के हितकारक और महान् उदय करने वाले परिणामों से ही जाना जा सकता है। उससे पूर्व उसे कोई नहीं जान सकता ॥ २० ॥

महीभृतामिति। (न शेषिता क्रिया येन सः) अशेषितक्रियः—समापितकृत्यः, आफलोदयकर्मेत्यर्थः। (सत् चरितं येषां ते, तैः) सच्चरितैः—शुद्धचरितैः, अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैश्चरैः—प्रणिधिभिः। पचाद्यच्। महीभृतां (—राज्ञां) क्रियाः—प्रारम्भान्, निःशेषं (—सम्पूर्णं यथा स्यात्तथा) वेद—वेत्ति, 'विदो लटो वा' इति णलादेशः, स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति। धातुः (—ब्रह्मणः) इव, तस्य—दुर्योधनस्य, ईहितम्—उद्योगः, (महान् उदयो येषां ते महोदयाः, तैः) महोदयैः—महावृद्धिभिः, हितम्—अनुबध्नन्ति—अनुरुन्धन्तीति (हितानुबन्धिनः, तैः) हितानुबन्धिभिः—स्वन्तैरित्यर्थः। फलैः—कार्यसिद्धिभिः, प्रतीयते—ज्ञायते। फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ॥ २० ॥

मित्रबलमाह—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अन्वयः—तेन, क्वचित्, सज्यं, धनुः, न, उद्यतं, आननं, वा, कोपविजिह्मं, न कृतम्, (तथापि) नराधिपैः, अस्य, शासनं, गुणानुरागेण, माल्यम्, इव, शिरोभिः, उह्यते ॥

भाषार्थः—दुर्योधन ने कभी भी किसी को दबाने के लिये न तो डोरी चढ़ा धनुष उठाया और न किसी के प्रति क्रुद्ध होने पर उसके मुख पर क्रोध का विकार आया। फिर भी केवल उसके गुणों पर मुग्ध हुए राजा लोग माला की तरह उसके शासन को शिरोधार्य करते हैं ॥ २१ ॥

नेति। तेन क्वचित्—कुत्रापि। सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् (—आरोपितमौर्वीकं) 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। धनुः (—कार्मुकं) नोद्यतं—नोर्ध्वीकृतम्। आननं (—मुखं) च (विशेषेण जिह्मं—कुटिलं विजिह्मं, कोपेन विजिह्मं इति) कोपविजिह्मं—कोपकुटिलं न कृतम्। यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः। कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति। गुणेषु—दयादाक्षिण्यादिषु। अनुरागेण—प्रेम्णा। माल्यपक्षे—सूत्रानुषङ्गेषु। यद्वा—सौरभ्यगुणलोभेन। नराधिपैः (—राजभिः) अस्य शासनम्—आज्ञा। मालैव माल्यं, तदिव। 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी। शिरोभिः—उह्यते—धार्यते। 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यकि सम्प्रसारणम्। अत्रोपमा स्फुटैव ॥ २१ ॥

सम्प्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

अन्वयः—इद्धशासनः, सः, नवयौवनोद्धतं, दुःशासनं, यौवराज्ये, निधाय, पुरोधसा, अनुमतः, (सन्) अखिन्नः, मखेषु, हव्येन, हिरण्यरेतसं, धिनोति ॥

भाषार्थः—इस समय अप्रतिहत आज्ञा वाला राजा दुर्योधन नई जवानी के मद से उन्मत्त अपने छोटे भाई दुःशासन को राज्य का भार सौंप कर स्वयं पुरोहित की आज्ञानुसार आलस्य को त्याग कर निरन्तर यज्ञों में आहुति देता हुआ अग्निदेव को प्रसन्न कर रहा है ॥ २२ ॥

स इति। (इद्धं—दीप्तं, शासनम्—आज्ञा यस्य सः) इद्धशासनः—अप्रतिहताज्ञः। स—दुर्योधनः। (नवं च तद्यौवनञ्च नवयौवनं, नवयौवनेन उद्धतः, तं) नवयौवनोद्धतं—प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यते इति दुःशासनस्तम्। 'भाषायां शासियुधि'—इत्यादिना

बलर्थे युच्प्रत्ययः। (युवराजस्य भावः कर्म वा यौवराज्यं, तस्मिन्) यौवराज्ये—युवराजकर्मणि। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। निधाय—नियुज्येत्यर्थः। पुरोधसा—(पुरोहितेन) अनुमतः—अनुज्ञातः। तस्मिन्याजके सतीत्यर्थः। तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः, न तु 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमानार्थे। अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। (न खिन्नः) अखिन्नः—अनलसः। मखेषु—क्रतुषु। हव्येन—हविषा। हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसम्—अनलं। धिनोति—प्रीणयति। धिनोतेः प्रीणनार्थात् 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः। अकारश्चान्तादेशः।।।२२।।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।।२३।।

अन्वयः—सः, प्रलीनभूपालं, स्थिरायति, आवारिधि, भुवः मण्डलं, प्रशासद्, अपि, त्वद्, एष्यतीः, भियः, चिन्तयत्येव, अहो, बलवद्विरोधिता, दुरन्ता ।।

भाषार्थः—सम्पूर्ण राजाओं को वश में करके चिरस्थायी और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करने पर भी दुर्योधन, तुम से होने वाली विपत्तियों से घबराया-सा रहता है। ठीक ही है बलवानों के साथ विरोध करने का परिणाम दुःखकर ही होता है।। २३।।

प्रलीनेति। सः—दुर्योधनः। (प्रलीनाः भूपाला यस्मिस्तत्) प्रलीनभूपालम्—निःसपत्नमित्यर्थः। (स्थिरा आयतिर्यस्य तत्) स्थिरायति—चिरस्थायीत्यर्थः। भुवः (—पृथिव्याः) मण्डलम् (—वलयं), आ वारिधिभ्य आवारिधि, 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। प्रशासत्—आज्ञापयन्नपि। 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः। त्वत्—त्वत्तः। एष्यतीः—आगमिष्यतीः। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः।

'उगितश्च' इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। भियः—भयहेतून्। विपद इत्यर्थः। चिन्तयति—आलोचयत्येव।

स एवाह—(बलवद्भिः—प्रबलैः, विरोधः—विग्रहः बलवद्विरोधः, सोऽस्यास्तीति बलवद्विरोधी, तस्य भावः)। बलवद्विरोधिता (दुष्टः अन्तो यस्याः सा) दुरन्ता—दुष्टावसाना। सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ २३॥

ननु गूढाकारेङ्गितस्य तस्य भयं त्वया कथं निरधारीत्यत्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥२४॥

अन्वयः—कथाप्रसङ्गेन जनैः, उदाहृतात्, तवाभिधानात्, सुदुःसहात्, मंत्रपदाद्, अनुस्मृताऽखण्डलसूनुविक्रमः, उरगः, इव (कथाप्रसङ्गेन, जनैः, उदाहृतात्, तवाभिधानात्, अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः) नताननः सन् व्यथते।

भाषार्थः—यदि कभी वार्ता-प्रसङ्ग में कोई आप का नाम ले लेता है तो दुर्योधन, अर्जुन के पराक्रम का स्मरण कर नीचे मुख करके इस प्रकार दुःखी होता है जैसे कि विषवैद्य (संपेरा) से उच्चारित गरुड और वासुकि के नामों से युक्त अत्यन्त असह्य मंत्रों के शब्दों से (सुनकर) इन्द्र के भाई विष्णु के वाहन गरुड़ की वेगवती गति का स्मरण करके सर्प नीचे मुख करके भीतर ही भीतर छटपटाया करता है॥ २४॥

घण्टापथः—कथेति। (कथायाः प्रसङ्गः, कथाप्रसङ्गः, तेन) कथाप्रसङ्गेन—गोष्ठीवचनेन। जनैः। (—लोकैः) अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन—विषवैद्येन। 'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः। एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम् (—कथाप्रसङ्गेनेति)। उदाहृतात्—उच्चारितात्। तव अभिधानात्—नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः। 'हेतौ' इति पञ्चमी। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः।

अन्यत्र—तवाभिधानात्—'नामैकदेशग्रहणे नाम-मात्रग्रहणम्' इति न्यायात् —तश्च वश्च तवौ—ताक्ष्यंवासुकी, तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात्। यद्वा कथाप्रसङ्ग इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम्। (आखण्डलस्य सूनुः आखण्डलसूनुः, अनुस्मृतः आखण्डलसूनोः विक्रमः येन स) अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः—स्मृतार्जुनपराक्रमः। सुदुःसहात्—अतिदुःसहात्। मन्त्रपदात्—मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेतोः। (सर्पपक्षे) आखण्डलसूनुः—इन्द्रानुजः। उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत्। 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः। तस्य विः—पक्षी। गरुड इत्यर्थः। तस्य क्रमः—पादविक्षेपः। सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः—स्मृतगरुडमहिमा। उरग इव (नतम् आननं यस्य स) नताननः सन्। व्यथते—दुःखायते। 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः। अत्युत्कटभयकोपादिविकारा दुर्वारा इति भावः। 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम्॥ २४ ॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः।२५।

अन्वयः—तद्, त्वयि, जिह्मं, कर्तुम्, उद्यते, तत्र, विधेयम्, उत्तरम्, आशु, विधीयताम्, परप्रणीतानि, वचांसि, चिन्वतां, मादृशां, गिरः, प्रवृत्तिसाराः, खलु।

भाषार्थः—इसलिये तुम्हारे प्रति कपट का व्यवहार करने के लिए तय्यार दुर्योधन के विषय में तुम्हें जो कुछ करना है शीघ्र कर डालो। दूसरों की कही बातों को इकट्ठा करने वाले मेरे जैसे गुप्तचर की बातें तो केवल समाचारज्ञापन मात्र ही होती हैं ॥२५॥

तदिति। तत्—तस्मात्। त्वयि। जिह्मं—कपटं। कर्तुमुद्यते—त्वां जिघांसावित्यर्थः। तत्र—तस्मिन्दुर्योधने। विधेयं—कर्तव्यम्।

उत्तरं—प्रतिक्रिया । आशु विधीयतां—क्रियताम् । ननु कर्तव्यमपि त्वं वोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । (परैः प्रणीतानि, तानि) परप्रणीतानि—परोक्तानि वचांसि । चिन्वतां—गवेषयतां । (अहमिव दृश्यमाना मादृशाः, तेषां) मादृशाम्—वार्ताहारिणामित्यर्थः । गिरः (—वाचः) (प्रवृत्तिः सारः यासां ताः) प्रवृत्तिसाराः—वार्तामात्रसाराः खलु । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । वार्तामात्रवादिनो वयम्, न तु कर्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसंनिवासिनाम् ।
प्रविश्य कृष्णा-सदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

अन्वयः—वनसंनिवासिनां, पत्यौ, इति, गिरम्, ईरयित्वा, आत्तसत्क्रिये, गते (सति) अथ महीभुजा, कृष्णासदनं, प्रविश्य, अनुजसन्निधौ, तद्वचः, आचचक्षे ।

भाषार्थः—इस प्रकार एकान्त में दुर्योधन का वृत्तान्त सुना कर और प्रचुर पुरस्कार पाकर, वनेचरों के स्वामी के अपने स्थान को चले जाने पर, राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी के कमरे में जाकर भीमादि भाइयों के सामने ये सब बातें कहीं ॥२६॥

इतीति । (वने सन्निवसन्तीति वनसन्निवासिनः, तेषां) वनसंनिवासिनां पत्यौ—वनेचराधिपे । इति गिरम्—ईरयित्वा—उक्त्वा । (आत्ता सत्क्रिया येनासौ, तस्मिन्) आत्तसत्क्रिये—गृहीतपारितोषिके । गते सति । 'तुष्टिदानमेव चराणां हि वेतनम् । ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते । अथ (महीं भुनक्ति इति महीभुक्, तेन) महीभुजा—राज्ञा । (कृष्णायाः सदनं, तत्) कृष्णासदनं—द्रौपदीभवनं । प्रविश्य (अनुजानां—भ्रातॄणां, सन्निधिः —सामीप्यं, तस्मिन्) अनुजसंनिधौ—तत्—वनेचरोक्तं । वचः—वाक्यम् । आचचक्षे—आख्यातम् । अथवा—कृष्णेति पदच्छेदः । सदनं प्रविश्यानुज-

संनिधौ—तद्वचः कृष्णा (कर्मभूता) आचचक्षे—आख्याता। चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट्॥ २६॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥२७॥

अन्वयः—अथ, द्रुपदात्मजा, द्विषतां, सिद्धिं, ततः, निशम्य, ततस्त्याः, अपाकृतीः, विनियन्तुम्, अक्षमा, नृपस्य, मन्युव्यवसायदीपिनीः, गिरः, उदाजहार॥

भाषार्थः—इसके वाद शत्रुओं की सर्वतोमुखी सिद्धि को युधिष्ठिर के मुख से सुन कर और कौरवों के द्वारा अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहारों को सोच कर उसका प्रतीकार न होने से क्षुव्ध हुई द्रौपदी युधिष्ठिर के क्रोध और उद्योग को उद्दीप्त करने वाली वाणी वोली॥२७॥

निःशम्येति। अथ द्रुपदात्मजा—द्रौपदी। द्विषतां सिद्धिं—वृद्धिरूपाम्। निशम्य। ततः—तदनन्तरम्। ततो—द्विषद्भ्य आगताः—ततस्त्याः। 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्। अपाकृतीः—विकारान्। विनियन्तुं—निरोद्धुम्। (न क्षमा) अक्षमा (—असमर्था) सती, नृपस्य—युधिष्ठिरस्य। (मन्युश्च व्यवसायश्च मन्युव्यवसायौ, तयोः) मन्युव्यवसाययोः—क्रोधोद्योगयोः। दीपिनी—संवर्द्धिनीः। गिरः—वाक्यानि। उदाजहार—जगादेत्यर्थः॥ २७॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः॥२८॥

अन्वयः—भवादृशेषु, प्रमदाजनोदितम्, अनुशासनम्, अधिक्षेप, इव, भवति, तथापि, निरस्तनारीसमयाः, दुराधयः, मां, वक्तुं, व्यवसाययन्ति॥

भाषार्थः—आप जैसे वहुश्रुत व्यक्ति के लिये साधारण स्त्री द्वारा दिया गया कर्तव्योपदेश एक प्रकार का आप पर आक्षेप करना ही है, फिर भी

मनोव्यथाओं ने मुझे स्त्रीजनोचित मर्यादा छोड़ने को बाध्य किया है, और वे ही मुझे आपसे कुछ कहने को प्रेरित कर रही हैं ॥२८॥

भवादृशेष्विति। (भवन्त इव दृश्यन्ते इति) भवादृशाः—भवद्विधाः। पण्डिता इत्यर्थः। तेषु विषये। 'त्यदादिषु'—इत्यादिना कञ्। 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः। (प्रमदा एव जनः, तेन उदितम्) प्रमदाजनोदितं—स्त्रीजनोक्तम्। वदेः क्तः। 'वचिस्वपि'—इत्यादिना संप्रसारणम्। अनुशासनं—नियोगवचनं। अधिक्षेपः—तिरस्कार इव भवति। अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः। तथापि—वक्तुमनुचितत्वेऽपि। (निरस्ताः नारीणां समयाः यैस्ते निरस्तनारीसमयाः—त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। (दुष्टाश्च ता आधयः) दुराधयः—समयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति—प्रेरयन्ति। न किंचिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवाऽपवर्जिता ॥२९॥

अन्वयः—आखण्डलतुल्यधामभिः, स्ववंशजैः, भूपतिभिः, चिरं, अखण्डं, धृता, मही, मदच्युता, मतङ्गजेन, स्रग्, इव, त्वया, आत्महस्तेन, अपवर्जिता॥

भाषार्थः—इन्द्र जैसे तेजस्वी आपके वंशज राजाओं ने चिरकाल तक जिस सम्पूर्ण पृथ्वी पर अविच्छिन्न राज्य किया, उसे आपने इस प्रकार अपने हाथ से छोड़ दिया जैसे कोई मदोन्मत्त हाथी फूल की माला को दूर फेंक देता है ॥२९॥

अखण्डमिति। (आखण्डलेन तुल्यं धाम येषां ते आखण्डलतुल्यधामानः, तैः) आखण्डलतुल्यधामभिः—इन्द्रतुल्यप्रभावैः। (स्वस्य वंशः स्ववंशः, स्ववंशे जाताः स्ववंशजाः, तैः) स्ववंशजैः(—आत्मवंशोद्भवैः) भूपतिभिः—भरतादिभिः। चिरम् (—बहुकालं यावत्) अखण्डम्—अविच्छिन्नं धृता (—पालिता) मही—पृथ्वी। त्वया। म

श्च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन—मदस्राविणा । मतङ्गजेन (—करिणा) स्रगिव (—माल्यमिव) (आत्मनः हस्तः, तेन) आत्महस्तेन—स्वकरेण, स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता—परिहृता, त्यक्ता । स्वदोषादेवाऽयमनर्थागम इत्यर्थः ॥ २९ ॥

'स्वदोषादेवायमनर्थागमः' इत्युक्तम् । स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अन्वयः—मूढधियः, ते, पराभवं, व्रजन्ति, ये, मायाविषु, मायिनः, न, भवन्ति । शठाः, तथाविधान्, असंवृताङ्गान्, निशिताः, इषवः, इव, प्रविश्य, घ्नन्ति ॥

भाषार्थः—वे मूर्ख सदा पराजित होते हैं जो कपटी धूर्तों के साथ छल कपट का व्यवहार नहीं करते । जैसे तीखे वाण विना ढके शरीर वाले योद्धाओं के शरीर के अन्दर घुस कर उन्हें मार डालते हैं वैसे ही कपटी धूर्त भी निश्छल व्यक्ति की भीतरी वातों को जानकर उसे नष्ट कर देते हैं ॥३०॥

व्रजन्तीति । (मूढा धीः येषां ते) मूढधियः—निर्विवेकबुद्धयः—ते (—जनाः) पराभवं व्रजन्ति (—पराजयं प्राप्नुवन्ति) ये (माया अस्ति येषां ते, तेषु) मायाविषु—मायावत्सु विषये 'अस्मायामेधा—' इत्यादिना विनिप्रत्ययः । मायिनः—मायावन्तः । व्रीह्यादित्यादिनिप्रत्ययः । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठाः—अपकारिणो धूर्ताः । (तेन प्रकारेण तथा, तथा विधा येषां ते तथाविधाः, तान्) तथाविधान्—अकुटिलान् । (न संवृतानि अङ्गानि यैस्ते, तान्) असंवृताङ्गान्—अवर्मितशरीरान् । निशिता इषव इव प्रविश्य—प्रवेशं कृत्वा । आत्मीया भूत्वा । घ्नन्ति हि । आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिरिति भावः ॥३०॥

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागमः, किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्या-शयेनाह—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥३१॥

अन्वयः—अनुरक्तसाधनः, कुलाभिमानी, त्वत्, अन्यः, क, इव, नराधिपः, गुणानुरक्तां, कुलजां, मनोरमां, आत्मवधूम्, इव (गुणानुरक्तां, कुलजां, मनोरमां) श्रियम्, अपहारयेत् ॥

भावार्थः—जिसके सभी साधन (सहायक) अनुकूल हों, जिसे अपनी वंश-मर्यादा का अभिमान हो ऐसा तुम्हारे सिवा दूसरा कौन सा राजा होगा जो सौन्दर्यादि गुणों पर मुग्ध, सत्कुल में उत्पन्न और सुन्दरी अपनी भार्या की तरह सन्धि-विग्रहादि गुणों से प्रसन्न, वंशपरम्परा से प्राप्त, मनोनुकूल राज्यलक्ष्मी का दूसरों से हरण करवाए ॥३१॥

गुणेति। (अनुरक्तानि साधनानि यस्यासौ) अनुरक्तसाधनः—अनुकूलसहायवान्। उक्तं च कामन्दकीये—'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः। छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी' इति। (कुलस्य अभिमानः कुलाभिमानः सोऽस्यास्तीति) कुलाभिमानी—क्षत्रियत्वाभिमानी, कुलीनत्वाभिमानी च। (त्वत्तः अन्यः) त्वदन्यः—त्वत्तोऽन्यः। 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी। क इव नराधिपः (—राजा)—गुणैः सन्ध्यादिभिः, सौन्दर्यादिभिश्च अनुरागिणीं। (कुले जायते इति कुलजा, तां) कुलजां—कुलक्रमादागतां कुलीनां च। मनोरमां (—मनोनुकूलां) श्रियम् (—राज्यलक्ष्मीं) (आत्मनः वधूः, तां) आत्मवधूमिव—स्वभार्यामिव। 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः। परैः—शत्रुभिरन्यैश्च। अपहारयेत्—स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः। कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञां मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः॥ ३१ ॥

अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ।।३२।

अन्वयः—नरदेव ! एतर्हि, मनस्विगर्हिते, वर्त्मनि, विवर्तमानं, भवन्तम्, उदीरितः, मन्युः, शुष्कं, शमीतरुम्, उच्छिखः, वह्निः, इव, कथं, न, ज्वलयति ?

भावार्थः—हे राजन् ! उठती लपटों वाला अग्नि जिस प्रकार सूखे शमीवृक्ष को जला देता है उसी प्रकार इस समय शूरजन जिस मार्ग में चलना निन्दनीय समझते हैं उसी पर चलकर दुर्दशा भोगते हुए आप को उद्दीप्त हुआ क्रोध जला क्यों नहीं देता ? ।।३२।।

भवन्तमिति । हे नरदेव—नरेन्द्र ! एतर्हि—इदानीम् । अस्मिन्नापत्कालेऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमो र्हिल्' इति र्हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः ।

आपदमेवाह—मनस्वीति । (प्रशस्तं मनः अस्ति येषां ते मनस्विनः, गर्हा संजाता अस्य गर्हितम्, मनस्विभिः गर्हितम्, तस्मिन्) मनस्विगर्हिते—शूरजनजुगुप्सिते । वर्त्मनि—मार्गे । (विवर्त्तते इति विवर्त्तमानः तम्) विवर्त्तमानम्—शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं—त्वाम् । उदीरितः—उद्दीपितः । मन्युः—क्रोधः । शुष्कं—नीरसम् । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । (शमी तरुं) शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः । तम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । (उद्गता शिखा यस्य सः) उच्छिखः—उद्गतज्वालः । 'घृणिज्वाले अपि शिखे', इत्यमरः । वह्निरिव कथं न ज्वलयति । ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' ।। ३२ ।।

नन्वन्तःशत्रुत्वादयं क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह—

अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।।३३।।

अन्वयः—अबन्ध्यकोपस्य, आपदां, विहन्तुः, देहिनः, स्वयम्, एव, वश्याः, भवन्ति, अमर्षशून्येन, जन्तुना, जातहार्देन (सता), जनस्य, आदरः, न, विद्विषा, (सता), दरः न ॥

भाषार्थः—जिस व्यक्ति का क्रोध निष्फल नहीं होता एवं जो क्रोध आने पर अपराधियों को दण्ड दे सकने में समर्थ है, सभी प्राणी उसके अधीन स्वयं हो जाते हैं। किन्तु जो क्रोध आने पर भी कुछ नहीं कर सकता उसके स्नेह करने से कुछ लाभ नहीं होता और उसकी शत्रुता से कोई भय नहीं लगता ॥३३॥

अबन्ध्येति। (न बन्ध्यः अबन्ध्यः) अबन्ध्यः कोपो यस्य तस्याबन्ध्यकोपस्य (—अव्यर्थक्रोधस्य)। अतएव। आपदां (—अनिष्टानां) विहन्तुः (—विनाशकस्य), निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः। पुंस इति शेषः। देहिनः—जन्तवः। स्वयमेव (—आत्मनैव)। वश्याः—वशङ्गताः। भवन्ति। 'वशंगतः' इति यत् प्रत्ययः। अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः। व्यतिरेके स्वनिष्टमाचष्टे—(अमर्षेण शून्यः, तेन) अमर्षशून्येन—निष्कोपेन। जन्तुना (—जीवेन)। कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया। हृदयस्य कर्म हार्दं—स्नेहः। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" इत्यमरः। युवादित्वात् 'हृदयस्य हृल्लेख यदण्लासेषु' इति हृदादेशः। (जातं हार्दं यस्य, तेन) जातहार्देन—जातस्नेहेन सता। जनस्य—लोकस्य। आदरः (—सम्माननना) न। विद्विषा (—शत्रुणा) च सताऽऽदरः। न। अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः। अथवा विद्विषा सता दरो—भयं न। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः। एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः। पुंवाक्येषु न दोषः। अतः स्थाने कोपः कार्यस्त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

अन्वयः—लोहितचन्दनोचितः, महारथः, अयं वृकोदरः, रेणुरूषितः

(सन्) पदातिः, अन्तर्गिरि, परिभ्रमन्, सत्यधनस्य, मानसं, नो दुनोति, कच्चित् ॥

भावार्थः—जो भीमसेन पहिले शरीर में लाल चन्दन मला करता था और बड़े-बड़े रथों में बैठ कर चला करता था, वही आज धूलि से सना हुआ पहाड़ों में इधर से उधर पैदल ही भटक रहा है। सत्य को ही सर्वस्व मानने वाले आप के चित्त को इससे कुछ भी दुःख नहीं होता है क्या ? ३४॥

घण्टापथः—परिभ्रमन्निति। (लोहितं च तच्चन्दनं च लोहितचन्दनं, तेन उचितः) लोहितचन्दनोचितः—उचितलोहितचन्दनः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति साधुः। अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः। "अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्" इति यादवः। महारथः—रथचारी। उभयत्रापि प्रागितिशेषः। अद्य तु (रेणुभी रूषितः) रेणुरूषितः—धूलिच्छुरितः। पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः—पादचारी। 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इन्प्रत्ययः। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि—गिरिष्वन्तः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात् समासान्ताभावः। परिभ्रमन् (—पर्यटन्) अयं वृकोदरः—भीमः। (सत्यमेव धनं यस्य, तस्य) सत्यधनस्य (—सत्यमेव वित्तं मन्यमानस्य) इति सोल्लुण्ठवचनम्। अद्यापि सत्यमेव रक्ष्यते न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः। मानसं (—चेतः) नो दुनोति कच्चित्—न परितापयति ? 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः।३५।

अन्वयः—वासवोपमः, यः, उत्तरान्, कुरून्, विजित्य, प्राज्यम्, अकुप्यं, वसु, अयच्छत्, स, धनञ्जयः, अधुना, वल्कवासांसि, आहरन्, तव, मन्युं, कथं, न करोति ॥

भावार्थः—युद्ध के समय इन्द्र के समान पराक्रमी जिस अर्जुन ने सारे

उत्तर कुरुदेशों को जीतकर असंख्य सुवर्ण रत्नादि वहुमूल्य द्रव्य लाकर तुम्हें दिये थे वही धनञ्जय आज पेड़ों की छाल पहनने के लिये ला रहा है। इसकी ऐसी दशा देखकर भी तुम्हारा क्रोध कौरवों पर क्यों नहीं उमड़ता ? ।।३५।।

विजित्येति । वासवः इन्द्रः उपमा—उपमानं यस्य स वासवोपमः—इन्द्रतुल्यः, यः—धनञ्जयः, उत्तरान् कुरून्—मेरोरुत्तरान् मानुषान् देशविशेषान् । विजित्य (—जित्वा) प्राज्यं—प्रभूतं । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । कुप्यादन्यद् अकुप्यं—हेमरूप्यात्मकं । 'स्यात्कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः । वसु—धनम्, अयच्छत्—दत्तवान् । 'पाघ्रा—' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । स धनं जयतीति धनञ्जयः—अर्जुनः । 'संज्ञाया भृतवृजि—' इत्यादिना खच् प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषत्—' इत्यादिना मुमागमः । अधुना—अस्मिन् काले । 'अधुना' इति निपातनात् साधुः । तव (वल्कान्येव वासांसि) वल्कवासांसि (—वृक्षत्वक्रूपाणि वस्त्राणि) आहरन् (—आनयन्) कथं, मन्युं—क्रोधं दुःखं वा न करोति ।। ३५ ।।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ।३६।

अन्वयः—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती, विष्वक्, कचाचितौ, अगजौ, गजौ, इव, एतौ, यमौ, विलोकयन्, त्वं, धृतिसंयमौ, बाधितुं, कथं, न उत्सहसे ।।

भाषार्थः—जंगलों के अन्दर विना विछौने की शय्या पर सोने से जिनका शरीर कठोर हो गया है और इधर उधर विखरे वालों वाले इन पर्वतीय हाथियों के से यमल नकुल-सहदेव को देखकर भी तुम अपने संतोष और धैर्य को छोड़ने के लिए उद्यत क्यों नहीं होते ? ।।३६।।

वनान्तेति—वनान्तः—वनभूमिरेव, शय्या (—शयनम्) तया (न कठिना अकठिना, अकठिना कठिना संपद्यमाना कृता इति, कठिनीकृता, कठिनीकृता आकृतिः ययोस्तौ) कठिनीकृताकृती—कठिनीकृतदेहौ

'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती। विष्वक्—समन्तात्। "समन्ततस्तु परितःसर्वतो विष्वगित्यपि" इत्यमरः। (कचैः आचितौ) कचाचितौ—कचव्याप्तौ, विशीर्णकेशावित्यर्थः। अत एव (अगे जातौ) अगजौ—गिरिसम्भवौ, गजौ—(—करिणौ) इव स्थितौ। एतौ यमौ—युग्मजातौ, माद्रीपुत्रावित्यर्थः। 'यमो दण्डधरे ध्वांङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः। विलोकयन् (—पश्यन्) त्वं। कथं (धृतिश्च संयमश्च) धृतिसंयमौ—सन्तोषनियमौ। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। बाधितुं (—परित्यक्तुं) नोत्सहसे—न प्रवर्तसे। ""शकधृष—" इत्यादिना तुमुन्। अहो ते महद्धैर्यमिति भावः॥ ३६॥

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः।३७।

अन्वयः—अहम्, इमां, तावकीं, धियं, न वेद, चित्तवृत्तयः, विचित्ररूपाः, खलु, परां, भवदापदं, विचिन्तयन्त्याः, मम, आधयः, चेतः, प्रसभं रुजन्ति॥

भावार्थः—आपकी बुद्धि ऐसी क्यों हो गई, मैं समझ नहीं पाती, क्योंकि मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ विचित्र प्रकार की होती हैं। किन्तु आपकी इस महती दुर्दशा का विचार करके मेरा मन तो मानसिक व्यथाओं से टूट रहा है। (फिर भी आप धैर्य रखे हैं। महान् आश्चर्य है!) ॥३७॥

इमामिति। इमां—वर्तमानां, तव इमां तावकीं—त्वदीयाम्, 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्ययः। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। धियं—त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिम्, अहं न वेद—कीदृशी वा न वेद्मि। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। नचात्मपरबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादितिभावः। दुःखित्वमनुमातुं शक्यते। धीरादिष्वनैकान्तिकत्वादृष्टान्तेनापन्नत्वाद् दित्याशयेनाह—(चित्तानां वृत्तयः) चित्तवृत्तयः (—मनोव्यापाराः) विचित्राणि रूपाणि यासां ताः) विचित्ररूपाः—धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु।

किन्तु पराम्—उत्कृष्टां। (भवतः आपत्, तां) भवदापदं, विचिन्तयन्त्याः—भावयन्त्याः, मम चेतः—चित्तम्। आधयः—मनोव्यथाः। 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः। प्रसभं—प्रसह्य, रुजन्ति—भञ्जन्ति। 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट्। पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोति इति महच्चित्रमित्यर्थः। चेत इति 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः,' इति षष्ठी न भवति। तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥ ३७ ॥

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं बिबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ।।३८।।

अन्वयः—यः, पुरा, महाधनं, शयनम्, अधिरूढः, स्तुतिगीतिमङ्गलैः, विबोध्यसे, स, अदभ्रदर्भां, स्थलीं, अधिशय्य, अशिवैः, शिवारुतैः, निद्रां, जहासि।

भाषार्थः—पूर्वकाल में वहुमूल्य कोमल शय्या पर सोने वाले आप प्रातःकाल वैतालिकों द्वारा गाई गई विरुदावली और स्तुतिगान-रूप मङ्गलाचरणों से जगाए जाते थे पर आज आप अत्यधिक कुशमयी भूमि पर सोये हुए अमङ्गलकारी सियारों की हुआ-हुआ ध्वनि से जागते हो ॥३८॥

पुरेति। यस्त्वं—महाधनं—वहुमूल्यं। श्रेष्ठम्। 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः। शयनं—शय्याम्। अधिरूढः सन्। स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः (स्तुतिगीतिमङ्गलैः—स्तोत्रगानादिमधुरध्वनिभिः) पुरा विबोध्यसे—(वैतालकैरिति शेषः) पूर्वं बोधित इत्यर्थः। 'पुरि लुङ् चाऽस्मे' इति भूतार्थे लट्। सः—त्वम्—(अदभ्राः दर्भाः यस्यां सा, तां) अदभ्रदर्भां—बहुकुशाम्। 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः' इति। 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चाऽमरः। स्थलीम्—अकृत्रिमभूमिम्। 'जानपद'—इत्यादिनाऽकृत्रिमार्थे ङीप्। एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम्। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म'

इति कर्मत्वम् । अधिशय्य---शयित्वा । 'अयङ्यि क्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैः---अमङ्गलैः । शिवारुतैः---क्रोष्टुवाशितैः, 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि । 'अद्य' इतिशेषः॥३८॥

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

अन्वयः---नृप, यत्, एतत्, (ते वपुः) पुरा, द्विजातिशेषेण, अन्धसा रामणीयकम्, उपनीतम्, अद्य, वन्यफलाशिनः, ते, तद्, वपुः, यशसा, समं, परं, कार्श्यम्, परैति ॥

भाषार्थः---हे राजन् ! पहले (जब तुम राजा थे तब) सम्मानपूर्वक ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद बचे हुए अन्न को खाने से जो तुम्हारा शरीर अत्यन्त रमणीय लगता था, आज जंगली फलों पर गुजर करते हुए तुम्हारा वही शरीर क्षीण होता जा रहा है, और साथ ही इस दुर्दशा के कारण तुम्हारी कीर्ति भी कम होती जा रही है ॥३९॥

पुरेति । हे नृप ! यदेतत्---पुरोवर्ति वपुः पुरा (द्वे जाती येषां ते द्विजातयः, तेभ्यः शेषं, तेन) द्विजातिशेषेण---द्विजभुक्तावशिष्टेन । अन्धसा---अन्नेन । 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकं---मनोहरत्वम् । उपनीतं---प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकत्वा-त्प्रधाने कर्मणि क्तः । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । अद्य (वने भवानि वन्यानि, वन्यानि च तानि फलानि वन्यफलानि, तानि अश्नाति---भुनक्तीति वन्यफलाशी, तस्य) वन्यफलाशिनस्ते---तव । तद्---वपुः । यशसा समं---परम्---अतिमात्रं । (कृशस्य भावः) कार्श्यं (---दुर्बलतां) परैति---प्राप्नोति । उभयमपि क्षीयते इत्यर्थः । सहोक्तिर-लङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे---'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाच-कम्' इति ॥ ३९ ॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अन्वयः—अनारतं, मणिपीठशायिनौ, यौ, (ते चरणौ) राजशिरःस्रजां, रजः, अरञ्जयत्, तौ, ते, चरणौ, मृगद्विजालूनशिखेषु, बर्हिणां, वनेषु, निषीदतः ॥

भावार्थः—निरन्तर रत्नजटित पीठ पर विराजमान तुम्हारे जो चरण प्रणाम करते हुए राजाओं के माथे पर की मालाओं से झरते हुए पराग से रंग जाते थे, वे ही आज हरिणों और तपस्वियों से काटी गई कुशाओं से भरे वनों में विश्राम पाते हैं ॥४०॥

अनारतमिति । अनारतम्—अजस्रम् । (मणीनां पीठं मणिपीठं, मणिपीठे शयाते तच्छीलौ, तौ) मणिपीठशायिनौ—मणिमयपादपीठस्थायिनौ । यौ—चरणौ । (राज्ञां शिरसि, तेषां स्रजः, तेषां) राजशिरःस्रजां—नमद्भूपालमौलिस्रजां । रजः—परागः—अरञ्जयत् । तौ ते चरणौ-मृगैः (—हरिणैः) द्विजैश्च—तपस्विभिश्च (आलूना शिखा येषां ते, तेषु) आलूनशिखेषु—छिन्नाग्रेषु । बर्हिषां—कुशानाम् ॥ 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतः—तिष्ठतः ॥ ४० ॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

अन्वयः—यत्, इयं, दशा, द्विषन्निमित्ता, ततः, मे, मनः, समूलम्, उन्मूलयति, इव, परैः, अपर्यासितवीर्यसम्पदां, मानिनां, पराभवः, अपि, उत्सव, एव, (भवति) ॥

भावार्थः—आपकी यह दशा क्योंकि शत्रुओं के कारण हुई है इसी से मेरे चित्त को जड़ से जैसे उखाड़ रही है। दूसरे जिन्हें परास्त नहीं कर सकते ऐसे स्वाभिमानी जनों पर यदि भाग्यवश कभी विपत्ति आती है तो वे उसे उत्सव जैसा मानकर सह लेते हैं ॥४१॥

द्विषदिति। यत्--यतः कारणात्। इयं दशा—अवस्था। 'दशा वार्तावस्थायाम्' इति विश्वः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः साः (द्विषन्निमित्ता--शत्रुहेतुकी) (द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। अतो मे—मनः। समूलं--प्राऽऽशयम्। उन्मूलयतीव--उत्पाटयतीव। दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह--परैरिति। परैः--शत्रुभिः। अपर्यासिता—पर्यावर्तितता वीर्यसम्पद्येषां तेषां—मानिनां--पराभवः—विपदपि—उत्सव एवेति वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः। मानहानिः दुःसहा, न त्वापदिति भावः॥ ४१॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥४२॥

अन्वयः--नृप! शान्तिं, विहाय, तद्, धाम, विद्विषां, वधाय, पुनः, सन्धेहि, प्रसीद, निःस्पृहाः मुनयः, शमेन, शत्रून्, अवधूय, सिद्धिं, व्रजन्ति, भूभृतः, न॥

भावार्थः—हे राजन्! शान्ति को छोड़कर शत्रुओं का नाश करने के लिये उस प्रसिद्ध क्षात्र-तेज को फिर धारण करो। जिन्हें किसी प्रकार की सांसारिक इच्छाएँ नहीं हैं ऐसे मुनिजन इससे मोक्षरूपी सिद्धि पा सकते हैं। पृथ्वी का भार उठाने वाले राजाओं को शान्ति से सिद्धि (विजय) नहीं मिल सकती॥४२॥

विहायेति। हे नृप! शान्तिं विहाय, (—शमं परित्यज्य) तत्—प्रसिद्धं धाम---तेजः---विद्विषां वधाय (—शत्रुविनाशाय) पुनः सन्धेहि---अङ्गीकुरु। प्रसीद। प्रार्थनायां लोट्। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह—व्रजन्तीति। (निर्गता स्पृहा येषां ते) निःस्पृहाः(—निरीहाः) किं मुनयः शमेन--क्रोधवर्जनेन, शत्रूनवधूय—निर्जित्य, सिद्धिं व्रजन्ति। कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं (भुवं बिभर्तीति) भूभृतः (--राजानः) तु न, शान्तिसाध्यमित्यर्थः॥ ४२॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥४३॥

अन्वयः—धामवतां, पुरस्सराः, यशोधनाः, भवादृशाः ईदृशं, सुदुःसहं, निकारं, प्राप्य, रतिम्, अधिकुर्वते, चेत्, हन्त, मनस्विता, निराश्रया (सती), हता ॥

भाषार्थः—तेजस्वी जनों में अग्रेसर और कीर्ति को ही धन मानने वाले आप जैसे महापुरुष भी यदि शत्रुओं से असह्य तिरस्कार पाकर चुपचाप बैठे रहे, तो दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मनस्विता नष्ट हो गई, क्योंकि उसके लिये कोई आश्रय ही नहीं रह जायगा ॥४३॥

पुर इति। किं च—(धाम विद्यते येषां ते धामवन्तः, तेषां) धामवतां—तेजस्विनाम् । परनिकाराऽसहिष्णूनामित्यर्थः । पुरःसन्तीति पुरःसराः—अग्रेसराः । 'परोग्रऽयतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । (यशांसि एव धनानि येषां ते) यशोधनाः । भवादृशाः । सुदुःसहम्—अतिदुःसहम् । ईदृशम्—उक्तप्रकारं । निकारं —पराभवं । प्राप्य । रतिं—सन्तोषम् । अधिकुर्वते—स्वीकुर्वते, चेत्—तर्हि । हन्तेति खेदे । (प्रशस्तं मनः अस्ति यस्यासौ मनस्वी, तस्य भावः) मनस्विता—अभिमानिता । (निर्गतः आश्रयो यस्याः सा) निराश्रया सती—हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति, 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः'—इत्यत्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अन्वयः—अथ, निरस्तविक्रमः (सन्) चिराय, क्षमाम्, एव, सुखस्य, साधनं, पर्येषि (चेत् तर्हि) लक्ष्मीपतिलक्ष्म, कार्मुकं, विहाय, जटाधरः सन्, इह, पावकं, जुहुधि ॥

भाषार्थः—यदि आपका उत्साह शान्त हो गया है और आप सदा के

लिये शान्ति को ही सुख का साधन समझते हैं तो राजाओं के चिह्नभूत इस धनुष को छोड़कर जटाधारी बन जाइये और यहाँ जंगल में रहकर हवन कीजिये ॥४४॥]

अथेति । अथ—पक्षान्तरे । (निरस्त विक्रमो येन सः) निरस्तविक्रमः (—उत्साहहीनः) सन् । चिराय—चिरकालेनापि । क्षमां—क्षान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं पर्येषि—अवगच्छसि, तर्हि (लक्ष्म्याः पतिः, तस्य लक्ष्म) लक्ष्मीपतिलक्ष्म—राजचिह्नं, कार्मुकं (—धनुः) धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटानां धरः जटाधरः सन् । इह—वने । पावकं जुहुधि—पावके होमं कुर्वित्यर्थः । अधिकरणे कर्मत्वोपचारः । विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः । 'हु झल्भ्यो हेर्धिः' ॥४४॥

प्रतिज्ञाभङ्गाद्बिभेषि चेत्तदपि न किंचिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ।४५

अन्वयः—परेषु, निकृतिपरेषु, भूरिधाम्नः, ते, समयपरिरक्षणं, न, क्षमम्, हि, विजयार्थिनः, क्षितीशाः, अरिषु, सोपधि, सन्धिदूषणानि, विदधति ॥

भावार्थः—जब कि शत्रु निरन्तर तुम्हारे अपकार में लगे हैं तब ऐसी स्थिति में अत्यन्त प्रतापशाली होते हुए, तुम्हारे लिए समय की प्रतीक्षा करना अथवा १३ वर्ष की बाट जोहना उचित नहीं । क्योंकि विजय चाहने वाले राजा शत्रुओं से कपट का व्यवहार करके भी किसी बहाने सन्धियों को तोड़ सकते हैं ॥४५॥

नेति । परेषु—शत्रुषु । निकृतिः परं-प्रधानं येषु तेषु तथोक्तेषु—अपकारतत्परेषु सत्सु । (भूरि धाम यस्यासौ भूरिधामा, तस्य) भूरिधाम्नः—महौजसः—प्रतिकारक्षमस्य । ते—तव । समयः—त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित् । 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं—न क्षमं—(परिपालनं) न युक्तम् । हि—यस्मात् । (विजयमर्थयन्ते 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः ।

तच्छीलाः) विजयार्थिनः—विजिगीषवः । (क्षितेः ईशाः) क्षितीशाः। अरिषु—विषये । (उपाधिना सहितं) सोपधि—सकपटं यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । (सन्धेः दूषणानि) सन्धिदूषणानि—विदधति—केनचिद् व्याजेन दोषमापाद्य सन्धिं दूषयन्ति। विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत् समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४५ ॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४६॥

अन्वयः—विधिसमयनियोगात्, अगाधे, आपत्पयोधौ, मग्नम्, दीप्तिसंहारजिह्मं, शिथिलवसुं, रिपुतिमिरम्, उदस्य, उदीयमानं, त्वां, दिनादौ (विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम् । दीप्तिसंहारजिह्मं, शिथिलवसुं रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं) दिनकृतम्, इव लक्ष्मीः, भूयः, समभ्येतु ॥

भावार्थः—विधाता के बनाये नियम के अनुसार सायंकाल प्रकाश समाप्त होने से किरणों के शिथिल हो जाने पर समुद्र में डूबे हुए और प्रातःकाल फिर अन्धकार-समूह को हटाकर उदय होते हुए सूर्य को जैसे दिनलक्ष्मी पहिले की तरह प्राप्त हो जाती है; (अर्थात् जैसे सूर्य फिर पहले की भाँति चमकने लगता है) उसी प्रकार भाग्यवश या समय के फेर से प्रताप नष्ट हो जाने से विपत्तिरूपी सागर में डूबे हुए और धनहीन हुए आप को भी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए उद्यत आपको पुनः पहिले की भाँति राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो ॥४६॥

विधीति । विधिः—दैवम् । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः—कालः, तयोर्नियोगात्—नियमनाद्धेतोः । तयोर्दुरतिक्रम-

त्वादिति भावः। अगाधे—दुस्तरे। आपत्—पयोधिरिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति—वक्ष्यमाणानुसारात्। तस्मिन् आपत्पयोधौ, (—विपत्सागरे) मग्नम्। सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जतीत्यागमः। दीप्तिः—प्रतापः, आतपश्च। तस्याः संहारेण जिह्मं—अप्रसन्नम्। (शिथिलं वसु यस्य सः शिथिलवसुः, तं) शिथिलवसुं—शिथिलधनम्। अन्यत्र शिथिलरश्मिम्। 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः। रिपुस्तिमिरमिवेति—रिपुतिमिरम्, उदस्य—निरस्य। उदीयमानम्—उद्यतम्। ईङ गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि। शानच्। त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः—भूयः समभ्येतु—भजतु। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। चमत्कारकारितया, मङ्गलाचरणरूपया च सर्गान्त्यश्लोकेषु 'लक्ष्मी' शब्दप्रयोगः। यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। पूर्णोपमेयम्। मालिनी वृत्तम्। सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः। यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥' इति॥

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इति इत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। भारविकृताविति—कविनामकथनम्। महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता। किरातार्जुनीय इति—काव्यवर्णनीययोः कथनम्। प्रथमः सर्गः। 'समाप्तः' इति शेषः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। तथा ह्यर्जुन एवात्र नायकः। किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यथाह दण्डी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥' इति। अथ संग्रहश्लोकः

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज—
स्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः।

शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः
शैलाद्यनि च वर्णितानि च बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किराता- र्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः ॥१॥

इति महाकविश्रीभारविकृतौ किरातार्जुनीये महाकाव्ये घण्टापथ-भाषा- नुवादसहिते प्रथमः सर्गः ॥

अलंकारदर्पण

१. अनुप्रास

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

साहित्यदर्पण, १०, ३.

स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द के साम्य (सादृश्य) को 'अनुप्रास' कहते हैं ।

उदाहरण

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥

रघुवंश, १,८२

यहाँ 'होतुराहुति', 'अनिन्द्या नन्दिनी', 'आववृते वनात्' में क्रमशः ह त, न द, और व व की समानता से 'अनुप्रास' अलङ्कार है ।

अथवा

आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥

सा० द०, १०,३

[वकुल के गन्ध को लेकर, पद-पद में भ्रमरों को मद से अन्धा करता हुआ, कावेरी नदी के जलकणों से युक्त होने के कारण पवित्र करने वाला यह पवन धीरे-धीरे चला आ रहा है ।]

यहाँ 'गन्धानन्धी' में नकार तथा धकार, 'कावेरीवारि' में वकार तथा रकार 'पावनः पवनः' में पकार तथा वकार की समानता से 'अनुप्रास' अलङ्कार है ।

२. यमक

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

साहित्यदर्पण, १०,८

यदि अर्थवान् हो तो भिन्न अर्थ वाले स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं।

उदाहरण

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥

रघुवंश, १,५९

प्रस्तुत उदाहरण में पुरः पुरः दोनों पद सार्थक हैं परन्तु उनके अर्थ क्रमशः 'नगर' और 'सामने' भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार भिन्नार्थक 'पुरः' इस स्वरव्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होने के कारण 'यमक' अलङ्कार है।

अथवा

नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पंकजम् ।
मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥

सा० द०, १०,८

[जिसमें पलाशों (ढाकों) का वन नवीन पलाशों (पत्तों) से युक्त हो गया है, और कमल बढ़े हुए पराग (फूलों की धूल) से परागत (युक्त) हो गये हैं, एवं लतान्त (लताओं के प्रान्त भाग) जिसमें मृदुल (कोमल) और तान्त (विस्तृत अथवा झुके प्रान्त भाग) हो गये हैं पुष्पों की अधिकता से सुरभि (सुगन्धित) उस सुरभि (वसन्त ऋतु) को श्री कृष्ण ने रैवतक पर्वत पर देखा।]

यहाँ पलाश (पत्ते) पलाश (ढाक), और सुरभि (वसन्त ऋतु) सुरभि (सुगन्धित) दोनों सार्थक परन्तु भिन्नार्थक पदों की उसी क्रम

से आवृत्ति है। 'लतान्त लतान्त' में पहला 'लतान्त' पद निरर्थक है क्योंकि इसका लकार पूर्ववर्ती 'मृदुल' शब्द से मिला हैं। 'पराग पराग' में दूसरा 'पराग' पद निरर्थक है क्योंकि इसमें परवर्ती 'गत' शब्द का गकार मिलाया गया है। अतः यमक अलङ्कार है।

३. श्लेष

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

सा० द०, १०,११.

श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर 'श्लेष' अलङ्कार होता है।

उदाहरण

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥

कि० अ०, १,२४.

प्रस्तुत उदाहरण में 'कथा प्रसङ्ग', 'विक्रम', तथा 'तव' श्लिष्ट पदों से वार्तालाप और विषवैद्य; बल और पक्षी का प्रहार; तेरा, और तार्क्ष्य (गरुड़) तथा वासुकि (सर्प) रूपी अनेक अर्थों का अभिधान होने के कारण 'श्लेष अलङ्कार' है।

अथवा

विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी॥

सा० द० १०,११.

[उस तन्वी के विलासयुक्त, चञ्चल और मनोहारी दोनों खिले हुए नेत्र-रूपी कमल तथा सुशोभित, तरल (मध्य मणि) से युक्त मोतियों के हार वाले उसके दोनों स्तन तुम्हें सदा आनन्द दें।]

यहाँ 'लसत्तरलहारिणी' पद में श्लेष है, क्योंकि इसके दो अर्थ हैं। 'लसत्तरलहारिणी' का नेत्रों से सम्बन्ध होने पर अर्थ होता है है—लसत्=विलास वाले, तरल=चञ्चल, हारिणी=मन को लुभाने वाले और स्तनों के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर अर्थ होता है—लसत्=शोभा देने वाले तरल=बीच की मणि, हारिणी=हार वाले। इस प्रकार 'तरल' आदि शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान होने के कारण यहाँ 'श्लेष अलङ्कार' है।

४. उपमा

'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।'

सा० द०, १०,१४.

एक वाक्य में दो पदार्थों के, वैधर्म्यरहित, वाच्य सादृश्य को 'उपमा' कहते हैं।

उदाहरण

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥

सा० द० १०,१४.

[तुम्हारे मुख की सुगन्ध कमल की सी है। तुम्हारे स्तन कुम्भ के समान पीन हैं। हे बाले, शरद् ऋतु के चन्द्रमा जैसा तुम्हारा मुख हृदय को मत्त करता है।]

यहाँ—मुख की सुगन्ध (उपमेय), कमल की सुगन्ध (उपमान); तथा स्तन (उपमेय), कुम्भ (उपमान); और मुख (उपमेय), शरद् चन्द्र (उपमान)—परस्पर भिन्न पदार्थों की समानता के वाच्य होने से 'उपमा' अलङ्कार है।

अथवा

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥

शाकु० ५,१३.

यहाँ शकुन्तला और किसलय दो पदार्थों की समानता के वाच्य होने के कारण 'उपमा' अलङ्कार है।

५. रूपक

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे

सा० द० १०,२८

निरपह्नव अर्थात्-निषेध रहित विषय (उपमेय) में रूपित (अपह्नवभेद उपमान) के आरोप को 'रूपक अलङ्कार' कहते हैं।

उदाहरण

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥

किरात० १,४६.

प्रस्तुत उदाहरण में आपत्ति पर पयोधि का तथा रिपु उपमेय पर तिमिर उपमान का आरोप होने के कारण 'रूपक अलङ्कार' है।

अथवा

लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ॥

सा० द० १०,३२.

[लावण्यरूप मधु (पुष्परस) से पूर्ण इसका खिला हुआ मुख लोगों के किन नेत्ररूपी भ्रमरों से नहीं पिया जाता ?]

यहाँ विषय (उपमेय)=लावण्य और नेत्र पर, उपमान=मधु और भ्रमर-के आरोप के कारण 'रूपक अलङ्कार' है।

६. सन्देह

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।

सा० द० १०,३५

प्रकृत अर्थात् उपमेय में 'अन्य' अर्थात् उपमान के ·ंशय को 'संदेह-अलङ्कार' कहते हैं।

उदाहरण

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत् फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्त्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥

शाकु० ६,१०.

यहाँ 'शकुन्तला मिलन' उपमेय में, स्वप्न, माया, आदि उपमानों का संशय होने के कारण संदेह अलङ्कार है।

अथवा

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥

सा०द० १०, ३५.

[रस की अधिकता के कारण खिली हुई यौवन रूपी वृक्ष की क्या यह नवीन मञ्जरी है? अथवा वेला (समुद्रतट) तक उछलते हुए लावण्य सागर की यह लहर है? या बढ़ी हुई उमंगों वाले पुरुषों को अपने सिद्धान्तों (कामशस्त्र के व्यवहारों) की शिक्षा देने में तत्पर शृङ्गार के अधिष्ठातृदेव (कामदेव) की यह उपदेश-यष्टि है।]

यहाँ उपमेय=नायिका में, उपमान=नवीन मञ्जरी आदि का संशय होने से अर्थात् किसी सुन्दरी के वर्णन के संशय में ही समाप्त होने से सन्देह अलङ्कार है।

७. उत्प्रेक्षा

भवेत् संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

सा० द० १०,४०.

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में संभावना करने को 'उत्प्रेक्षा अलङ्कार' कहते हैं।

उदाहरण

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहःप्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥

शाकु० ५,२३

यहाँ प्रस्तुत=शकुन्तला की तिरछी भौहों की अप्रस्तुत=कामदेव के धनुष के रूप में संभावना करने से 'उत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

अथवा

ऊरुः कुरङ्गदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव।

सा० द० १०,१४.

(चञ्चल वस्त्राञ्चल से रमणीय, मृग के समान सुन्दर नेत्रों वाली कामिनी का ऊरु ऐसे मालूम होता है मानो कामदेव का, पताका से सजा हुआ, सोने का बना विजय-स्तम्भ हो।)

यहाँ प्रस्तुत=कामिनी के ऊरु की अप्रस्तुत=कामदेव के विजय-स्तम्भ के रूप में सम्भावना की गई है। अतः 'उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।'

८. दृष्टान्त

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।

सा० द० १०,१५.

दो वाक्यों में धर्म सहित 'वस्तु' अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिविम्ब को 'दृष्टान्त अलङ्कार' कहते हैं।

उदाहरण

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥

शाकुन्तल

यहाँ पर दोनों वाक्यों में, इन्द्र और दुष्यन्त रूप उपमेय तथा सूर्य और चन्द्र रूप उपमान के प्रतिविम्बन से 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

अथवा

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥

सा०द० १०,५१.

[अच्छे कवि की उक्ति के गुण चाहे न मालूम हुए हों, तो भी वह केवल सुनने से ही कानों में मधुरस बरसाती है। यह देखा गया है कि दूर होने के कारण मालती की माला की गन्ध चाहे प्रतीत न होती हो तो भी वह दृष्टि को अपनी ओर खींच ही लेती है।]

यहाँ सादृश्यसूचक इवादि शब्दों के प्रयोग के विना भी मालती माला के साथ कवि की सूक्ति का और सुगन्ध के साथ कविता के गुणों का सादृश्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव का प्रतिविम्बन है। अतः यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

९. तुल्ययोगिता

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥

सा०द० १०,४८.

केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम 'तुल्ययोगिता' है।

उदाहरण

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥

शाकु० ३,१७

प्रस्तुत उदाहरण में शकुन्तला और पृथ्वी दोनों प्रकृतों का एक धर्म प्रतिष्ठा के साथ सम्बन्ध होने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है।

अथवा

तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

सा० द० १०,४८

[उस सुन्दरी के अङ्गों की कोमलता देखने वाले, किस (सौन्दर्य-ग्राही) के मन में मालती के पुष्प, चन्द्रमा की कला, और केले के कोमल पत्ते भी कठोर नहीं जँचते ?]

यहाँ मालती चन्द्रमा की कला और केले के कोमल पत्ते इन अप्रस्तुत पदार्थों में कठोरता रूपी एक गुण का सम्बन्ध बताया गया है। अतः यहाँ 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है।

१०. निदर्शना

संभवन्वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥

सा० द० १०,५२

जहाँ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव (अबाधित) अथवा असम्भव (बाधित) होकर उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का बोध करे वहाँ 'निदर्शना' अलङ्कार होता है।

उदाहरण

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

रघु० व० १,२.

प्रस्तुत उदाहरण में, सीमित ज्ञान वाली बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन और छोटी डोंगी से दुस्तर समुद्र को पार करने की इच्छा इन दो वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव अथवा असम्भव होकर उनके बिम्ब-प्रतिबिंब-भाव को बोधित करता है, अतः यहाँ 'निदर्शना' अलङ्कार है।

अथवा

कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।
अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधिविलासम् ॥

सा० द० १०,५२

[इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष का विक्षेप नील कमलों की माला के विलास को धारण करता है और अधरोष्ठ पल्लव की शोभा को एवं मुख चन्द्रमा के विलास को धारण करता है ।]

नील कमलों की माला कटाक्ष में नहीं रह सकती। न ही पल्लव अधरोष्ठ में और चन्द्रमा मुख में। इस प्रकार यहाँ नीलकमलादि तथा कटाक्षादि वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध बाधित होकर उनके बिम्बप्रतिबिम्ब भाव को बोधित करता हुआ, सादृश्य में पर्यवसित होता है। इसीलिए यहाँ 'निदर्शना' अलङ्कार है।

११. अर्थान्तरन्यास

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥

सा० द० १०,६३.

जहाँ (१) विशेष से सामान्य या (२) सामान्य से विशेष अथवा (३) कारण से कार्य या (४) कार्य से कारण साधर्म्य के द्वारा किंवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता हो, उसे 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार कहते हैं। यह उक्त रीति से चार साधर्म्य और चार वैधर्म्य के भेद होने से आठ प्रकार का होता है।

उदाहरण

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः
समुन्नयन्भूतिमनार्यसंमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥

किरात०, १,८.

प्रस्तुत उदाहरण में, 'वह कुटिल दुर्योधन आपको विजित करने की इच्छा से अपने गुणों के द्वारा शुभ्र यश फैला रहा हैं', इस विशेष कथन का 'दुष्ट व्यक्ति की मित्रता की अपेक्षा समृद्धि को बढ़ाती हुई महापुरुषों के साथ की गई शत्रुता भी अच्छी है' इस सामान्य कथन से समर्थन किया गया है, अतः यहाँ सामान्य से विशेष-समर्थन रूप 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है।

अथवा

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
संभूयाम्भोधिमभ्येति महानद्यो नगापगा ॥

सा० द० १०,६३.

(बड़े की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है। बड़ी नदी के साथ मिल कर छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है।)

यहाँ पूर्वार्ध का 'बड़े की सहायता पाकर छोटा आदमी भी कार्य पूरा कर लेता है' यह अर्थ सामान्य है। इसका समर्थन 'बड़ी नदी के साथ मिलकर छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है'—इस उत्तरार्ध

की विशेष घटना के द्वारा साधर्म्य से किया गया है। अतः यहाँ विशेष से सामान्य का समर्थन-रूप 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है।

१२. काव्यलिङ्ग

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥

सा० द० १०,६४.

वाक्यार्थ अथवा पदार्थ जहाँ किसी का हेतु हो, वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलंकार होता है।

उदाहरण

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥

शाकु० १, ११.

प्रस्तुत उदाहरण में 'तुम्हारा शस्त्र आर्तों की रक्षा के लिए है, निरपराधों पर प्रहार करने के लिए नहीं'—यह उत्तरार्ध वाक्य, 'धनुष पर चढ़ाये हुए अपने बाण को उतार लीजिए' इस पूर्वार्ध वाक्य का कारण है, इसलिए यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

अथवा

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गताः
त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥

सा० द० १०,६४.

[हे प्रिये, तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाले नील कमल पानी में डूब गये। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाले चन्द्रमा को बादलों ने ढक लिया और जो तुम्हारी गति के समान गति वाले राज-

हंस थे, वे सब भी (वर्षा के कारण) चले गये। देखो, दैव कितना प्रतिकूल है। तुम्हारे सादृश्य के साथ भी मेरे विनोद को नहीं सहन करता।]

यहाँ पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के हेतु के रूप में उपनिबद्ध हैं, अतः यहाँ वाक्यार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

१३. उल्लेख

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥

सा० द० १०,३७

ग्रहीता अर्थात् ज्ञाताओं के भेद से या विषय अर्थात् हेतु और अवच्छेदक आदि के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से 'उल्लेख' (वर्णन या ज्ञान) करना 'उल्लेख' अलङ्कार कहाता है।

उदाहरण

प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः॥

सा० द० १०,३७.

प्रस्तुत उदाहरण में गोपवधू, वृद्ध आदि ज्ञाताओं के भेद से भगवान् श्रीकृष्ण का अनेक प्रकार से उल्लेख किया है, अतः यहाँ 'उल्लेख' अलङ्कार है।

१४. अतिशयोक्ति

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।
भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः॥

सा० द० १०,४६-४७.

अध्यवसाय के सिद्ध होने पर 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार होता है। (उपमेय का निगरण करके उपमान के साथ उसके अभेदज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं।) (१) वास्तविक भेद होने पर भी अभेद वर्णन करने और

(२) वास्तविक सम्बन्ध रहते हुए भी असम्वन्व का कीर्तन करने, इसी प्रकार इन दोनों का विपर्यय अर्थात् (३) अभेद में भेद और (४) असम्बन्ध में सम्वन्ध का कथन करने एवं (५) कार्य और कारणों के पौर्वापर्य (आगे पीछे) के नियम का व्यत्यय (उल्लंघन) करने से पाँच प्रकार की 'अतिशयोक्ति' होती है।

उदाहरण

कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम्।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात्॥

सा० द० १०,४७.

[देखो, कैसा आश्चर्य है—सवसे ऊपर मयूर का कलाप (पूँछ) है, उसके नीचे अष्टमी का चन्द्रमा विराजमान है। उसके नीचे दो चपल नीले कमल हैं। उसके नीचे तिल का फूल और उसके नीचे सुन्दर विद्रुम (मूँगे) का खण्ड सुशोभित है।]

यहाँ किसी सुन्दरी के केशपाश (उपमेय) का मयूर पिच्छ (उपमान) के रूप में, उसके मस्तक (उपमेय) का अष्टमी के चन्द्रमा (उपमान) के स्वरूप में, नासिका (उपमेय) का तिलपुष्प (उपमान) के स्वरूप में और अधरोष्ठ (उपमेय) का मूँगे (उपमान) के स्वरूप में अध्यवसान हुआ है, अतः 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है।

अथवा

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥

शाकु० १,३४.

प्रस्तुत उदाहरण में शरीर और मन में वास्तविक सम्बन्ध रहते हुए भी शरीर का आगे की ओर जाना और मन का पीछे की ओर दौड़ना कह कर दोनों में असम्बन्ध बताया गया है, अतः यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है।

उदाहरण

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च ताराः नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥
सा०द० १०, ३९.

यहाँ प्रकृत नभोमण्डल (आकाश) आदि के स्वरूप का निषेध द्वारा अपह्नव किया है और फिर उसमें समुद्र आदि उपमान का आरोप किया गया है, अतः 'अपह्नुति' अलङ्कार है।

छन्दोमञ्जरी

१. अनुष्टुप् अथवा श्लोक

आठ अक्षर वाले समवृत्तों में से एक समवृत्त 'अनुष्टुप्' है, इसे श्लोक भी कहते हैं। रामायण, महाभारत तथा कुछ पुराणों में इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है। यह संस्कृत का अत्यन्त प्रचलित छन्द है। इसका लक्षण है :—

अनुष्टुप् के सभी चरणों में छठवाँ अक्षर गुरु तथा पांचवाँ लघु होता है। सातवाँ अक्षर दूसरे तथा चौथे चरण में ह्रस्व होता है और पहले तथा तीसरे में दीर्घ होता है।

उदाहरण

| s s
१. वागर्थाविव संपृक्तौ

| s |
२. वागर्थप्रतिपत्तये ।

| s s
३. जगतः पितरौ वन्दे

| s |
४. पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

रघुवंश, १,१।

---

१. श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

२. आर्या

जिस छन्द की व्यवस्था मात्राओं की गणना से की जाती है, उसे जाति कहते हैं। ऐसे छन्दों में अत्यधिक प्रचलित 'आर्या' है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १२ मात्राए, दूसरे चरण में १८ मात्राएँ, और चौथे चरण में १५ मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण

S । । S S । । S
१. आ परितोषाद् विदुषां —१२ मात्राएँ

। S । S S । S । S SS
२. न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानं। —१८ „

। । । । । S । S S
३. बलवदपि शिक्षितानां —१२ „

S S S S । S S S
४. आत्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ —१५ „

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १,२.

३. उपजाति

उपजाति उस वृत्त को कहते हैं जो इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के एक ही पद्य (Verse) में मिश्रण से बनता है। जिस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो तगण एक जगण, फिर दो गुरु अक्षर होते हैं, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं। उपेन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण तथा दो गुरु होते हैं।

---

२. यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

३. अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिम् ॥

उदाहरण

ज॰ त॰ ज॰ दो गुरु

। s । s s । । s । s s

ज, त, ज, ग, ग   प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा

—११ अक्षर उपेन्द्रवज्रा

। s । s s । । s । s s

" "   निषेवते श्रान्तमना विविक्तम् ।

—११ अक्षर उपेन्द्रवज्रा

s s । s s । । s । s s

त, त, ज, ग, ग   यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः

—११अक्षर इन्द्रवज्रा

s s । s s । । s । s s

" "   शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥

—११ अक्षर इन्द्रवज्रा

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५,५.

४. वंशस्थ

वंशस्थ वृत्त के प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण तथा रगण के क्रम से १२ अक्षर होते हैं। इसको वंशस्थविल और वंशस्तनित भी कहते हैं।

उदाहरण

ज, त, ज, र   ज॰ त॰ ज॰ र॰

। s । s s । । s । s । s

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया

द्विचतु...

तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥

जगण तगण जगण रगण

।ऽ। ऽऽ ।।ऽ।ऽ ।ऽ

तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः
समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥

किरातार्जुनीयम्, १,८.

५. शिखरिणी

शिखरिणी के प्रत्येक चरण में यगण मगण नगण सगण भगण, तदनन्तर एक लघु और एक गुरु के क्रम से १७ अक्षर होते हैं। पहले छः अक्षर के बाद और फिर ग्यारह अक्षर के बाद यति होती है।

उदाहरण

य० म० न० स० भ०

।ऽ ऽऽ ऽ ऽ ।।।।।ऽऽ ।। ल०गु०

य,म,न,स,भ,ल,गु इतः प्रत्यादेशात्, स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत् तत्, सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६,९.

६. शार्दूलविक्रीडित

शार्दूलविक्रीडित के प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, सगण,

---

५. रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ॥

६. सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥

तगण, तगण तदनन्तर एक गुरु इस क्रम से १९ अक्षर होते हैं। बारहवें अक्षर के बाद, पहली यति फिर सातवें अक्षर के बाद दूसरी यति होती है।

उदाहरण

म० स० ज० स० त० त० गु०

S S S | | S | S | | | S S S | S S | S

म,स,ज,स, पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं, युष्मास्वपीतेषु या
त,त,गु नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां, स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये, यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं, सर्वै रनुज्ञायताम्॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४,९.

७. मालिनी

मालिनी के प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण तथा यगण के क्रम से १५ अक्षर होते हैं। आठवें तथा सातवें अक्षर के बाद यति लगती है।

उदाहरण

न० न० म० य० य०

| | | | | | S S S | S S | S S

न,न,म,य,य, स्वसुखनिरभिलाषः, खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते, वृत्तिरेवंविधैव॥
अनुभवति हि मूर्ध्ना, पादपस्तीव्रमुष्णं।
शमयति परितापं, छायया संश्रितानाम्॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५,७.

---

७. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

८. मन्दाक्रान्ता

मन्दाक्रान्ता के प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और गुरु-गुरु के क्रम से १७ अक्षर होते हैं। पहले चार अक्षर के उपरान्त, तदनन्तर छः अक्षर के उपरान्त फिर सात अक्षर के उपरान्त यति होती है।

उदाहरण

म० भ० न० त० त० गु०गु०

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ

म, भ, न, त, त, गु, गु

कुल्याम्भोभिः, पवनचपलैः, शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः, किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १,१५.

९. वसन्ततिलका

वसन्ततिलका के प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु के क्रम से १४ अक्षर होते हैं।

उदाहरण

त० भ० ज०ज० गु०गु०

ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ

त, भ, ज, ज, गु, गु औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।

---

८. मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मं।
९. उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५,६.

१०. द्रुतविलम्बित

द्रुतविलम्बित के प्रत्येक चरण में नगण, भगण भगण और रगण के क्रम से १२ अक्षर होते हैं ।

उदाहरण

न० भ० भ० र०

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

न, भ, भ, र

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २,११.

१०.१. ननमयध्वतमाह नभौ भरौ ।

लघुकौमुद्यां सन्धिप्रकरणम्।

अच्सन्धिः।

(यण्विधायकं सूत्रम्)

*इको[6] यणचि[1][7] । ६ । १ । ७७ ॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते।

इक इति—इक् के स्थान में यण् आदेश हो अच् परे रहने पर संहिता[1] के विषय में।

'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद है। 'षष्ठी स्थाने-योगा' इस परिभाषा के बल पर 'स्थाने' अर्थ किया गया है। 'यण्' यह प्रथमान्त पद है अत एव विधेय है—'असति बाधके प्रथमाया विधेयविभक्तित्वम्' अर्थात् यदि कोई बाधक न हो तो प्रथमा विधेय विभक्ति होती है प्रथमान्त पद विधेय का बोधक होता है—इस सिद्धान्त के आधार पर। 'अचि' यह परसप्तमी है। 'संहितायाम्' का अधिकार आता है। इस प्रकार उक्त अर्थ निकलता है।

उदाहरण के लिये 'सुधी उपास्यः' यह प्रयोग दिया गया है। पर इसमें सन्देह होता है कि यहाँ इक् तीन हैं और तीनों से परे अच् भी है,

---

*सूत्र पर पड़ी अंक संख्याएँ विभक्ति का निर्देश करने के लिए हैं।

१. परन्तु वाक्य में संहिता वक्ता की इच्छा पर निर्भर है।

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

अर्थ यह है कि एक पद में, धातु और उपसर्ग के योग में और समास में संहिता नित्य है। पर वाक्य में विवक्षा की अपेक्षा रखती है, अर्थात् वक्ता की इच्छा पर निर्भर है।

(स्थानिनिमित्तयोरव्यवधाननियामकं परिभाषासूत्रम्)

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १ । १ । ६६॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ।

फिर किसको यण् आदेश किया जाय ? एक इक् है सकार का उत्तरवर्ती उकार, दूसरा है धकारोत्तरवर्ती ईकार और तीसरा है 'उपास्य:' में उकार । प्रथम उकार के आगे अच् है ईकार, ईकार के आगे अच् है उकार और उकार के आगे अच् है पकारोत्तवर्ती आकार । ऐसी दशा में क्या होना चाहिये ? इस निर्णय के लिये आगे परिभाषा दी जाती है ।

तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह कार्य वर्णान्तर से अव्यवहित-व्यवधानरहित (सप्तम्यन्त पद से बोध्य वर्ण से) पूर्व वर्ण के स्थान में होता है ।

इसका तात्पर्य यह है—जिस वर्ण के परे रहते जिस वर्ण को कोई कार्य विधान किया है उन दोनों वर्णों के बीच में कोई दूसरा वर्ण नहीं आना चाहिये । जैसे 'इको यणचि' इस सूत्र से 'अच्' परे रहते 'इक्' को यण् विधान किया गया है, इस लिये इक् और अच् के बीच में कोई दूसरा वर्ण नहीं आना चाहिये ।

'इको यणचि' इस सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद कहा गया है—अच् परे रहते हुए कार्य का विधान किया गया है । अत: इस सप्तमी-विभक्त्यन्त पद 'अचि' से जिसका बोध होगा उसमें अन्य वर्ण के व्यवधान से रहित पूर्व वर्ण को ही यण् कार्य होगा । 'सुधी-।-उपास्य:' इस उदाहरण में सकारोत्तरवर्ती उकार और अच्-धकारोत्तरवर्ती ईकार—के बीच में धकार का व्यवधान है, तथा उपास्य: के उकार और पर अच्—पकारोत्तरवर्ती आकार—के बीच में पकार का व्यवधान है अत: दोनों के स्थान में उक्त नियम के अनुसार कार्य नहीं हो सकता । धकारोत्तरवर्ती ईकार से परे

(स्थानिसदृशस्यादेशत्वनियामकं परिभाषासूत्रम्)

[७]स्थानेऽन्तरतमः[१] । १ । १ । ५० ॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम[१] आदेशः स्यात् । 'सुध्य्+उपास्य' इति जाते ।

जो उपास्यः का अच् है उससे पूर्व ईकार के मध्य में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं, इसलिये धकारोत्तरवर्ती 'ई' को ही यण् हो सकता है।

फिर भी एक सन्देह बना ही रह जाता है कि 'ई' के स्थान में यण् करेंगे तो, परन्तु यण् तो 'य् व् र् ल्' ये चार हैं, इनमें से किसको किया जाय ? इस सन्देह को दूर करने के लिए दूसरी परिभाषा दी जाती है।

स्थान इति—प्रसङ्ग—एक स्थानी[२] के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति-उपस्थित होने पर उनमें जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश[३] हो, वह आदेश हो।

---

१. आदेश शब्द का प्रयोग व्याकरण शास्त्र में विशेष अर्थ में किया गया है, अतः इसके विशेष अर्थ को यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है—जो किसी के स्थान में उसको हटाकर होता है उसे आदेश कहते हैं। जैसे—'सुधी—उपास्यः' में 'ई' को हटाकर यकार होता है। यह आदेश है। 'शत्रुवदादेशः' आदेश शत्रु के समान होता है। वह स्थानी को हटाकर वहाँ अपने आप बैठ जाता है। शत्रु जैसा व्यवहार करता है।

२. स्थानी शब्द भी व्याकरण शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, उसकी परिभाषा यहाँ दी जाती है—जिसके स्थान में आदेश होता है उसे स्थानी कहते हैं। जैसे—'सुधी+उपास्यः' में ईकार के स्थान में यण् आदेश होता है। इसलिये यह स्थानी है।

३. **सादृश्य चार प्रकार का होता है—**१. स्थानकृत, २. अर्थकृत, ३ गुणकृत, ४ प्रमाणकृत। जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य प्राप्त हो वहाँ स्थानकृत सादृश्य ही लेना चाहिए। कहा भी है—यत्रानेकविधमान्तर्यं

(यरो द्वित्वविधायकं सूत्रम्)

अनचि[७] च । ८ । ४ । ४७ ॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ।

(झलां जश्विधायकं सूत्रम्)

झलां[६] जश्[१] झशि[७] । ८ । ४ । ५३ ॥

स्पष्टम् । इति पूर्वधकारस्य दकारः ।

यहाँ पर 'य् व् र् ल्' इन चारों में 'य्' ही 'इ' का अधिक सदृश है। क्योंकि 'ई' का स्थान तालु है और यकार का भी । इसलिए ई के स्थान में 'य्' हो जायगा तब 'सुध्य्+उपास्यः' ऐसा हो गया ।

अनचि चेति—अच् से परे यर् को विकल्प[१] से द्वित्व[२] होता है पर यर् के आगे अच् हो तो नहीं होता ।

इति धकारस्येति—इससे धकार को द्वित्व हो गया ।

'सुध्य्+उपास्य.' इस प्रयोग में अच्-सकारोत्तरवर्त्ती उकार-से परे यर् धकार है, उसके आगे अच् भी नहीं है, यकार है जो व्यञ्जन है । अतः धकार को द्वित्व होकर 'सु ध् ध् य्+उपास्यः' ऐसा रूप हो गया ।

झलामिति—झलों को जश् होता है झश् परे रहने पर ।

स्पष्टमिति—वृत्ति के स्थान में 'स्पष्टम्' है । इसका तात्पर्य यह है कि इस सूत्र का अर्थ सरल है, इसमें कहीं से अनुवृत्ति नहीं लानी पड़ती।

तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' अर्थात् जहां अनेक प्रकार का सादृश्य हो वहाँ स्थानकृत सादृश्य बलवान् माना जाता है। इसलिए इस उदाहरण में स्थानकृत सादृश्य से ही तालु स्थान की समानता होने से—ई के स्थान में यकार आदेश किया गया है ।

१. विकल्प कहते हैं एक पक्ष में कार्य का हो जाना और दूसरे पक्ष में न होना ।

२. द्वित्व—एक को दो करने को कहते हैं ।

(संयुक्ताक्षरान्त्यलोपविधायकं सूत्रम्)

संयोगान्तस्य[६] लोपः[१] । ८ । २ । २३ ॥

संयोगान्तं यत्पदं तदन्त्यस्य लोपः स्यात् ।

'झलाम्' यह षष्ठ्यन्त पद स्थानी का बोधक है। 'जश्' यह प्रथमान्त विधेय का और 'झशि' यह सप्तम्यन्त निमित्त का बोधक है। स्थानी, विधेय (आदेश), और निमित्त इन तीनों ही की आवश्यकता विधिसूत्र में होती है और यहाँ ये तीनों हैं ही। इसलिये अर्थ स्पष्ट है।

इति पूर्वधकारस्येति—इससे पहले धकार को दकार हो गया।

'सु ध् ध् य्+उपास्यः' यहाँ पर झल् है पहला धकार, उसके परे झश् है दूसरा धकार। इसलिये प्रथम धकार को दन्तस्थान की समानता के कारण जशों में से दकार होगा। दूसरा धकार भी झल् है पर उससे परे झश् नहीं है। 'य्' झश् प्रत्याहार में नहीं आता है। तब पूर्व धकार के स्थान में दकार किये जाने पर 'सु द् ध् य् उपास्यः' ऐसा रूप बना।

संयोगेति—संयोग जिस पद के अन्त में हो उसके अन्त्य अक्षर का लोप हो।

'पदस्य' इस अधिकार सूत्र का इस सूत्र में सम्बन्ध होता है। यह विशेष्य है और 'संयोगान्तस्य' यह विशेषण। इस सूत्र का अर्थ इतना ही है कि 'संयोगान्त पद का लोप हो।' इतना अर्थ होने से सम्पूर्ण पद का लोप प्राप्त है। 'अन्त्य का लोप होता है', यह अर्थ अग्रिम परिभाषा के बल से होता है।

इस प्रकार 'सु द् ध् य् उपास्यः' इस प्रयोग में यकार का लोप प्राप्त होता है।

(षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यालस्थानिकत्वनियामकं परिभाषासूत्रम्)

अलोऽन्त्यस्य । १ । १ । ५२ ॥

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यादेशः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते--

(संयोगान्तलोपापवादवार्तिकम्)

(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः ।

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः । मद्ध्वरिः, मध्वरिः । धात्त्रंशः, धात्रंशः । लाक्तृतिः ।

अलोऽन्त्येति—षष्ठ्यन्त का उच्चारण कर जहाँ आदेश का विधान किया हो, वहाँ षष्ठ्यन्त के द्वारा उदाहरण में जिसका बोध होता है, उसके अन्तिम वर्ण को आदेश हो ।

पूर्वोक्त अनियम को दूर करने के लिए 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा है। उसका अर्थ है—'षष्ठ्यन्त का उच्चारण कर जहाँ आदेश विधान किया जाता है वहाँ उस षष्ठ्यन्त पद के द्वारा उदाहरण में जिसका बोध होता है, उसके अन्तिम वर्ण को वह आदेश हो । इस परिभाषा के आधार पर ही 'संयोन्त पद के अन्त का लोप होता है' यह अर्थ पूर्व सूत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' का किया गया ।

इति यलोपे इति—इससे यकार का लोप प्राप्त होने पर—

अर्थात् यकार का लोप्त प्राप्त तो हुआ, पर अग्रिम वार्तिक [1]'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' ने उसका निषेध कर दिया ।

---

१ वार्तिक का लक्षण है—

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः ॥' इति ॥

उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त अर्थात् त्रुटिपूर्ण कथन पर जहाँ विचार किया जाता है, उसे वार्तिक कहते हैं ।

(वा) यण इति—संयोगान्त पद के अन्तिम वर्ण यण् का लोप नहीं होता।

'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र पर यह वार्तिक है। इससे यकार का लोप न होगा।

सुद्धयुपास्यः, सुध्युपास्यः—ये सब उदाहरण हैं। इनमें 'सुद्ध्युपास्यः' की सिद्धि का प्रकार बतला दिया गया है। यकार के लोप के निषेध होने पर 'अज्झीनं व्यञ्जनं परेण संयोज्यम्' के अनुसार 'द् ध् य्' को मिला देने पर उक्त रूप की सिद्धि हुई। जिस पक्ष में 'अनचि च' से द्वित्व नहीं हुआ उसमें 'ध् य्' को उकार में मिलाने से 'सुध्युपास्यः' सिद्ध हुआ है।

मद्ध्वरिः, मध्वरिः—'मधु+अरिः' यह सन्धिच्छेद है। इस अवस्था में उकार को वकार यण् हुआ। धकार को विकल्प से द्वित्व और पूर्व धकार को जश् दकार। पुनः संयोगान्तपद होने से अन्त्य वकार का लोप प्राप्त हुआ और पूर्वोक्त 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इस वार्तिक से उसका निषेध होने पर 'मद्ध्वरिः' ऐसा रूप सिद्ध हुआ। द्वित्त्व के अभावपक्ष में 'मध्वरिः'।

धात्त्रंश,: धात्रंशः—'धातृ+अंशः' इश दशा में तकारोत्तरवर्ती ऋकार इक् के स्थान में यण् रेफ हुआ। यर् तकार को विकल्प से द्वित्व होने पर अन्त्य रेफ का संयोगान्त लोप प्राप्त हुआ। पर उसका निषेध 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से हुआ, तब धात्त्रंशः' ऐसा प्रयोग सिद्ध हुआ। द्वित्व के अभाव पक्ष में 'धात्रंशः' ऐसा रूप सिद्ध हुआ।

लाकृतिः—लृ+आकृतिः' इस दशा में इक् लृकार-को यण्-लकार-होने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

'सुद्धयुपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगों की सिद्धि का प्रकार समान है। 'धात्त्रंशः' में जश् की 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश् दोनों-की प्रवृत्ति नहीं होती।

प्रयोगों का अर्थ—सुद्ध्युपास्यः—सुधीभिः विद्वद्भिः, उपास्यः सेव-

(अय्आद्यादेशविधायकं सूत्रम्)

एचोऽयवायावः[१] । ६ । १ । ७८ ॥

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि ।

(समसंख्याकस्थान्यादेशानां उक्तक्रमेणैव स्थान्यादेशभावनियामकं सूत्रम)

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १ । ३ । १० ॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् ।

हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ।

नीयः' विद्वानों के द्वारा उपासनीय, अर्थात् भगवान् । **मद्ध्वरिः**—'मधोः एतन्नामकस्य राक्षसस्य, अरि–शत्रुः मधुनामक राक्षस के शत्रु, भगवान् विष्णु । **धात्रंशः**—'धातुः ब्रह्मणः, अंशः' ब्रह्मा का भाग । **लाकृतिः**—लृकारस्य, आकृतिः स्वरूपम्' अथवा लृ के आकार के समान जिसका आकार है वह, कृष्ण भगवान् । बांसुरी बजाने के समय उनकी आकृति 'लृ' के जैसी होती है ।

अन्य उदारहण—यदि+अपि=**यद्यपि**=यद्यपि । दधि+आनय=**दध्यानय**=दही लाओ । वारि+अस्ति=**वार्यस्ति**=जल है । प्रति+एकम्=**प्रत्येकम्**=हर एक । गौरी+आयाति=**गौर्यायाति**=गौरी आती है । शशी+उदियाय=**शश्युदियाय**=चन्द्रमा निकला । अभि+उदयः=**अभ्युदयः**=उन्नति । वस्तु+अस्ति=वस्त्वस्ति=वस्तु है । वधू+अलंकारः=**वध्वलंकारः**=वधू (वहू) का गहना । पितृ+अनुमतिः=**पित्रनुमतिः**=पिता की स्वीकृति । मातृ+आज्ञा=**मात्राज्ञा**=माता की आज्ञा । भ्रातृ+उक्तम्=**भ्रात्रुक्तम्**=भाई का कहा हुआ ।

एच इति—एच्–ए ओ ऐ औ–के स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों, अच् के परे रहने पर ।

यथासंख्येति—समसम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है अर्थात् यदि उद्देश्य तथा प्रतिनिर्देश्य—स्थानी और आदेश–की संख्या समान हो

तो वहाँ पर आदेश क्रम से,—प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय इस प्रकार से होते हैं।

'एचोऽयवायावः' सूत्र में स्थानीय 'ए ओ ऐ औ' ये चार हैं और उनके स्थान में अय्, अव्, आय्, आव् ये चार आदेश कहे हैं। ये यथा-संख्य-क्रम से-होंगे अर्थात् ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, औ को आव् होगा।

हरये—(हरि के लिये)—'हरे+ए' इस दशा में रेफोत्तरवर्ती एकार के स्थान में एकार अच् पर रहने से 'अय्' आदेश होकर 'हरये' रूप सिद्ध हुआ।

विष्णवे (विष्णु के लिये)—विष्णो+ए' इस दशा में णकारोत्तरवर्ती 'ओ'कार के स्थान में एकार अच् के पर होने से 'अव्' आदेश हुआ। 'विष्णवे' रूप सिद्ध हुआ।

नायकः (नेता, ले जानेवाला, लीडर)—नै+अकः' इस दशा में नकारोत्तरवर्ती ऐकार के स्थान में अकार अच् के परे रहते 'आय्' आदेश होने से 'नायकः' रूप सिद्ध हुआ।

पावकः (पवित्र करने वाला, अग्नि) पौ+अकः' इस स्थिति में पकारोत्तरवर्त्ती 'औकार' के स्थान में अच् अकार के परे रहते 'आव्' आदेश होकर 'पावकः' रूप सिद्ध हुआ।

अन्य उदाहरण—शे+अनम्=**शयनम्**=सोना, सोने का स्थान पलंग आदि। ने+अनम्=**नयनम्**=ले जाना, आँख। चे+अनम्=**चयनम्**=संग्रह करना। शे+आनः=**शयानः**=सोता हुआ। शे+इतः=**शयितः**=सोया हुआ। गै+अकः=**गायकः**=गाने वाला। पो+अनः=**पवनः**=हवा। भो+अनम्=**भवनम्**=मकान। लो+अनः=**लवणः**=नमक। पो+इत्रम्=**पवित्रम्**=पवित्र। भौ+अकः=**भावुक**=सहृदय।

(यादिप्रत्ययेऽवाऽऽवादेशविधायकं सूत्रम्)

वान्तो यि प्रत्यये । ६ । १ । ७९ ॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् ।

वान्तोयीति—यकारादि[1] प्रत्यय परे रहते ओ और औ के स्थान में क्रम से अव् और आव् आदेश हों।

गव्यम्—(गो का विकार अर्थात् दूध, दही, घी आदि)। 'गो[2]–यम्' ऐसी स्थिति में यकारादि प्रत्यय 'य' के परे रहते गकारोत्तरवर्ती 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर 'गव्यम्' रूप सिद्ध हुआ।

नाव्यम्—(नौका से तरने योग्य जल) 'नौ[3]+यम्' ऐसी दशा में यकारादि प्रत्यय 'य' के परे रहते हुए नकारोत्तरवर्ती 'औ' के स्थान में 'आव्' आदेश होकर 'नाव्यम्' रूप सिद्ध हुआ। जैसे-अस्यां नद्यां नाव्यं जलं वर्तते=नदी में नाव चलने के योग्य जल है।

(वा) अध्वेति—मार्ग के परिमाण अर्थ में भी 'गो' शब्द के आगे 'यूति' शब्द रहे तो 'ओकार' के स्थान में 'अव्' आदेश हो।

---

१ **'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे**—अल् एक वर्ण के ग्रहण के स्थल में जिसको निमित्त मानकर कार्य का विधान किया गया है, उस निमित्त से तदादि का ग्रहण करना चाहिये। इस परिभाषा के बल से 'यि' इस अल् के ग्रहण में तदादि अर्थात् यकारादि अर्थ लिया गया।

२ गो शब्द से विकार अर्थ में 'गोपयसोर्यत्' इस सूत्र से 'यत्' प्रत्यय। 'त्' कार का लोप, तद्धितान्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होकर स्वादि की उत्पत्ति, सु प्रत्यय होकर नपुंसक होने से अम् आदेश हुआ।

३ नौ शब्द से तार्य-तरने योग्य-अर्थ में 'नौवयोधर्मविष–' इत्यादि सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ। शेष कार्य 'गव्यम्' के समान ही होगा।

(अवादेशविधायकं वार्तिकम्)

(वा०) अध्वपरिमाणे च। गव्यूतिः[1]।

(गुणसंज्ञासूत्रम्)

अदेङ्गुणः[1] १। १। २॥

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

(तपरवर्णानां यथोक्तग्राहकत्वनियामकं सूत्रम्)

तपरस्तत्कालस्य[2]। १। १। ७०॥

तः परो यस्मात्स च, तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

गव्यूति—दो कोस[3]। 'गो+यूतिः' इस स्थिति में गो शब्द से यूति शब्द परे रहने के कारण ओकार को 'अव्' आदेश होकर 'गव्यूतिः' रूप सिद्ध हुआ।

अदेङिति—अत्—ह्रस्व अकार—और एङ्—ए ओ—गुण संज्ञावाले हों अर्थात् इनकी गुण संज्ञा होती है।

तपर इति—जिस 'स्वर' से परे तकार हो तथा जो 'स्वर' तकार से परे हो ऐसा उच्चारण किया गया स्वर अपने समकाल की ही संज्ञा का बोधक हो।

तात्पर्य यह है कि यदि ह्रस्व अकार के पूर्व या पश्चात् तकार पड़ा गया हो तो वह ह्रस्व के छः भेदों का ही बोध करायेगा, दीर्घादि का नहीं। 'अणुदित्सवर्णस्य' सूत्र के द्वारा अण् सवर्ण का बोधक कहा गया है। उसका यह अपवाद अर्थात् विशेष नियम है। जैसे—'अदेङ् गुणः' इस सूत्र में अकार के आगे तकार है। इसलिये अकार ह्रस्व का बोध करायेगा, दीर्घादियों का नहीं। इसलिये ह्रस्व अकार की ही गुण संज्ञा होती है दीर्घ आदि की नहीं।

सूत्र के 'तपर' पद के द्वारा दोनों अर्थ 'तात्परः' 'तः परो यस्मात्' इस

---

१ गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः। अर्थात् 'गव्यूति' शब्द का प्रयोग दो कोस परिमाण अर्थ में होता है और यह पद स्त्रीलिंग है।

(गुणविधायकं सूत्रम्)

आद्[५] गुणः[१] । ६ । १ । ८७ ॥

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् । उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ।

प्रकार से निकलते हैं। तकार से परे का उदाहरण भी 'अदेङ् गुणः' में 'एङ्' पद है। 'एङ्' तकार से परे है इसलिये 'ए' और 'ओ' भी समकाल के बोधक हैं अर्थात् दीर्घ (द्विमात्र) एकार और दीर्घ ओकार की ही गुण संज्ञा होगी, त्रिमात्र-चतुर्मात्र की नहीं। अतः 'गङ्गा+उदकम्' में आकार और उकार-पूर्व पर-के स्थान में गुण 'ओ'कार होता है। पूर्व आकार के द्विमात्र और उत्तर उकार के एक मात्र होने से दोनों के स्थान में प्रमाणकृत सादृश्य के कारण त्रिमात्र नहीं होता। क्योंकि गुण संज्ञा तो द्विमात्र की ही होती है।

आद् गुण इति—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान में एक गुण आदेश हो।

उपेन्द्रः (इन्द्र के समीप अर्थात् विष्णु)—'उप+इन्द्रः' इस दशा में पकार के आगे वर्तमान अकार, अवर्ण के आगे के इन्द्र के इकार अच् होने से पूर्व और पर दोनों–अकार और इकार—के स्थान में गुण एक आदेश प्राप्त है। 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा की सहायता से कण्ठ स्थानीय 'अकार' और तालुस्थानीय 'इकार' के स्थान में अत्यन्त सदृश होने से स्थान की समानता होने से कण्ठतालुस्थानीय गुण 'ए' आदेश होकर 'उपेन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ।

गङ्गोदकम्—(गङ्गाजल) 'गङ्गा+उदकम्' इस दशा में गकारोत्तरवर्ती आकार अवर्ण है और उसके आगे अच् है 'उदकम्' का उकार। अतः दोनों के स्थान में अत्यन्त सदृश होने के कारण स्थानसाम्य से कण्ठौष्ठस्थानीय 'ओ' गुण एकादेश होने से 'गङ्गोदकम्' रूप सिद्ध हुआ।

(अचामित्संज्ञाविधायकं सूत्रम्)

उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १ । ३ । २ ॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्संज्ञः स्यात् ।

प्रतिज्ञानुनासिक्याः[1] पाणिनीयाः ।

('र' प्रत्याहारस्य सिद्धिप्रकार-स्वरूपयोश्च निरूपणम्)

लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा ।

अन्य उदाहरण—नर+इन्द्रः=**नरेन्द्रः**=राजा । दिन+ईशः=**दिनेशः**=सूर्य । सुर+ईशः=**सुरेशः**=इन्द्र । महा+इन्द्रः=**महेन्द्रः**=इन्द्र । राज+इन्द्र=**राजेन्द्र**=बड़ा राजा । सूर्य+उदयः=**सूर्योदयः**=सूर्य का निकलना । भाग्य+उदयः=**भाग्योदयः**=भाग्य की वृद्धि । आत्म+उन्नतिः=आत्मोन्नतिः=अपनी उन्नति । विद्या+उन्नतिः=**विद्योन्नतिः**=विद्या की उन्नति ।

उपदेश इति–जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उसकी इत्संज्ञा होती है ।

प्रतिज्ञेति—पाणिनि के कहे हुए वर्णों का अनुनासिक होना केवल प्रतिज्ञा से मालूम होता है ।

लण् इति—'लण्' सूत्र में वर्तमान 'लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः' इस पूर्वोक्त वचन से इत्संज्ञक अवर्ण के साथ उच्चार्यमाण रेफ अर्थात् र प्रत्याहार रकार और लकार की संज्ञा का बोधक होता है ।

अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा कही गई है । उसमें प्रश्न उठता है कि वह वर्ण अनुनासिक है—इसका ज्ञान कैसे हो ? इसके उत्तर में कहा है कि प्रतिज्ञा से अनुनासिक होने का ज्ञान होगा । प्रतिज्ञा का अर्थ

---

१ प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा, अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यं प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः । पाणिनिना प्रोक्तम् अधीयते विदन्ति वा पाणिनीयाः ।

(ऋलृस्थाने विधीयमानस्याणो रपरलपरत्वविधायकं परिभाषासूत्रम् ।)

उः[6] अण्[1] रपरः[1] । १ । १ । ५१ ॥

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम् । तत्स्थाने योऽण्, स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः ।

है—'यह ऐसा है' इस प्रकार का कथन । सूत्रकार ने अनुनासिक पाठ किया होगा । पर अब वह लुप्त है । संभव है पीछे अनुनासिक ज्ञान होता है । जैसे प्रथमा विभक्ति के एक वचन 'सु' के 'उ' का लोप होकर 'स्' को रुत्व और विसर्ग देखने से होता है, और सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' का उकार अनुनासिक नहीं, क्योंकि 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र में उसका प्रयोग मिलता है ।

र प्रत्याहार—'हयवरट्' सूत्र से अकार रहित शुद्ध 'र्' को लेकर और 'लण्' सूत्र के अकार को—जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है कि लण् सूत्र का लकरोत्तरवर्ती अकार इत्संज्ञक है—लेकर र-प्रत्याहार है । अतः 'र' रेफ और लकार दोनों का बोधक है ।

उरण् इति—'ऋ' तीस का बोधक है यह पहले कहा गया है। उस ऋ के स्थान में जो अण् आदेश हो वह रपर ही प्रवृत्त हो । जैसे यदि 'ऋ' के स्थान में 'अ' हो तो वह रपर होकर 'अर्' इस रूप में आदेश हो । इसी प्रकार 'इ' हो तो 'इर्' और 'उ' हो तो 'उर्' आदेश होंगे ।

'र' से यहाँ 'र' प्रत्याहार समझना चाहिए ताकि रपर से लपर भी लिया भी जा सके । जहाँ 'ऌ' के स्थान में अण् आदेश होगा, वहाँ लपर होगा अर्थात् यदि ऌ के स्थान में 'अ' आदेश प्राप्त होगा तो वह लपर याने 'अल्' होगा ।

कृष्णर्द्धिः (कृष्ण की समृद्धि)—कृष्ण+ऋद्धिः' ऐसी स्थिति में णकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से परे ऋद्धि का ऋ अच् है। दोनों के

(पदान्तयकारवकारयोर्लोपविधायकं सूत्रम्)

लोपः[1] शाकल्यस्य[6] । ८ । ३ । १९ ॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।

स्थान में 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त हुआ । 'उरण् रपरः' की सहायता से अत्यन्त सदृश होने के कारण 'अर्' आदेश होकर 'कृष्णर्द्धिः' रूप सिद्ध हुआ ।

तवल्कारः (तेरा लृकार)—इसी प्रकार 'तवल्कारः' की भी सिद्धि होती है । 'तव+लृकार' यह सन्धिच्छेद है । अ और लृ के स्थान में 'अल्' आदेश होने से 'तवल्कारः' सिद्ध होता है ।

अन्य उदाहरण—द्रव्य+ऋद्धिः=**द्रव्यर्द्धिः**=धनादि की वृद्धि । सप्त+ऋषयः= **सप्तर्षयः**=सप्तर्षि, अङ्गिरा आदि सात ऋषि । ग्रीष्म+ऋतुः= **ग्रीष्मर्तुः**=गर्मी का मौसम । महा+ऋषिः=**महर्षिः**=बड़ा ऋषि । मम+लृकारः=**ममल्कारः**=मेरा लृकार ।

लोप इति—अवर्ण (अकार और आकार) पूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप हो अश् परे रहने पर, विकल्प से ।

हर इह, विष्ण इह—'हरे+इह' 'विष्णो+इह' यहाँ पर 'एचोऽयवायावः' सूत्र से 'अय्' और 'अव्' आदेश क्रम से होने से 'हरय्+इह' 'विष्णव्+इह ऐसी स्थिति में पदान्त यकार और वकार का इकार अश् परे होने से विकल्प से लोप हो गया । लोपपक्ष में 'हर 'इह' **'विष्ण इह'** ये रूप सिद्ध हुए । और जब लोप न हुआ तो 'हरयिह' **'विष्णविह'** ।

अन्य उदाहरण—ते+आगताः त आगताः, **तयागताः**=वे आये । ये+इह=**य इह, ययिह**=जो यहाँ । वने+ऋषयः=**वन ऋषयः**, वन-

---

१ लोपपक्ष का प्रयोग अधिक होता है । लोप के अभाव पक्ष का ही प्रयोग कम होता है ।

(पूर्वशास्त्रं प्रति परशास्त्रस्यासिद्धत्वविधायकम् अविकारसूत्रम्)

पूर्वत्राऽसिद्धम्[१] । ८ । २ । १ ।

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इह, हरयिह । विष्ण इह, विष्णविह ।

वृषयः=वन में ऋषि । श्रियै+उद्यतः—**श्रिया उद्यतः, श्रियायुद्यतः**—लक्ष्मी के लिए उद्यत । तस्मै+अदात्—**तस्मा अदात, तस्मायदात्**—उसको दिया । विधौ+उदिते—**विधा उदिते विधावुदिते**[१]—चन्द्र के उदित होने पर ।

पूर्वत्र इति—सवा सात अध्याय के प्रति त्रिपादी असिद्ध है और त्रिपदी में भी पूर्व के प्रति परशास्त्र[२] असिद्ध है ।

पाणिनि मुनिने 'अष्टाध्यायी' वनाई है । उस में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं । पहले सात अध्याय और आठवें अध्याय का एक पाद 'सपादसप्ताध्यायी' कहा जाता है, तथा आठवें अध्याय के शेष तीन पाद अर्थात् दूसरा, तीसरा और चौथा पाद त्रिपादी कहा जाता है । यह सूत्र आठवें अध्याय के दूसरे पाद का पहला सूत्र है । यह बोध कराता है कि पूर्व के प्रति पर असिद्ध हो अर्थात् इसके पूर्व सवा सात अध्याय के प्रति पर-शेष त्रिपादी-असिद्ध हों ।

यह अधिकार सूत्र है । अधिकार सूत्र होने से अपने आगे के प्रत्येक सूत्र में जाकर बोध कराता है कि तुम अपने से पूर्व के प्रति असिद्ध हो । असिद्ध का मतलव है—न सिद्ध हुआ, अर्थात् न हुआ । तात्पर्य यह है कि असिद्ध न होने के समान होता है ।

उदाहरण—'हर+इह' 'विष्ण+इह' यहाँ 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार और वकार का लोप होने पर रेफोत्तरवर्ती अकार से और णकारोत्तरवर्ती

---

१ यहाँ लोप के अभाव पक्ष का ही अधिकतर प्रयोग होता है ।

२ प्रत्येक सूत्र को शास्त्र कहा जाता है ।

(वृद्धिसंज्ञासूत्रम्)

वृद्धिरादैच्[1] १ । १ । १ ॥

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ।

अकार से 'इह' का इकार अच् परे होने से पूर्व पर के स्थान में आद्गुणः' से गुण एकादेश प्राप्त होता है। परन्तु 'आद्गुणः' है छठे अध्याय के पहले पाद का सत्तासीवां सूत्र, इसलिये यह हुआ सपादसप्ताध्यायी का और 'लोपः शाकल्यस्य' आठवें अध्याय के तीसरे पाद का उन्नीसवां सूत्र होने से त्रिपादी का है। अतः 'आद्गुणः' के प्रति 'लोपः शाकल्यस्य' असिद्ध है अर्थात् 'लोपः शाकल्यस्य' का किया हुआ यकार और वकार का लोप 'आद्गुणः' के प्रति अर्थात् उसकी दृष्टि में न होने के समान है। 'आद्गुणः' की दृष्टि में यकार वकार का लोप हुआ ही नहीं। अतः यकार वकार के व्यवधान होने से 'आद्गुणः' की प्रवृत्ति नहीं होती, गुण नहीं होता।

वृद्धिरिति—आकार और ऐच्–ऐ औ–की वृद्धि संज्ञा हो।

यद्यपि उद्देश्य होने से 'आदैच्' का प्रयोग पहले और विधेय होने से 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग 'आदैच्' के बाद में होना चाहिए था। जैसे कहा भी है—अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' अर्थात् बिना अनुवाद्य–उद्देश्य के कहे विधेय न कहना चाहिये। तथापि 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग मङ्गलार्थ आदि में किया गया है। यह सूत्र अष्टाध्यायी का पहला सूत्र है। अतः मङ्गल के लिये ऐसा करना पड़ा है। अतएव यह दोष क्षन्तव्य है। भाष्यकार ने कहा भी है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, आयुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च सिद्धार्थाः स्युः' अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण किया होता है उनका लोक में बहुत प्रचार और आदर होता है, उसके बनाने वाले पुरुष दीर्घजीवी होते हैं, तथा पढ़ने वाले का प्रयत्न सफल होता है।

(वृद्धिविधायकं सामान्यं सूत्रम्)

वृद्धिरेचि ६ । १ । ८८ ॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

ध्यान रहे ऋकार तथा ऌकार के स्थान पर जब आकार वृद्धि आदेश होगा, तब वह 'उरण् रपरः' के बल से रपर तथा लपर आर् और आल् के रूप में ही होगा। जैसे—प्र+ऋच्छति=**प्रार्च्छति**, प्र+ऌकारीयति—**प्राल्कारीयति** इत्यादि प्रयोगों में।

वृद्धिरिति—अवर्ण से एच् परे हो तो पूर्व परके स्थान में वृद्धि एकादेश हो।

गुणेति—यह गुण का अपवाद है[1]।

कृष्णैकत्वम् (कृष्ण की एकता)—कृष्ण+एकत्वम्' इस स्थिति में णकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से परे 'एकत्वम्' का आदि एकार एच् परे होने से पूर्व पर अकार एकार के स्थान में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ। आन्तरतम्य (अत्यन्त सदृशता) से अकार एकार के स्थान में 'ऐ' वृद्धि हुई।

इस प्रकार 'कृष्णैकत्वम्' सिद्ध हुआ।

गङ्गौघः (गङ्गा का प्रवाह[2])—'गङ्गा+ओघः' यहाँ गङ्गा शब्द के अन्तिम आकार अवर्ण से परे ओकार एच् परे होने से दोनों के स्थान में

---

१ 'निरवकाशो विधिरपवादः' जिस विधि को कहीं अवकाश न हो उसे अपवाद कहते हैं। 'वृद्धिरेचि' जहाँ प्राप्त होता है वहाँ 'आद्गुणः' अवश्य प्राप्त है। इसलिये 'वृद्धिरेचि' अपवाद है। अपवाद विधि वलवान् होती है। इसलिये 'वृद्धिरेचि' जहाँ प्राप्त होगा, वहाँ 'आद्गुणः, नहीं लगेगा।

२ 'ओघो वृन्दे पयोवेगे द्रुतनृत्योपदेशयोः' इति विश्वः।

एत्येधत्यूठ्सु ६ । १ । ८९ ॥

अवर्णाद् एजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम्-उपेतः, मा भवान् प्रेदिधत् ।

अत्यन्त सदृश होने (आन्तरतम्य) से 'औ' वृद्धि एकादेश हुआ । इस प्रकार 'गङ्गौघः' रूप सिद्ध हुआ ।

देवैश्वर्यम्—(देवताओं का ऐश्वर्य)—'देव+ऐश्वर्यम्' यहाँ वकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से ऐकार ऐच् परे होने से दोनों के स्थान में आन्तरतम्य (अत्यन्त सदृश) होने से 'ऐ' वृद्धि एकादेश होकर 'देवैश्वर्यम्' रूप सिद्ध हुआ ।

कृष्णौत्कण्ठ्यम् (कृष्ण के प्रति उत्कण्ठा)—कृष्ण+औत्कण्ठ्यम् यहाँ णकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से औकार एच् परे होने से दोनों–पूर्व और पर के स्थान में 'वृद्धिरेचि' सूत्र से आन्तरतम्य (अत्यन्त सदृशता) के कारण 'औ' वृद्धि एकादेश होकर 'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' रूप सिद्ध हुआ।

अन्य उदाहरण—पञ्च+एते **पञ्चैते**=ये पाँच । जन+एकता **जनैकता**=लोगों की एकता । स्थूल+एणः=**स्थूलैणः**=मोटा हरिण । महा+एनः=**महैनः**=बड़ा पाप । दीर्घ+एरण्डः=**दीर्घैरण्डः**=ऊँचा एरण्ड (अंडी) वृक्ष । मा=एवम्=**मैवम्**=ऐसा नहीं । दर्शन+औत्सुक्यम्=**दर्शनौत्सुक्यम्**=दर्शन के लिए उत्सुकता । अस्य+औचिती=**अस्यौचिती**=इसकी उचितता । सुखस्य+औपयिकम्=**सुखौपयिकम्**=सुख का उपाय । तस्य+औदार्यम् **तस्यौदार्यम्**=उसकी उदारता ।

एत्येधत्यूठिति—अवर्ण से एजादि इण् और एध् धातु तथा ऊठ् पर हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो ।

पररूपेति—यह विधि 'एङि पररूपम्' से होने वाले पररूप तथा 'आद्गुणः' से प्राप्त गुण का अपवाद-बाधक है । 'उप+एति' और

'उप।-एधते' में आगे आने वाले सूत्र 'एङि पररूपम्' से पररूप प्राप्त था और 'प्रष्ठ+ऊहः' में आद्गुणः' से गुण।

उपैति (पास आता है)—'उप+एति' यहाँ पकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से 'एति' यह 'इण्' धातु पर है और यह एजादि भी है क्योंकि इसके आदि में 'ए' एच् है। इसलिए पूर्व पर के स्थान में ऐकार वृद्धि होकर 'उपैति' रूप सिद्ध हुआ।

उपैधते (पास बढ़ता है)—'उप+एधते' यहाँ भी पकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से परे 'एधते' यह 'एध्' धातु है और एकार आदि में होने से एजादि भी है। इस लिए पूर्व पर के स्थान में ऐकार वृद्धि होकर 'उपैधते' रूप सिद्ध हुआ।

¹प्रष्ठौहः—प्रष्ठ+ऊहः यहाँ ठकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से 'ऊहः' में ऊठ् परे है। 'वाह्' को 'वाह ऊठ्' सूत्र से 'ऊठ्' आदेश होने से 'ऊहः' बना है। इसलिए पूर्व पर के स्थान में औकार वृद्धि एकादेश होकर 'प्रष्ठौहः' रूप बना।

एजाद्योरिति—इण् और एध् धातु एजादि होने चाहिये ऐसा क्यों कहा? अर्थात् एजादि विशेषण देने का क्या प्रयोजन है?

इस प्रश्न के उत्तर में 'उपेतः' और मा भवान् 'प्रेदिधत्' ये दो उदाहरण हैं। इन दोनों उदाहरणों में 'एत्येधत्यूठ्सु' की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, क्योंकि इनमें इण् और 'एध्' धातु एजादि नहीं।

सूत्र के प्रत्येक पद का प्रयोजन बताने को पदकृत्य कहते हैं।

---

१ जिस बछड़े के गले में भारी सी लकड़ी उसे सीधा करने के लिए बांध दी जाती है उसे 'प्रष्ठवाट्' कहते हैं। तस्य प्रष्ठौहः प्रष्ठवाट् का। 'प्रष्ठवाट् युगपार्श्वगः' इत्यमरः। 'प्रष्ठवाडिति रेफरहितमिति स्वामी। युगपार्श्वगः दमनार्थं द्वैयुग्मेन सह स्कन्धे बद्धकाष्ठस्य' इति तट्टीकायाममरविवेकाख्यायां महेश्वरः।

(अक्षशब्दाद् ऊहिनीशब्दे परे वृद्धिविधायकं वार्तिकम्)

(व) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् । अक्षौहिणी[1] सेना ।

जिन प्रयोगों में सूत्र की प्रवृत्ति होती है, उन्हें सूत्र के उदाहरण कहा [ज]ाता है।

और जिन प्रयोगों को सूत्र के पदों का प्रयोजन अर्थात् पदकृत्य [ब]ताने के लिए 'किम्' शब्द से प्रश्न करके उत्तर के रूप में कहा जाता है उन्हें प्रत्युदाहरण कहते हैं।

उपेतः—(समीप पहुँचा, युक्त) 'उप+इतः' यहाँ 'इतः' यह इण् [धा]तु का रूप तो है पर इसके आदि में 'एच्' नहीं। इसलिए इस सूत्र [की] प्रवृत्ति नहीं हुई। तब यहाँ भी 'आद्गुणः' से गुण होकर 'उपेतः' [ब]ना।

मा भवान् प्रेदिधत् (आप अधिक न बढ़ायें) 'मा भवान् प्र+इदि- [ध]त्' में 'इदिधत्' एध् धातु का रूप तो है, पर एजादि नहीं, इसलिये इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई। तब यहाँ भी 'आद्गुणः' से गुण होकर 'प्रेदिधत्' बना।

अन्य उदाहरण अव+एति=अवैति=जानता है। अप+एति= अपैति=दूर होता है। प्र=एति=प्रैति=मरता है। प्र+एधते= प्रैधते=अधिक बढ़ता है। अव+एधते अवैधते बढ़ता है। विश्व+ ऊहः विश्वौहः संसार को धारण करने वाले (परमात्मा)।

अक्षादिति—अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द परे हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो।

---

१ अक्षाणामूहिनीति विग्रहः।

(प्रशब्दाद् ऊहादिशब्देषु परेषु वृद्धिविधायकं वार्तिकम्)

(वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

(तृतीयासमासे ऋतशब्दे परे वृद्धिविधायकं वार्तिकम्)

(वा०) ऋते च तृतीयासमासे।

सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम्—परमर्तः।

अक्षौहिणी[1] (सेना का परिमाण विशेष)—'अक्ष+ऊहिनी' इस अवस्था में 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त था। उसको बाधकर इस वार्तिक से क्षकारोत्तरवर्त्ती पूर्व अकार और 'ऊहिनी' शब्द के आद्य ऊकार के स्थान में वृद्धि एक आदेश 'औ' कार हुआ।

नकार को णकार आदेश 'पूर्वपदात् संज्ञायाम् अगः' सूत्र से हुआ।

(वा०) प्रादिति—प्र उपसर्ग से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष और एष्य परे हों तो पूर्व पर अच् के स्थान में वृद्धि एकादेश हो।

---

१ महाभारत में अक्षौहिणी सेना का प्रमाण इस प्रकार बताया गया है—

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥ इति॥

अर्थात् अक्षौहिणी सेना का परिमाण है कि उसमें २१८७० हाथी हों और इतने ही रथ भी तथा इसके तिगुने घोड़े और पाँच गुने पदल सिपाही हों—

हाथी	२१८७०
रथ	२१८७०
घोड़े	६५६१०
पैंदल	१०९३५०
योग	२१८७००.

इस प्रकार अक्षौहिणी चतुरङ्गिणी सेना होती है और उसमें २१८७०० हाथी, रथ, घोड़े और पैंदल सिपाही होते हैं।

प्र+ऊहः=प्रौहः=उत्कृष्ट तर्क, बढ़िया दलील। प्र+ऊढ़ः=प्रौढः=बढ़ा हुआ, बड़ा। प्र+ऊढ़िः, प्रौढ़िः प्रौढ़ता। प्र+एषः प्रैषः=प्रेरणा। प्र+एष्यः=प्रैष्यः, नौकर। 'प्र+ऊहः' 'प्र+ऊढ़ः' प्र+ऊढ़िः' इन तीन प्रयोगों में 'आद्गुणः' से गुण और 'प्र+एषः' तथा 'प्र+एष्यः' में 'एङि पररूपम्' से पररूप प्राप्त था। इनको बाधकर 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' इस वार्तिक से पूर्व पर अच् के स्थान में यथाप्राप्त वृद्धि एकादेश होने से 'प्रौहः' 'प्रौढः' 'प्रौढिः' 'प्रैषः' और 'प्रैष्यः' रूप सिद्ध हुए।

(वा०) ऋते इति—अवर्ण से ऋतशब्द परे हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो तृतीयासमास में।

सुखार्तः (सुख से प्राप्त हुआ, अर्थात् सुखी। सुखेन ऋत इति विग्रहः। तृतीया समास हुआ है।)—'सुख+ऋतः' यहाँ पर 'ऋते च तृतीयासमासे' इस वार्तिक से खकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण तथा 'ऋतः' के आदि ऋकार के स्थान में 'उरण् रपरः' की सहायता से रपर होता हुआ 'आर्' वृद्धि एकादेश होकर 'सुखार्तः' रूप बना।

तृतीयेति—'तृतीया समास में ही वृद्धि होती है' ऐसा कहने का फल यह है कि 'परमश्चासौ ऋतः' इस विग्रह में कर्मधारय समास से बने हुए 'परम+ऋतः' इस प्रयोग में इस वार्तिक की प्रवृत्ति नहीं हुई। अतः यथाप्राप्त 'आद् गुणः' से गुण होकर **परमर्तः** (मुक्त) रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) प्र इति—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश, इन शब्दों से परे यदि ऋण शब्द हो तो पूर्व पर अच् के स्थान में वृद्धि एकादेश हो।

प्रार्णम्—प्र+ऋणम्=प्र्+आर्+ऋणम्=प्रार्णम्=अधिक ऋण

१ 'प्रौहो निपुणतर्के स्यात्' इति विश्वः।

(प्रादिशब्देभ्य ऋणशब्दे परे वृद्धिविधायकं वार्तिकम्)

(वा०) प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे ।

प्राणम् । वत्सतरार्णमित्यादि ।

(उपसर्गसंज्ञासूत्रम्)

उपसर्गाः[1] क्रियायोगे । १ । ४ । ५९ ॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः ।

(परिगणनम्)

प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप—एते प्रादयः ।

(कर्जा) । वत्सतरार्णम्—वत्सतर+ऋणम्=वत्सतर+आर्+ऋणम्=वत्सतरार्णम्=छोटे वछड़े के लिए लिया हुआ ऋण । ऋण रूप में लिया हुआ छोटा वछड़ा । कम्बलार्णम्—कम्बल+ऋणम्=कम्बलार्णम्=कम्बल का ऋण । वसनार्णम्—वसन+ऋणम्=कपड़े का ऋण । ऋणार्णम्—ऋण+ऋणम्=ऋणार्णम्=ऋण चुकाने के लिये लिया हुआ दूसरा ऋण । दशार्णऋम्—दश+ऋणम्=दशार्णम्=एक देश-विशेष का नाम ।[1]

दशार्णः—दश ऋणानि जलानि यत्र, अर्थात् जहाँ दशों ओर जल ही जल हो, जलप्रायदेश ।

इन सब प्रयोगों में 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त था । उसको वाधकर इस वार्तिक से पूर्व पर के स्थान में 'उरण् रपरः' की सहायता से 'आर्' वृद्धि हुई ।

उपसर्गा इति—प्र आदियों की क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा हो । प्र इत्यादि–प्र परा इत्यादि ये बाईस २२ प्रादि हैं ।

'उपसर्गाः क्रियायोगे' यह सूत्र उपसर्गसंज्ञा विधान करने वाला है ।

---

१ कालिदास ने मेघदूत में 'दशार्ण' प्रदेश की केतकी (केवड़े) की बड़ी प्रशंसा की है ।

(धातुसंज्ञासूत्रम्)

भूवादयो[1] धातवः[2] । १ । ३ । १ ॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः ।

(अवर्णान्तोपसर्गात् ऋकारादिधातौ परे वृद्धिविधायकं सूत्रम्)

"उपसर्गादृति" धातौ" ६ । १ । ९१ ॥

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति ।

इस लिए संज्ञा-सूत्र है। 'उपसर्गादृति धातौ' इस सूत्र मे उपसर्ग शब्द आया है। उसका बोध कराने के लिए पहले उपसर्ग शब्द का अर्थ इस सूत्र के द्वारा बताया गया है।

उसी सूत्र में 'धातु' पद भी पड़ा है। उसका ज्ञान होना सूत्रार्थबोध के लिये परमावश्यक है। इसलिए 'धातु' पद के अर्थबोध के लिए 'भूवादयो धातवः' सूत्र की अवतारणा की गई है।

भूवादय इति—क्रियावाचक भू आदियों की धातु संज्ञा हो।

भू आदि धातुपाठ में पढ़े गये हैं। धातुपाठ का पहला धातु 'भू' है। इस लिये 'भू' आदि कहा गया है। क्रियावाची कहने से पृथ्वीवाचक 'भू' आदि शब्दों की धातु संज्ञा नहीं होती। अन्यथा धातु संज्ञा होकर तन्निमित्तक कार्य होने लगेंगे।

उपसर्गा इति—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्वपर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो।

प्रार्च्छति (जाता है)—'प्र+ऋच्छति' यहाँ 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इस सूत्र के द्वारा 'ऋच्छति' क्रिया का योग है। प्र उपसर्ग के अन्त में अकार अवर्ण भी है अतः वह अवर्णान्त उपसर्ग है। उससे पर 'ऋच्छति' ऋकारादि धातु है। अतः पूर्व पर अकार और ऋकार के स्थान में 'उपसर्गादृति धातौ' इस सूत्र से 'उरण् रपरः' की सहायता से 'आर्' वृद्धि होकर 'प्रार्च्छति' रूप सिद्ध हुआ।

(अवर्णान्तोपसर्गादेङादिधातौ परे पररूपविधायकं सूत्रम्)

एङि[2] पररूपम्[1] । ६ । १ । ९४ ।।

आदुपसर्गाद् एङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते उपोषति ।

अन्य उदाहरण—उप+ऋच्छति, उपार्च्छति=समीप पहुँचता है। प्र+ऋणोति=प्रार्णोति=अधिक चलता है। उप+ऋणोति=उपार्णोति=समीप पहुँचता है। प्र+ऋच्छन् प्रार्च्छन्=अधिक चलता हुआ। उप+ऋच्छन्=उपार्च्छन्=समीप पहुँचता हुआ।

एङि इति—अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादश हो।

पररूप का अर्थ है पर-आगे वाले-वर्ण का जैसा रूप है वैसा हो जाना अर्थात् दोनों के स्थान में आगे वाला हो जाना।

यह पररूप पहले बताए हुये वृद्धिविधायक सूत्र का अपवाद है।

प्रेजते (अधिक काँपता है)—'प्र+एजते' यहाँ 'प्र' अवर्णान्त उपसर्ग 'एजते' इस एजादि धातु के परे होने पर'वृद्धिरेचि' से प्राप्त वृद्धि को बाधकर पूर्व पर अकार और एकार के स्थान में 'एङि पररूपम्' से पर एकार होकर 'प्रेजते' रूप सिद्ध हुआ।

उपोषति (जलाता है)—'उप+ओषति' यहाँ पर भी 'एङि पररूपम्' से पूर्व पर अकार ओकार के स्थान में पर ओकार हो जाने से 'उपोषति' रूप बना।

अन्य उदाहरण—प्र+एषयति=प्रेषयति=भेजता है, प्रेरणा करता है। प्र+एषते=प्रेषते=अधिक चलता है। उप+एजते=उपेजते=काँपता है। अव+एजते=अवेजते=काँपता है। प्र+एषणीयम्=प्रेषणीयम्=भेजना चाहिए, प्रेरणा करनी चाहिये।प्र+ओषति=प्रोषति=अधिक जलाता है। अव+ओषति=अवोषति=जलाता है।

(टिसंज्ञासूत्रम्)

[1]अचोऽन्त्यादि[1] टि[1] । १ । १ । ६४ ॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः, स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् ।

('शकन्धु' प्रभृतिषु पररूपविधायकं वार्तिकम्)

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । तच्च टेः ।

शकन्धुः । कर्कन्धुः । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः ।

अच इति—अचों में जो अन्त्य, वह है आदि में जिसके, उस समुदाय की टिसंज्ञा हो ।

जैसे—'मनस्' में अन्त्य अच् है नकारोत्तरवर्त्ती अकार, वह आदि में है 'अस्' इस समुदाय के, इसलिये 'अस्' की टिसंज्ञा होगी । 'शक' में अन्त्य अच् है ककारोत्तरवर्ती अकार, वह किसी के आदि में नहीं । ऐसी दशा में, 'देवदत्तस्य एकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' इस न्याय से वह अपने ही आदि में है । इसलिए 'अ' की ही टि संज्ञा हुई । इसी न्याय को 'व्यपदेशिवद्भाव' भी कहते हैं । अमुख्य में मुख्य जैसा व्यवहार करने को 'व्यपदेशिवद्भाव' कहा जाता है । जब यहाँ अन्त्य अच् के आदिवाला असली समुदाय न मिला तो उसी अकेले में मुख्य समुदाय जैसा व्यवहार करके टि संज्ञा कर दी ।

(वा०) शकन्ध्वादिष्विति—शकन्धु आदि के विषय में उनकी सिद्धि के अनुगुण (उचित) पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो ।

तच्च टेः इति—और वह पररूप टि को हो ।

यदि यहाँ पर 'आत्' इस प्रकरणानुसार अवर्ण को ही पररूप किया जाय तो 'मनीषा' 'पतञ्जलिः' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ केवल अवर्ण के पररूप करने से रूप सिद्ध नहीं होता, दोष होगा । अतएव यह अर्थ पूर्वाचार्यों ने किया है 'शकन्ध्वादिषु' को विषय-सप्तमी माना है । शकन्धु आदि के विषय में जिस प्रकार उनकी सिद्धि हो वैसा पररूप

करना चाहिए। यदि अवर्ण का पररूप करने से रूप सिद्धि होती है तो अवर्ण का ही पररूप हो, यदि अवर्ण के साथ किसी अन्य वर्ण का भी पररूप करने से रूपसिद्धि होती है तो उसका भी पररूप हो। इन सब का संग्रह टि से हो जाता है। अतएव कहा है—'तच्च टेः' अर्थात् शकन्धु आदि की रूपसिद्धि टि के पररूप करने से होती है, इसलिए पररूप 'टि' को हो।

शकन्धुः (शक देश या शक जाति के लोगों का कुआँ)—शक+अन्धुः[1] यहाँ 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक से ककारोत्तरवर्ती अकार टि और 'अन्धु' के आदि अकार दोनों पूर्व पर के स्थान में पररूप अकार एकादेश होने से 'शकन्धुः' रूप सिद्ध हुआ।

आगे आनेवाले 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से यहाँ पर दीर्घ प्राप्त था। उसी को बाधकर यह वार्तिक प्रवृत्त हुआ।

मनीषा (बुद्धि)—'मनस्+ईषा' यहाँ भी उक्त वार्तिक से 'अस्' टि और 'ई' पूर्व पर दोनों के स्थान पर ईकार रूप एकादेश होने से मनीषा रूप बना।

इसी प्रकार **'कर्कन्धुः'**[2] **'मार्तण्डः'**[3] (सूर्य) की भी सिद्ध होगी।

अन्य उदाहरणः—हल+ईषा[4]**=हलीषा**=हल का दण्ड। लाङ्गल+

१—'पुस्येवान्धुः प्रहिः कूपः' इत्यमरः।

२—तत्त्वबोधिनीकार ने 'कर्काणां राजविशेषाणाम् अन्धुः' यह अर्थ किया है—अर्थात् कर्क राजाओं का कुआँ।

३—'मृत+अण्डः' यही छेद करना होगा। पररूप से 'मृतण्ड' यह रूप बनाकर 'तत आगतः' से अण् प्रत्यय करके आदि अच् को वृद्धि करने से 'मार्तण्डः' बना। 'विकर्तनार्कमार्तण्डमिहिरारुणपूषणः' इत्यमरः'।

४—'ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात्' इत्यमरः।

ईषा=लाङ्गलीषा=हल का डंडा। कुल+अटा[1]=**कुलटा**=व्यभिचारणी स्त्री। सीम+अन्तः=**सीमन्तः**[2]=केशवेश, चीर। (ध्यान रहे दूसरे अर्थ में पररूप नहीं होता, वहाँ '**सीमान्तः**' (सीमा का अन्त) ही होगा। सार+अङ्गः=**सारङ्गः**[3]=मृग वा मोर। अन्य अर्थ में **साराङ्गः**=पुष्ट अङ्गवाला। पतत्+अञ्जलिः=**पतञ्जलिः**=व्याकरण महाभाष्यकार मुनि।

आकृतिगणोऽयम् इति यह शकन्ध्वादि गण आकृतिगण है। 'आकृति-गण' का अर्थ समझने के लिए पहले 'गण' शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। अतः पहले यहाँ उसीका निरूपण किया जाता है।

गण—गण का अर्थ है समूह। जब बहुत से शब्दों को एक ही कार्य करना हो तो उनमें से ऐसे पहले शब्द को लेकर उसके साथ 'आदि' शब्द जोड़ कर काम चला दिया जाता है। **जैसे**—शकन्धु आदि। शकन्धु आदि शब्दों का **समुदाय** है, उसमें शकन्धु शब्द पहला है, इसलिये उन शब्दों को 'शकन्ध्वादि' गण कहते हैं। ऐसा कहने में लाघव होता है। अन्यथा सभी शब्दों को सूत्र में कहने से बहुत गौरव हो जायगा। कौन से शब्द गण में हैं इसके लिये गणपाठ कर दिया है।

आकृति गण—परन्तु बहुत से गण ऐसे हैं, जिन्हें आकृतिगण कहते हैं। शकन्ध्वादि भी आकृतिगण है। आकृतिगण का तात्पर्य यह है कि जब गण-पाठ में दिये हुए शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों में भी उस गण का कार्य मिलता हो और उसके लिए विशेष वचन कोई न हो तो उस शब्द को भी उस गण में समझ लेना चाहिए अर्थात् गण कार्य देखकर गणपाठ में न आये हुए शब्दों को भी उस गण में परिगणित

१—'असती कुलटेत्वरी' इत्यमरः।

२—'सीमन्तः केशवेशे' इति गणसूत्रम्।

३—'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' इति गणसूत्रम्। 'सारङ्गः पुंसि हरिणे चातके च मतङ्गजे। शबले त्रिषु" इति मेदिनी।

(अवर्णाद् ओमाङोः परयोः पररूपविधायकं सूत्रम्)

ओमाङोश्च । ६ । १ । ९५ ॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायों नमः । शिव+एहि—

कर लेना चाहिये । इसीलिए आकृतिगण की व्युत्पत्ति की जाती है— 'आकृत्या स्वरूपेण कार्यदर्शनेन गण्यते परिचीयते' इति आकृतिगणः ।

जैसे—'मार्तण्डः' शब्द शकन्ध्वादि गण के गणपाठ में नहीं आया और शकन्ध्वादि गण का कार्य पररूप इसमें मिल रहा है अन्यथा दीर्घ होकर 'मार्ताण्डः' होता। इसलिये यह शब्द भी इस गण का है। यह निश्चय कर लेना चाहिये।

शकन्धु आदि गण के आकृतिगण होने का प्रमाण

'शकन्ध्वादि' के आकृतिगण होने का प्रमाण सूत्रकार के 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यादि सूत्रों में 'समर्थ' आदि शब्दों का प्रयोग है। अन्यथा—सम+अर्थ यहाँ दीर्घ होकर 'समार्थः' रूप बनाना चाहिए था। 'समर्थः' शकन्ध्वादि गणपाठ में आया नहीं, फिर इसके अतिरिक्त 'समर्थ' पद की सिद्धि का कोई उपाय नहीं, अतः इसकी सिद्धि के लिये शकन्ध्वादि को आकृति गण मानना आवश्यक हो जाता है।

ओमिति—अवर्ण से ओम् और आङ परे हों तो पररूप एकादेश हो।

शिवायों नमः (शिव जी को नमस्कार)—'शिवाय ओं नमः' यहाँ यकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण से 'ओम्' परे होने से पूर्व पर के स्थान में पर 'ओ' रूप के एकादेश होने से 'शिवायों नमः' रूप सिद्ध हुआ।

शिव+एहि (शिवजी आओ)—'शिव आ इहि' यहाँ वकारोत्तरवर्ती अकार और आङ के आकार को 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ तथा आ और इहि के इकार को 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त है। 'धातूपसर्गयोः

(एकादेशस्यान्तादिवद्भावविधायकमतिदेशसूत्रम्)

अन्तादिवच्च । ६ । १ । ८५ ॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् । शिवेहि ।

कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यद् बहिरङ्गम्' अर्थात् धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है और अन्य कार्य बहिरङ्ग, इस परिभाषा के अनुसार आङ उपसर्ग के आकार तथा 'इहि' धातु के इकार के स्थान में गुण प्राप्त होने से धातु और उपसर्ग का कार्य है, अतएव अन्तरङ्ग है। सवर्ण दीर्घ 'शिव' के वकारोरवर्ती अकार और 'आङ' उपसर्ग के स्थान में प्राप्त होने से बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' अन्तरङ्ग कार्य करते समय बहिरङ्ग असिद्ध होता है। इस परिभाषा के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य कर्तव्य हो तो बहिरङ्ग असिद्ध होता है अर्थात् बहिरङ्ग कार्य नहीं होता। अतः बहिरङ्ग होने से सवर्ण दीर्घ न हुआ, अन्तरङ्ग होने से गुण हुआ। तब रूप बना 'शिव+एहि'। यहाँ आ 'आङ' उपसर्ग का ही है। 'ङ' का इत्संज्ञक होने से लोप हो जाता है। 'शिव+एहि' इस स्थिति में 'ओमाङोश्च' की प्राप्ति तो है पर आङ एकादेश होने से नहीं रहा। इसके लिये 'ए' में आङत्व लाना आवश्यक है। इसलिये आगे सूत्र देते हैं।

अन्तादिवदिति—जो यह एकादेश होता है, वह पूर्व के अन्तवत् और पर के आदिवत् हो।

इस सूत्र के अर्थ का यह आशय है कि एकादेश[1] करने से पहले पूर्व समुदाय या पर समुदाय में जो धातुत्व-प्रतिपदिकत्व व सुबन्तत्व निपातत्व आदि व्यवहार होते हैं वे एकादेशयुक्त भी होते हैं। जैसे—'आ+इहि' यहाँ गुण एकादेश करने के पूर्व, पूर्व समुदाय 'आ' में भी आङत्व का व्यवहार होता है। वह आङ व्यवहार एकादेश विशिष्ट 'ए' में भी होगा। एवं

१—आद्यन्ताभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां धातुत्व-प्रातिपदिकत्व-निपातत्वादयो ये व्यवहाराः, ते कृतैकादेशस्यापि भवन्ति।

(सवर्णदीर्घविधायकं सूत्रम्)

अकः[५] सवर्णे[७] दीर्घः[१] ६ । १ । १०१ ॥

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् ।

दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । होतॄकारः ।

'ए' के आङ होने से 'शिव+एहि यहाँ पर 'ओमाङोश्च' से पररूप होकर 'शिवेहि' रूप सिद्ध हुआ।

अन्य उदाहरण— अव+आ+इहि = अव+एहि= अवेहि= तुम समझो। उप+आ+इहि=उप+एहि=उपेहि=समीप आओ। कृष्ण+आ+एहि=**कृष्णेहि**=कृष्ण ! (यहाँ) आओ।

अक इति—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो।

दैत्यारिः (दैत्यों का शत्रु, विष्णु)—'दैत्य+अरिः' इस स्थिति में यकारोत्तरवर्ती अकार अक् से 'अरिः' का आदि अकार सवर्ण अच् परे होने से पूर्व पर-दोनों अकारों के स्थान में 'अकः सवर्णे दीर्घः, से आन्तरतम्य (अत्यन्त सदृश) होने के कारण दीर्घ 'आकार' एकादेश होकर 'दैत्यारिः' रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'श्री+ईशः=**श्रीशः**=विष्णु, लक्ष्मी के स्वामी। विष्णु+उदयः=**विष्णूदयः**=विष्णु की उन्नति। होतृ+ऋकारः=**होतॄकारः**=होता का ऋकार।' इन रूपों की भी सिद्धि होती है।

अन्य उदाहरण—कमला+आकरः—**कमलाऽऽकर**—तालाब। श्रद्धा+अस्ति=**श्रद्धाऽस्ति**=श्रद्धा है। विद्या+आलयः—**विद्याऽऽलयः**—स्कूल, कालेज। मुनि+इन्द्रः=**मुनीन्द्रः**=श्रेष्ठ मुनि। गिरि+ईशः=**गिरीशः**=शिव। सती+ईशः—**सतीशः**=शिव। भानु+उदयः=**भानूदयः**=सूर्य का उदय। तरु+ऊर्ध्वम्=**तरूर्ध्वम्**=वृक्ष के ऊपर। वधू+उत्सवः=**वधूत्सवः**=वधू का उत्सव। वधू+उररीकृतम्—**वधूररीकृतम्**=वधू के

(पूर्वरूपविधायकं सूत्रम्)

एङः पदान्तादति । ६ । १ । १०९ ॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ।

द्वारा स्वीकृत किया हुआ । नेतृ+ऋभुक्षा—नेतृभुक्षा=नेताओं में श्रेष्ठ। होतृ+ऋद्धिः—होतृद्धिः—हवन करने वाले की वृद्धि। पक्तृ+ऋजीषम्—पक्तृजीषम्—रसोइये का या पकाने वाला तवा ।

एङ इति—पदान्त एङ् से अत्-ह्रस्व अकार-परे होने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो ।

पदान्त—विभक्ति-सुप् तिङ-जिसके अन्त में हों उसे पद और उसके अन्त को पदान्त कहते हैं। पदान्त का पूरा ज्ञान सुबन्त और तिङन्त प्रकरणों से होगा। यहाँ उदाहरण के लिये 'हरे' दिया है। यह सम्बोधन-विभक्ति के एक वचन का रूप है। अतः पद है। इसके अन्त में 'एकार' है यह 'एकार' पदान्त है।

पूर्वरूप—पूर्व शब्द के अन्तिम वर्ण का जैसा रूप है, वैसा रूप हो जाना पूर्वरूप कहलाता है। जैसे—'हरे+अव' यहाँ पूर्व एकार है वही दोनों एकार और अकार रूप पूर्व पर के स्थान में आदेश हो जायगा। फल यह निकला कि अकार का लोप हो जाता है। परन्तु लोप होने पर भी उसका संस्कार बना रहता है, उसको सूचित करने के लिये स्पष्टतार्थ 'ऽ' यह चिह्न जोड़ दिया जाता है।

हरेऽव (भगवन् विष्णो, रक्षा करो)—'हरे+अव' इस दशा में पदान्त एङ-एकार से ह्रस्व अकार पर होने से पूर्व पर के स्थान में पूर्व एकार का रूप एकादेश हो जायगा। फलस्वरूप अकार का लोप हुआ और उसका चिह्न 'ऽ' यह रहा। इस प्रकार 'हरेऽव' यह रूप बना।

विष्णोऽव (भगवान् विष्णो रक्षा करो)—इसकी सिद्धि भी पूर्ववत् होगी।

(एङन्तगोशब्दस्य प्रकृतिभावविधायकं सूत्रम्)

सर्वत्र विभाषा[१] गोः[६] । ६ । १ । १२२ ॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात् पदान्ते । गो अग्रम्, गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम्-चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम्-गोः ।

अन्य उदाहरण—वने+अत्र=**वनेऽत्र**=इस वन में । सर्वे+अपि=सर्वेऽपि=सभी । के+अपि=**केऽपि**=कोई भी । को+अपि=**कोऽपि**=कोई भी एक । रामो+असौ=**रामोऽसौ**=वह राम । साधो+अत्रागच्छ=साधोऽत्राऽऽगच्छ=साधु महाराज यहाँ आओ । पण्डितो+अवदत्=पिण्डतोऽवदत्=पण्डित जी बोले ।

सर्वत्रेति—लोक और वेद में एङन्त गोशब्द (गोशब्दावयव ओकार) को अत्-ह्रस्व अकार-परे रहने पर विकल्प से प्रकृतिभाव होता है पदान्त में ।

संस्कृत भाषा के दो रूप हैं—१ लौकिक और २ वैदिक । लौकिक भाषा लोक में प्रयुक्त होती है, काव्यों में प्रयुक्त भाषा लौकिक ही है । पाणिनि और कात्यायन ने इस लौकिक भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का भी प्रयोग किया है । यथा—प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्, प्रत्यये भाषायां नित्यम्' । वैदिक भाषा वह है जो वेदों में प्रयुक्त हुई है ।

वैदिक भाषा के कुछ विशेष नियम हैं । वे यहाँ पृथक् कहे गये हैं । इस सूत्र का कार्य दोनों में होता है, इसलिये 'सर्वत्र' कहा गया है, अर्थात् लौकिक भाषा में भी वैदिक भाषा में भी ।

प्रकृतिभाव—कहते हैं प्रयोग का मूल अवस्था में रह जाना अर्थात् उसमें कोई विकार न होना । अतएव प्रकृति-भाव स्थल में संहिताकार्य-सन्धि नहीं होती ।

गो अग्रम्—('गोः अग्रम्'—गाय का अगला हिस्सा अथवा गाय के

(अनेकाल्शितां सर्वादेशत्वनियामकं परिभाषासूत्रम्)

अनेकाल् शित्[1] सर्वस्य[1] १ । १ । ५५ ॥

इति प्राप्ते।

सामने)—'गो+अग्रम्' इस दशा में अन्तर्वर्तिनी[1] (षष्ठी) विभक्ति के द्वारा गो शब्द पद है, उसके अन्त में ओकार है। उसको 'अग्र' शब्द के अकार अच् परे होने से प्रकृति-भाव हो गया। अभाव पक्ष में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होकर 'गोऽग्रम्' रूप बनता है।

एङन्तस्येति—एङन्त कहने से 'चित्रगु+अग्रम्' यहाँ नहीं हुआ। 'गो' शब्द को 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व होकर 'गु' बनता है, यह गो शब्द तो है परन्तु ह्रस्व होने से एङन्त नहीं। अतः प्रकृतिभाव न होकर यण् होने पर 'चित्रग्वग्रम्' रूप बनता है। 'चित्रा गावो यस्य सः, चित्रगुः तस्य अग्रम्' चित्र गोओंवाले के सामने अथवा उसका अग्रभाग।

पदान्त इति—पदान्त कहने से 'गो+अः' यहाँ नहीं होता। क्योंकि 'गो' प्रातिपदिक है और 'अः' सुप् विभक्ति है, 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से पद संज्ञा विभक्त्यन्त की होती है, अतः 'गो+अः' इस सम्पूर्ण की पद संज्ञा होगी। इसलिये यहाँ विसर्ग पदान्त है गो शब्द का ओकार नहीं। अतः प्रकृतिभाव न होकर 'ङसिङसोश्च' से अकार का पूर्वरूप न होकर 'गोः' रूप सिद्ध हुआ।

अनेकालिति—जिस आदेश में अनेक अल् हों तथा जिसका शकार इत्संज्ञक हो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

अनेकाल् का उदाहरण—'अस्तेर्भूः' से सम्पूर्ण 'अस्' के स्थान में अनेकाल् 'भू' आदेश होता है। **शित् का उदाहरण**—'अष्टा+अस्' यहाँ 'अष्टाभ्य औश्' से सम्पूर्ण अस् के स्थान में शित् होने से 'औ' आदेश होता है। इस प्रकार 'अष्टौ' रूप बनता है।

१—समास स्थल में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से विभक्ति का लोप हो जाता है, उस लुप्त विभक्ति को अन्तर्वर्तिनी विभक्ति कहते हैं। उस विभक्ति के द्वारा शब्द को पद मान लिया जाता है और पद-पदान्तनिमित्तक कार्य वहाँ हो जाते हैं।

(ङिदनेकालोऽन्त्यादेशत्वनियामकं परिभाषासूत्रम्)

[1]ङिच्च १ । १ । ५३ ॥

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ।

(गारवङादेशविधायकं सूत्रम्)

अवङ्[1] स्फोटायनस्य[1] । ६ । १ । १२३ ॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ वाऽचि । गवाग्रम, गोऽग्रम् । पदान्ते किम्-गवि ।

इति प्राप्त इति—'अवङ स्फोटायनस्य' से विहित अवङ आदेश अनेक अल् वाला होने से सम्पूर्ण 'गो' शब्द के स्थान में प्राप्त होता है। 'अवङ' के प्रसङ्ग से ही यहाँ इस परिभाषा का उल्लेख हुआ है।

ङिच्चेति—जिस आदेश का ङकार इत् हो, वह अनेकाल् होने पर भी स्थानी के अन्त्य वर्ण को होता है। जैसे 'अवङ' आदेश अनेकाल् है, तो भी ङित् होने से यह स्थानी 'गो' के अन्त्य 'ओ' को होता है।

अवङिति—पदान्त विषय में एङन्त गो शब्द को अवङ आदेश विकल्प से हो अच् परे होने पर।

अवङ का 'ङ' 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञक है, अतः यह ङित् है और इसमें अ, व्, अ ये तीन अल् हैं अतः यह अनेकाल् भी है। अवङ आदेश पूर्व परिभाषा के अनुसार सम्पूर्ण 'गो' शब्द के स्थान में प्राप्त होता है परन्तु अपवाद होने से 'ङिच्च' परिभाषा के वस से अनेकाल् होते हुए भी 'गो' शब्द के अन्त्य ओकार के स्थान में होता है।

सूत्र में 'स्फोटायनस्य' कहा गया है। उसका तात्पर्य है कि 'अवङ' आदेश स्फोटायन नाम के मुनि के मत से होता है। पाणिनि का यह अपना मत नहीं, अर्थात् उनके मत में नहीं होता। इस प्रकार 'अवङ' आदेश के विषय में दो पक्ष हो जाते हैं। उसीको फलितार्थ के रूप में वृत्तिकार ने विकल्प से कहा है।

सूत्रकार ने 'विकल्प' न कह कर जो 'स्फोटायन' के मत का उल्लेख किया है, वह स्फोटायन मुनि के प्रति आदर प्रदर्शन के लिये। इसी प्रकार

अन्यत्र भी—जहाँ किसी मुनि का नाम आया हो—वहाँ 'विकल्प' अर्थ समझना चाहिये और नाम ग्रहण आदर प्रदर्शन के लिये।

गवाग्रम्—'गो+अग्रम्' इस दशा में पदान्त एङन्त गो शब्द है, उससे अच् भी परे है अतः प्रकृत सूत्र से 'अवङ' आदेश होता है। अनेकाल् होने से पहले तो 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से सम्पूर्ण 'गो' शब्द के स्थान में प्राप्त होता है। परन्तु ङित् होने से उसको बाधकर 'ङिच्च' परिभाषा से गो शब्द के अन्त्य 'ओ'कार के स्थान में होता है। तब 'ग् अव अग्रम्' इस स्थिति में वकरोत्तरवर्ती अकार और 'अग्रम्' के अकार के स्थान में सवर्णदीर्घ आकार आदेश होकर 'गवाग्रम्' रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा गोः' से प्रकृतिभाव। प्रकृतिभाव भी विकल्प से होता है। अतः उसके अभाव पक्ष में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होता है। इस प्रकार यहाँ 'गवाग्रम्' 'गोअग्रम्' 'गोऽग्रम्' ये तीन रूप बनते हैं।

पदान्त इति—'पदान्त' ग्रहण का प्रयोजन है 'गो+इ' इस दशा में सूत्र की प्रवृत्ति न होना। यहाँ 'गो' शब्द है 'इ' अच् पर है, परन्तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र से गो प्रातिपदिक की सप्तमी विभक्ति इ के साथ पद संज्ञा होगी और तब इस प्रकार यहाँ पदान्त 'इ' है 'गो' शब्द नहीं। अतः पदान्त न होने से अवङ आदेश नहीं होता। तब 'एचोऽयवायावः' से ओकार को 'अव्' आदेश होकर 'गवि' रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण—गो+अक्षः=गवाक्षः[1]=रोशदान, खिड़की। गो+

---

१ 'वातायनं गवाक्षोऽथ' इत्यमरः। 'अवङ स्फोटायनस्य' के व्यवस्थित विभाषा होने से यहाँ नित्य अवङ आदेश होता है। कहा भी है—

देवत्रातो गले ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाषन्ते 'गवाक्षः' संशितव्रतः॥

व्यवस्थितविभाषा का तात्पर्य है—प्रयोगविशेष में सूत्रोक्त कार्य का नित्य हो जाना और किसी में न होना। 'गवाक्षः' में अवङ आदेश नित्य होता है। अतः यह विभाषा व्यवस्थित है।

(इन्द्रशब्दे परे गोरवङादेशविधायकं सूत्रम्)

इन्द्रे च । ६ । १ । १२४ ॥

गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ।

(प्लुतविधायकं सूत्रम्)

दूराद्धूते च । ८ । २ । ८४ ॥

दूरात् संबोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा ।

(प्रकृतिभावविधायकं सूत्रम्)

प्लुतप्रगृह्या[1] अचि नित्यम्[1] । ६ । १ । १२५ ॥

उद्ध=गवोद्धः=[1] श्रेष्ठ गौ ।

इन्द्र इति—गो शब्द को अवङ् आदेश हो इन्द्र शब्द परे रहने पर ।

गवेन्द्रः—(साँड़, बड़ा बैल) 'गो+इन्द्र' इस दशा में इन्द्र शब्द परे होने से पूर्व शब्द के अन्त्य ओकार को अवङ् आदेश हुआ तब 'ग् अव+इन्द्रः' ऐसी स्थिति होने पर वकारोत्तवर्ती अकार और अच् इकार दोनों पूर्व-पर के स्थान में एकार गुण एकादेश होकर 'गवेन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ ।

दूरादिति—दूर से संबोधन (पुकारने) में (प्रयुक्त) वाक्य की टि को प्लुत हो विकल्प से ।

यहाँ दूर से तात्पर्य है कि जहाँ से स्वाभाविक प्रयत्न से उच्चारण किये हुए वाक्य को संबोध्य–जिसे कहा जा रहा हो–न सुन सके । जहाँ से सुनाने के लिये जोर से बोलना पड़े ।

प्लुत करने का फल अग्रिम सूत्र से 'प्रकृतिभाव' होता है ।

प्लुतेति—प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक को अच् परे होने पर प्रकृति-भाव होता है ।

---

१ 'उद्ध' शब्द प्रशस्त-श्रेष्ठ-का वाचक है । अमरकोष में कहा है—
'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्ध-तल्लजौ ।
प्रशस्तवाचकान्यमूनि· · · · · · · · · · ॥'

वाक्य की टि प्लुत होकर प्रकृतिभाव को प्राप्त होती है। प्रकृतिभाव का फल है—कोई सन्धि न होना। वाक्य की टि वाक्य का अन्त होने से उसको कोई सन्धि कार्य तो करना नहीं, फिर प्रकृतिभाव का कुछ फल नहीं निकलता। इसलिये ध्यान रहे कि यहाँ प्रकृतिभाव का फल दिखाने के लिए एक और वाक्य रखना चाहिये अर्थात् इसके उदाहरण के लिये दो वाक्य रखने होंगे—एक तो प्लुत टि वाला और दूसरा साधारण जिसके आदि में अच् हो, ताकि सन्धिकार्य की प्राप्ति दिखाई जा सके। उसकी निवृत्ति प्रकृतिभाव के फल के रूप में होगी।

प्रकृतिभाव का तात्पर्य पहले बताया जा चुका है।

आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति (कृष्ण ! आओ, यहाँ गौ चर रही है)। यहाँ 'आगच्छ कृष्ण' यह वाक्य दूर से पुकारने (संबोधन) का है। अतः 'दूराद्धूते च' सूत्र से इसकी टि णकारोत्तरवर्ती अकार प्लुत हुआ। तब इस सूत्र से प्रकृतिभाव हुआ। प्रकृतिभाव होने से जैसे का तैसे रह गया। द्वितीय वाक्य 'अत्र गौश्चरति' के आदि अकार के साथ टि को सवर्णदीर्घ नहीं हुआ।

अन्य उदाहरण—आगच्छ हरे[1] ३ अत्र क्रीडेम=हरि ! आओ, यहाँ खेलें। **आगच्छ राम[2] ३ इह लक्ष्मणः**=राम ! आओ यहाँ लक्ष्मण है।

प्रगृह्यसंज्ञक को प्रकृतिभाव होने का उदाहरण आगे दिया जायगा।

---

१ प्रकृतिभाव होने से 'एङः पदान्तादति' से प्राप्त पूर्वरूप नहीं हुआ।

२ इस वाक्य में 'आद्गुणः' से प्राप्त गुण नहीं हुआ।

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

(प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम्)

ईदूदेद्[1] द्विवचनं[1] प्रगृह्यम्[1] । १ । ११ ॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गंगे अमू।

ईदूदेदिति—ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा हो।

प्रगृह्यसंज्ञा का फल पूर्वसूत्रोक्त 'प्रकृतिभाव' है।

हरी+एतौ (ये दो हरि, घोड़े, वन्दर)—यहाँ 'हरी' यह पद 'हरि' शब्द का प्रथमा का द्विवचन होने से दीर्घ ईकारान्त है। अतः प्रगृह्यसंज्ञा हुई। तब प्रकृतिभाव हुआ। अतः यहाँ यण् कार्य नहीं हुआ।

विष्णू इमौ (ये दो विष्णु), गङ्गे अमू (ये दो गङ्गाये)—इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है। पहले दो उदाहरणों में यण् और तीसरे में 'एङः पदान्तादति' से पूर्व रूप प्राप्त था, प्रकृतिभाव होने से नहीं हुए।

'हरी' 'विष्णू' 'गङ्गे' शब्दों में ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन ई, ऊ और ए हैं। यद्यपि ये द्विवचन नहीं, तथापि एकादेश होने से पूर्व पर समुदाय 'औ' में जो द्विवचनत्व-धर्म था, वह एकादेश होने के अनन्तर एकादेश विशिष्ट पूर्वोक्त ई, ऊ और ए में भी 'अन्तादिवच्च' से रहता है। तथा ईदन्तता आदि व्यपदेशिवद्भाव से यहाँ होती है। 'पचेते इमौ' यहाँ 'ते' यह द्विवचन है और यह एदन्त भी है। यह शुद्ध अर्थात् मुख्य द्विवचन है।

अन्य उदाहरण—कवी+आगच्छतः=कवी आगच्छतः=दो कवि आते हैं। पाणी+उत्क्षिपति=पाणी उत्क्षिपति=दोनों हाथ ऊपर उठाता है। वटू+उच्छलतः=वटू उच्छलतः=दो लड़के उछल रहे हैं। ऋतू+अतीतौ=ऋतू अतीतौ=दो ऋतु बीत गई। बालिके+अधयाते=

(प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम्)

अदसो मात् ।१ । १ । १२

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम्–अमुकेऽत्र !

…बालिके अधीयाते=दो लड़कियाँ पढ़ती हैं । नेत्रे+आमृशति=नेत्रे आमृशति=आँखें पोंछ रहा है ।

अदस इति—मकारान्त अदस् शब्द से पर ईकार और ऊकार …की प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।

अमी ईशाः (ये स्वामी हैं)—'अमी+ईशाः' इस दशा में मकरान्त अदस् शब्द 'अम्' से पर ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव हो जाता है । तब सवर्ण दीर्घ नहीं होता । 'अमी' यह=अदस् शब्द के प्रथमाविभक्ति के बहुवचन का रूप है ।

अमू आसाते—(ये दो बैठे हैं)–'अमू+आसाते' यहाँ भी पूर्ववत् सिद्धि होगी ।

अन्य उदाहरण—अमी+ईहन्ते=अमी ईहन्ते=ये चेष्टा करते हैं । अमी+अश्नन्ति=अमी अश्नन्ति=ये खाते हैं । अमू+अश्नीतः=अमू अश्नीतः=ये दो खाते हैं । अमू+आस्ताम्=अमू आस्ताम्=ये दो थे । अमू+अयोध्यायां दृष्टौ=अमू अयोध्यायां दृष्टौ=इन्हें अयोध्या में देखा ।

मात्किमिति—'मकार से पर' ऐसा क्यों कहा ? इसके कहने का प्रयोजन है 'अमुकेऽत्र' में प्रगृह्य संज्ञा न होना । 'अमुके' यहाँ अदस् के मकार से पर एकार नहीं, क्योंकि बीच में 'उ' और 'क' का व्यवधान है ।

वास्तव में 'मात्' कहने से इस सूत्र में एकार की अनुवृत्ति नहीं आती । क्योंकि अदस् शब्द के मकार से पर एकार का मिलना असम्भव है। यदि यहाँ 'मात्' ग्रहण न किया तो 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः=अर्थात् साथ कहे हुओं का साथ ही ग्रहण होता है और

(निपातसंज्ञासूत्रम्)

चादयो'ऽसत्त्वे' । १ । ४ । ५७ ॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।

(निपातसंज्ञासूत्रम्)

प्रादयः' । १ । ४ । ५८ ॥

एतेऽपि तथा ।

(प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम्)

निपात' एका' जनाङ्' । १ । १ । १४ ॥

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । वाक्यस्मरणयोरङित्—आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित्-ईषदुष्णम् ओष्णम् ।

साथ ही निवृत्ति' इस परिभाषा के बल से 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से साहचर्य के कारण 'एत्' की भी अनुवृत्ति इस सूत्र में आती और तब 'अमुकेऽत्र' में भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती ।

चादय इति—द्रव्यभिन्न अर्थ में वर्तमान 'च' आदि की निपातसंज्ञा हो

'च' आदि अव्यय प्रकरण में बताये जाएँगे

(द्रव्य का लक्षण)

जिन में लिङ्ग और संख्या का अन्वय होता है उन्हें 'द्रव्य'[१] कहते हैं।

प्रादय इति—प्र आदियों की भी निपात संज्ञा होती है।

प्र आदि पहले बताये जा चुके हैं।

निपात इति—आङ् को छोड़कर एक अच् रूप निपात प्रगृह्य-संज्ञक हो ।

१—लिङ्गसंख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वम् ।

इ इन्द्रः (यह[1] इन्द्र है)—'इ+इन्द्रः' यहाँ 'इ' की 'चादयोऽसत्वे' से निपात संज्ञा होती है। यह एक अच् रूप है। अतः प्रकृत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा हुई। तब 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होकर रूप सिद्धि होती है। प्रकृतिभाव होने से सवर्ण दीर्घ नहीं होता।

उ उमेशः (जान[2] पड़ता है यह शिव हैं)—इसकी सिद्धि 'इ इन्द्रः' के समान होगी। प्रकृतिभाव होने पर यहाँ भी सवर्णदीर्घ नहीं होता।

वाक्यस्मरणयोरङिति—वाक्य में और स्मरण अर्थ में 'आ' अङित्-ङिद् भिन्न होता है अर्थात् आङ नहीं होता।

आ एवं नु मन्यसे—(तुम ऐसा मानते हो?) इस वाक्य में 'आ' वाक्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः पूर्वोक्त वचन के अनुसार यह 'आ' स्वतन्त्र पृथक् निपात है, आङ का 'आ' नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से एक अच् रूप निपात होने से इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव भी हो जाता है।

आ एवं किल तत्—(हाँ यह ऐसा ही था) इस वाक्य में 'आ' स्मरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः नियमानुसार यह भी 'आङ' का 'आ' नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र निपात है। अतः इसकी भी प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो गया है।

अन्यत्र ङित्—वाक्य और स्मरण अर्थ से भिन्न अर्थों में आने वाला 'आ' में ङित् अर्थात् आङ होता है। आङ की प्रगृह्य संज्ञा का निषेध किया गया है।

ओष्णम् (कुछ गरम, कोसा)—'आ+ऊष्णम्' यहाँ न वाक्य में और न स्मरण अर्थ में ही 'आ' है। अतः वह 'आङ' का 'आ' है। यह

१—'इ' विस्मय अर्थ का द्योतक है।

२—'उ' वितर्क अर्थ का द्योतक है।

'ईषत्' अर्थ में—अल्पार्थ में—'आ' है। आङ की प्रगृह्य संज्ञा होती नहीं है। अतः प्रकृतिभाव न होकर 'आद्गुणः' से गुण हुआ।

आ और आङ दो निपात हैं। सूत्र में आङ की प्रगृह्य संज्ञा का निषेध कर शुद्ध ङकाररहित 'आ' की प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया गया है। परन्तु ये दोनों—आ और आङ प्रयोग में 'आ' के रूप में ही मिलते हैं। ऐसी दशा में यह निर्णय कैसे हो कि यह 'आ' है और यह 'आङ'। इसके लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गई है—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥'

अर्थात्—अल्प अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार होगा, उसे ङित्—समझना चाहिए तथा वाक्य में और स्मरण अर्थ में अङित्—आ।

क्रम से इनके उदाहरण—ईषदर्थ में—आ+उष्णम्=ओष्णम्। क्रियायोग में आ+अगच्छत्=आगच्छत्=वह आया। 'मर्यादा' में—आ+अम्बुधेरस्य राज्यम्=आम्बुधेरस्य राज्यम्=समुद्र तक इसका राज्य है। अभिविधि[२] में—आ+इन्द्राद् हरिभक्तिः+एन्द्रात् हरिभक्तिः=इन्द्र तक हरिभक्ति है, इन उदाहरणों में 'आङ है, इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं हुई। अतः प्रकृति-भाव न होकर यथाप्राप्त सन्धि कार्य हुआ।

---

१ मर्यादा सीमा-अवधि को कहते हैं। 'तेन विना मर्यादा' अर्थात् जिसको अवधि माना जाता है, वह साथ नहीं लिया जाता। 'आम्बुधेरस्य' में समुद्र को जो राज्य की सीमा कहा गया, वह समुद्र राज्य में नहीं लिया जाता। इसलिए यहाँ मर्यादा है।

२ अभिविधि—भी मर्यादा ही है, परन्तु इसमें अवधिभूत का ही ग्रहण किया जाता है—सह तेन अभिविधिः। इन्द्रतक हरिभक्ति है—यहाँ इन्द्र अवधि है। वह भी विष्णुभक्तों में लिया जाता है—इसलिए यहाँ अभिविधि है।

(प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम्)

ओत्[1] । १ । १ । १५ ॥

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः । अहो ईशाः ।

(प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम्)

सम्बुद्धौ[7] शाकल्य[6]स्येतौ[7] वनार्षे[7] । १ । १ । १६ ॥

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो-इति विष्ण इति, विष्णविति ।

वाक्य में—आ एवं नु मन्यसे । स्मरण में—आ एवं किल तत् । इन में 'आ' है । इनकी प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है तब प्रकृतिभाव होने से यथा प्राप्त सन्धिकार्य-वृद्धि नहीं होती ।

ओदिति—ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

ओदन्त निपात-अहो, अथो, मिथो और उताहो-ये हैं ।

अहो ईशाः (अहो ! ये स्वामी हैं)—'अहो+ईशाः' इस दशा में 'अहो' यह ओदन्त निपात है । इसकी प्रगृह्यसंज्ञा हुई । तब प्रकृतिभाव हुआ । अतः 'एचोऽयवायावः' से 'अव्' आदेश न हुआ ।

अन्य उदाहरण—मिथो+आगच्छतः=मिथो आगच्छतः=वे दो साथ आते हैं । अहो+अद्य महोष्णता=अहो अद्य महोष्णता=ओह आज बड़ी गर्मी है । अथो+अपि=अथोअपि=इस पर भी । अहो+अहोभिः=अहो अहोभिः+आश्चर्य ! दिनों ने । इदं सत्यमुताहो+इदम्=इदं सत्यमुताहो इदम्=यह सच है अथवा यह ।

सम्बुद्धाविति—सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार विकल्प से प्रगृह्य हो, अवैदिक, अर्थात् जो वेद का न हो, 'इति' शब्द परे होने पर ।

---

१ 'एकवचनं सम्बुद्धिः' सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । प्रथमा के एकवचन को सम्बोधन में सम्बुद्धि कहते हैं ।

(उञो वकारविधायकं सूत्रम्)

मय[६] उञो[६] वो[७] वा ।८ । ३ । ३३ ॥

मयः परस्य उञो वो वा अचि । किम्वुक्तम् किमु उक्तम् ।

विष्णो इति—'विष्णो+इति' यहाँ जो ओकार है वह 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मानकर हुआ है—अतः यह सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार हुआ । 'इति' शब्द जो पर है यह वैदिक-वेद का-नहीं, लौकिक है । इसलिये यहाँ प्रकृत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा हुई । तत्र प्रकृतिभाव हुआ । अभाव पक्ष में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से ओकार को 'अव्' आदेश हुआ । तदनन्तर 'विष्णु अव् इति' इस दशा में 'लोपः शाकल्यस्य' से पदान्त होने के कारण विकल्प से वकार का लोप होकर **'विष्ण इति'** रूप वना । लोपाभाव पक्ष में **'विष्णविति'** इस प्रकार तीन रूप सिद्ध हुए ।

मय इति—मय से पर उञ् के उकार को वकार होता है विकल्प से अच् परे होने पर ।

उञ् से 'उ' का तात्पर्य है । 'उञ्' निपात है, इसका प्रयोग जव होता है तव 'उ' के ही रूप में । एक अच् रूप निपात होने से 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त थी । उसका यह अपवाद-बाधक है ।

किम्वुक्तम् (क्या कहा ?)—किम्+उ+उक्तम्' यहाँ 'उ' उञ् है अच् 'उक्तम्' का आदि उकार है । अतः मय्—'किम्' के मकार—से पर होने के कारण 'उ' को 'व्' आदेश हुआ । तव 'किम्वुक्तम्' रूप सिद्ध हुआ पक्ष में—यथाप्राप्त प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव होकर 'किमु उक्तम्' रूप बनता हैं, प्रकृतिभाव होने पर यण् नहीं होता ।

यहाँ यह न समझना चाहिये कि यण् होकर 'किम्वुक्तम्' रूप सिद्ध हो जायगा, अतः इस सूत्र के द्वारा वकारविधान व्यर्थ है । क्योंकि यण् का बाध प्रगृह्य संज्ञा से होता है । अतः उससे कार्य नहीं चलता ।

(पदान्त-इको ह्रस्वविधायकं सूत्रम्)

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। ६ । १ । १२७।

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्—गौर्यौ।

(अपवादवार्तिकम्)

(वा०) न समासे। वाप्यश्वः।

इक इति। पदान्त इक् को ह्रस्व विकल्प से हो असवर्ण अच् परे होने पर।

ह्रस्वविधानेति—ह्रस्व-विधान के सामर्थ्य से स्वरसन्धि नहीं होती अर्थात् यदि ह्रस्व करने पर स्वर (यण्) सन्धि हो जाय हो ह्रस्वविधि व्यर्थ हो जाती है, दीर्घ को स्वरसन्धि करने से भी तो तब काम चल सकता है। अत: ह्रस्व करने के अनन्तर सन्धि नहीं होती।

चक्रि अत्र (विष्णु यहाँ हैं)—'चक्री+अत्र' इस दशा में पदान्त इक् इकार को अच् अकार परे होने से प्रकृतसूत्र से ह्रस्व हुआ। ह्रस्व होने पर यण् प्राप्त होता है पर वह नहीं होता, अन्यथा ह्रस्व करना व्यर्थ हो जाता है। ह्रस्व के अभाव पक्ष में—दीर्घ ईकार को यण् होकर 'चक्र्यत्र' रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण—गौरी+आह गौरि आह, गौर्याह=पार्वती कहती है। नदी+अवतरति=नदि अवतरति, नद्यवतरति=नदी उतरती है। धनी+उवाच=धनि उवाच, धन्युवाच=धनवान् मनुष्य बोला। बली+ऋक्षः=बलि ऋक्षः, बल्यृक्षः=बलवान् रीछ। नदी+एधते=नदि एधते, नद्येधते=नदी बढ़ती हैं।

पदान्त इति—पदान्त क्यों कहा? इसका फल है 'गौर्यौ' में ह्रस्व न होना। 'गौरी+औ' यहाँ इक् ईकार तो है, पर वह पदान्त नहीं पदान्त तो 'औ' है। तब यण् होकर 'गौर्यौ' रूप बनता है।

(यरो द्वित्वविधायकं सूत्रम्)

अचो[5] रहाभ्यां[5] द्वे[1] । ८ । ४ । ४६ ॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । गौर्य्यौ ।

[7]ऋत्यकः[1] । ६ । १ । १२८ ॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा । ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम्-आर्च्छत् ।

इति अच्सन्धिः ।

(वा०) न समासे इति । समास में पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता असवर्ण अच् परे रहते । यह वार्तिक 'इकोऽसवर्ण.....' का अपवाद–बाधक–है ।

वाप्यश्वः (बावड़ी में घोड़ा) 'वापी+अश्वः' इस दशा में समास होने से पदान्त इक्–ईकार–को असवर्ण अच्–अकार–परे होने पर भी ह्रस्व नहीं होता । तब यण् हो जाता है । 'वाप्यामश्वः' इस विग्रह में यहाँ सप्तमी समास हुआ है ।

अन्य उदाहरण—सुधी+उपास्यः=सुध्युपास्यः (विद्वानों के द्वारा उपासनीय अर्थात् भगवान्) । नदी+उदयः=नद्युदयः (नदी की बाढ़) । गौरी+आत्मजः=गौर्यात्मजः (पार्वती का पुत्र गणेश) ।

अच इति—अच् से पर जो रेफ और हकार उनसे पर जो यर् उसका द्वित्व होता है विकल्प से ।

गौर्यौ—'गौर्य्+औ' इस दशा में अच् 'औ' से पर रेफ है उससे पर यर् यकार है उसको द्वित्व हो गया—गौर्य्यौ । पक्ष में एक ही 'य्' रहा—गौर्यौ ।

अन्य उदाहरण—हर्य्+अनुभवः=हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः (हरि का अनुभव) । कार्य्+अम्=कार्य्यम्, कार्यम् । धर्म्+अः=धर्म्मः, धर्मः । कर्म्+अ=कर्म्म कर्म ।

ऋतीति—ऋत् (ह्रस्व ऋकार) परे होने पर पदान्त अक् को ह्रस्व होता है विकल्प से ।

ब्रह्म ऋषिः—'ब्रह्मा+ऋषिः' इस दशा में पदान्त अक्–आकार को ऋकार परे होने से ह्रस्व हो गया। तब ह्रस्व विधानसामर्थ्य से पहले के समान सन्धि (गुण) नहीं हुआ। ह्रस्व के अभावपक्ष में गुण अर् होकर 'ब्रह्मर्षिः' रूप सिद्ध होता है।

पदान्ता इति—पदान्त क्यों कहा? इसका फल है 'आ+ऋच्छत्' यहाँ ह्रस्व न होना। यहाँ आ अक् पदान्त नहीं। अतः उसको ऋ परे होने पर भी ह्रस्व नहीं हुआ। तब 'आटश्च' सूत्र से वृद्धि होकर 'आर्च्छत्' रूप बना।

इति अच्सन्धिः।

अथ हल्सन्धिः ।

(श्चुत्वविधायकं सूत्रम्)

स्तोः श्चुना श्चुः । ८ । ४ । ४० ॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

स्तोरिति—सकार और तवर्ग के स्थान में शकार और चवर्ग के योग होने पर शकार और चवर्ग आदेश हों ।

वहाँ स त थ द ध न के स्थान में शकार और चवर्ग के किसी भी वर्ण का योग होने पर श् च् छ् ज् झ् ञ् ये आदेश क्रम से होते हैं। तात्पर्य यह है कि स्थानी और आदेशों में यथासंख्य है ।

परन्तु ध्यान रहे कि स त थ द ध न का श च छ ज ञ के साथ योग में यथासंख्य अपेक्षित नहीं अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि सकार का योग शकार के साथ चकार का योग चकार के साथ ही हो। एवं आगे भी इसका प्रमाण 'शात्' यह श्चुत्व निषेध करने वाला सूत्र है। यदि योग में भी यथा संख्य-क्रम से सम्बन्ध लिया जाय तो शकार से पर तवर्ग को श्चुत्व प्राप्त नहीं होता, उसके निषेध की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु सूत्र बनाया गया है उससे यही सिद्ध होता है कि योग में क्रम नहीं लिया जाता ।

योग पूर्व तथा पर दोनों प्रकार का समझना चाहिये। इसका प्रमाण भी 'शात्' सूत्र ही है। यदि परयोग ही यहाँ लिया जाता तो शकार से पर तवर्ग को श्चुत्व प्राप्त नहीं होता, निषेध करना व्यर्थ होता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वयोग भी लिया जाता है ।

रामश्शेते (राम सोता है)—'रामस्+शेते' इस दशा में पर

(श्चुत्वनिषेधसूत्रम्)

शात्[5] ८ । ४ । ४४ ॥

शात् परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

शकार के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में शकार आदेश इस सूत्र से हो जाता है। इस प्रकार 'रामश्शेते' रूप सिद्ध होता है।

रामश्चिनोति--(राम चुनता है)—'रामस्+चिनोति' इस दशा में पर चकार के योग होने से पूर्व सकार तवर्ग के स्थान में चवर्ग चकार होकर रूप सिद्ध होता है।

सच्चित् (सत् और ज्ञान स्वरूप)—सत्+चित् इस दशा में पर चकार चवर्ग के योग होने पूर्व तकार तवर्ग के स्थान में चवर्ग चकार होकर रूप बनता है।

शार्ङ्गिञ्जय (भगवान् विष्णो तुम्हारी जय हो)—शार्ङ्गिन्+जय' इस दशा में पर चवर्ग जकार से संयोग के कारण पूर्व तवर्ग नकार के स्थान में ञकार चवर्ग आदेश होकर रूपसिद्धि होती है।

अन्य उदाहरण—उत्+चिनोति=**उच्चिनोति**=चुनता है। सत्+चरित्रम्=**सच्चरित्रम्**=अच्छा चरित्र। सूर्यस्+छन्नः=**सूर्यश्छन्नः**=सूर्य ढक गया। विपद्+जालम्=**विपज्जालम्**=विपत्तियों का समूह। कतिचिद्+जनाः=**कतिचिज्जनाः**=कितने ही आदमी। यान्+चा=**याञ्चा**=माँगना।

थ के स्थान में छ और घ के स्थान में झ आदेश के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते, अतएव यहाँ नहीं दिये गए।

शादिति—शकार से पर तवर्ग के स्थान में श्चुत्व न हो।

विश्नः[1] (गति भाषण)—'विश्+नः' इस दशा में पूर्व शकार के साथ योग होने से पर तवर्ग नकार के स्थान में 'स्तोः श्चुना श्चुः'

---

१ विच्छ् धातु से 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' से नङ् प्रत्यय होने पर 'च्छ्वोः शूडनुनासिके' से श को श हुआ है।

(ष्टुत्वविधायकं सूत्रम्)

ष्टुना[3] ष्टुः[1] ।। ८ । ४ । ४१ ।।

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्याद् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

सूत्र से श्चुत्व प्राप्त होता है। उसका इस सूत्र से निषेध हो जाता है, क्योंकि यहाँ शकार से पर तवर्ग नकार है। श्चुत्व न होने से जैसे का तैसा रह गया।

प्रश्नः[1] (सवाल)—'प्रश्+नः' इस दशा में पूर्वोक्त प्रकार से श्चुत्व का निषेध होने से यथावत् रूप रह जाता है।

ष्टुनेति सकार और तवर्ग के स्थान में षकार और टवर्ग के योग में षकार और टवर्ग आदेश होता है।

इस सूत्र में भी योग में यथासंख्य नहीं लिया जाता। इसका प्रमाण **'तोःषि'** यह ष्टुत्वनिषेध सूत्र है, अन्यथा तवर्ग को षकार पर रहते ष्टुत्व प्राप्त ही नहीं होगा, सूत्र निरर्थक हो जायगा। अतः षकार और टवर्ग में से किसी भी वर्ण के साथ योग होने से ष्टुत्व होता है। आदेश और स्थानी का यथासंख्य है, स त थ द ध न के स्थान में ष ट ठ ड ढ ण ये क्रमशः ही आदेश होते हैं। पूर्व सूत्र के समान ही पूर्व और पर योग दोनों ही यहाँ भी लिये जाते हैं।

रामष्षष्ठः (राम छठा है)—'रामस्+षष्ठः' इस दशा में पर षकार के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में प्रकृत सूत्र से ष्टुत्व षकार आदेश होने पर उक्त रूप की सिद्धि होती है।

रामष्टीकते (राम जाता है)—'रामस्+टीकते' इस दशा में पर

---

१ प्रच्छ धातु से 'यजयाच'—इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र से नङ प्रत्यय होने पर च्छकार को 'च्छ्वोः शूडनुनासिके' सूत्र से शकार आदेश होकर 'प्रश्नः' सिद्ध होता है।

(ष्टुत्वनिषेधसूत्रम्)

न पदान्ताट्टोरनाम् । ८ । ४ । ४२ ॥

पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात् किम्—ईट्टे । टोः किम्—सर्पिष्टमम् ।

टकार रूप टवर्ग के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में षकार आदेश हो जाता है। इस प्रकार उक्त रूप की सिद्धि होती है।

पेष्टा (पीसने वाला, पीसेगा) – 'पेष्+ता इस दशा में पूर्व षकार के साथ योग होने से पर तकार के स्थान में टकार आदेश होकर उक्त रूप बनता है।

तट्टीका (उसकी टीका)—'तत्+टीका' इस दशा में पर तकार टवर्ग के योग में पूर्व तकार तवर्ग के स्थान में टवर्ग टकार आदेश होकर उक्त रूप बनता है।

चक्रिण्ढौकसे (चक्रधारी, तुम जाते हो)—'चक्रिन्+ढौकसे' इस दशा में पर टवर्ग ढकार के योग होने से पूर्व नकार तवर्ग के स्थान में टवर्ग णकार आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण—त्रयस्+षट्पदाः=**त्रयष्षट्पदाः**=तीन भौंरे। पदार्थास्+षट=**पदार्थाष्षट्**=पदार्थ छ होते है॥ प्रष्+ता=**प्रष्टा**=पूछनेवाला, पूछेगा। मत्+टीका=**मट्टीका**=मेरी टीका। गरुत्मान+डयते=**गरुत्माण्डयते**=गरुड़ उड़ता है। अधिष्+थाता=**अधिष्ठाता**=स्वामी। वृढ्+धः=**वृढः**=बढ़ा हुआ। अन्तिम उदाहरण में धकार को ढकार होने पर पहले ढकार का 'ढो ढे लोपः' सूत्र से लोप हो जाता है।

न पदान्तादिति—पदान्त टवर्ग से पर 'नाम्' भिन्न शब्द के सकार और तवर्ग के स्थान में ष्टुत्व न हो।

षट् सन्तः (छ सज्जन)—'षट्+सन्तः' इस दशा में पूर्व-टकार टवर्ग के योग होने से पर सकार के स्थान में ष्टुत्व आदेश प्राप्त होता है, उसका इस सूत्र से निषेध हो जाता है। क्योंकि यहाँ टकार पदान्त है।

(ष्टुत्वनिषेधप्रतिप्रसववार्तिकम्)

(वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्यः ।

षट् ते—(वे छः) 'षट्+ते' इस दशा में भी पदान्त टवर्ग से पर होने के कारण तवर्ग तकार को ष्टुत्व टकार नहीं हुआ, जैसे का तैसा रह गया ।

पदान्तादिति—पदान्त टवर्ग से पर को निषेध क्यों कहा गया ? इसका उत्तर है कि 'ईट्+ते' यहाँ टवर्ग टकार है, पर वह पदान्त नहीं 'ईड्' धातु है और 'ते' तिङ विभक्ति, 'सुप् तिङन्तं पदम्' सूत्र से पद संज्ञा 'ईट्टे' की होगी और तब पदान्त एकार होगा । अतः निषेध नहीं हुआ तब तकार को ('ष्टुना ष्टुः' सूत्र से) टकार होने से 'ईट्टे' रूप सिद्ध होता है । यदि 'पदान्त' न कहते तो यहाँ भी निषेध हो जाता और रूप की सिद्धि नहीं होती ।

टोरिति—टवर्ग में पर को ही निषेध क्यों कहा गया ? इसका उत्तर है कि 'सर्पिष्+तमम्' यहाँ पदान्त षकार से पर तवर्ग तकार है । अतः निषेध हो जायगा । जब टवर्ग से ही पर को निषेध कहा गया तो यहाँ टवर्ग के न होने से निषेध न हुआ ।

'टोः किम्' इस प्रश्न का आशय है कि 'ष्टु' पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति यहाँ आ जायगी, पदान्त षकार को सर्वत्र जश्त्व[1] डकार होने से टवर्ग मिलेगा, इस प्रकार पदान्त में षकार कभी रहेगा ही नहीं। अतः 'ष्टु' की अनुवृत्ति से काम चल जायगा फिर 'टोः' ग्रहण, क्यों किया गया ? उत्तर का आशय यह है कि 'सर्पिष् तमम्' में 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' सूत्र से षकार होता है जो कि असिद्ध है । असिद्ध होने के कारण

---

१ झलां जशोऽन्ते' सूत्र से होनेवाले जश् आदेश को जश्त्व कहते हैं ।

ज्टुत्व हो नहीं सकता, षकार ही रहेगा। इस स्थल में निषेध न लगे इसके लिए 'टोः' ग्रहण करना अनावश्यक है। यदि 'टोः' ग्रहण न किया जाय तो 'ष्टो' की अनुवृत्ति होने पर षकार से पर को भी निषेध होगा और तब 'सर्पिष्टम्' रूप की सिद्धि न हो सकेगी।

(वा०) अनामिति—नाम्, नवति और नगरी को छोड़कर अन्यत्र ष्टुत्व का निषेध कहना चाहिए अर्थात् इनमें ष्टुत्व होगा ही।

षण्णाम्ः (छः का)—'षड्+नाम्' इस दशा में पदान्त[1] टवर्ग डकार से पर तवर्ग नकार को 'न पदान्तात्–' सूत्र से निषेध प्राप्त होता है, उसका प्रकृत वार्तिक से निषेध हो जाता है। तब 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से ष्टुत्व णकार हो गया। इस प्रकार 'षड्+णाम्' ऐसी स्थिति होने पर 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इस वार्तिक से प्रत्यय 'णाम्' के अनुनासिक णकार के परे होने से पूर्व यर् डकार के स्थान में आन्तरतम्य से अनुनासिक णकार आदेश होकर 'षण्णाम्' रूप बनता है।

षण्णवतिः (छियानवे)—'षड्+नवतिः' इस दशा में सिद्धि 'षण्णाम्' के ही समान होगी। डकार के स्थान में णकार आदेश 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से विकल्प से होगा। अतः पक्ष में 'षड्णवतिः' रूप भी होगा।

षड्णगर्यः (छः नगरियाँ–शहर)–'षड्+नगर्यः' इसकी सिद्धि 'षण्णवतिः' के समान ही होगी। पक्ष में यहाँ भी 'षड् णगर्यः' रूप बनेगा।

---

१ पद संज्ञा करने वाले दो सूत्र हैं–(१) सुप्तिङन्तं पदम् और (२) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने। मुख्य पदसंज्ञा 'सुप् तिङन्तं पदम्' सूत्र से ही होती है। 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इस सूत्र से हलादि सुप्प्रत्ययों के परे रहते भी पद संज्ञा होती है—जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा। यहाँ 'नाम्' इस हलादि विभक्ति परे रहते पूर्व 'षड्' इसकी 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पदसंज्ञा होती है अतः डकार पदान्त है।

(ष्टुत्वनिषेधसूत्रम्)

तोः[६] षि:[७] । ८ । ४ । ४३ ।

न ष्टुत्वम् । सन् षष्ठः ।

(जश् विधायकं सूत्रम्)

झलां[६] जशोऽन्ते[७] । ८ । २ । ३९ ॥

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

तोरिति—तवर्ग को षकार पर रहते ष्टुत्व नहीं होता ।

सन् षष्ठः (सज्जन छठा है)—'सन्+षष्ठः' इस दशा में षकार का योग होने से पूर्व तवर्ग तकार को ष्टुत्व णकार प्राप्त था। उसका प्रतिषेध प्रकृत सूत्र से हो गया, षकार परे रहते तवर्ग के स्थान में ष्टुत्व नहीं होता, तब यथावत् रूप रहा ।

अन्य उदाहरण—भीष्मात् षाड्गुण्यं शिक्षते=भीष्म से सन्धि विग्रह आदि छः गुण सीखता है। मयूरात् षण्मुखोऽवतरति=मोर से कार्तिकेय उतरता है। पुष्पात् षट्पद उत्पतति=फूल से भौंरा निकल रहा है।

झलामिति—पदान्त में झलों के स्थान में जश् आदेश हो।

झलों में वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स और हकार आते हैं। जश् में वर्गों के तृतीय वर्ण हैं। वर्गीय वर्णों में अपने वर्ग का ही तृतीय वर्ण आदेश होता है । अन्य षकार के स्थान में स्थान-साम्य होने के कारण डकार होता है । शेष के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते ।

वागीशः (बृहस्पति)—'वाक्+ईशः' इस दशा में 'पदान्त'[१] झल्

---

१ 'वाच ईशः' इस विग्रह में यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास होता है। समास होने पर विभक्ति का लोप हो जाता है। इस लुप्त विभक्ति के द्वारा यहाँ ककार पदान्त है। लुप्त विभक्ति अन्तर्वर्तिनी भी कही जाती है। समास स्थल में पदान्तत्व की उपपत्ति इसी प्रकार की जाती है।

(अनुनासिकविधिसूत्रम्)

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा। ८ । ४ । ४५ ॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः ।

ककार के स्थान में सादृश्य के कारण जश् गकार होकर रूप बनता है।

अन्य उदाहरण—मनाक्+हसति=मनाग्हसति=थोड़ा हँसता है। दिक्+ईशः=दिगीशः=दिशाओं का स्वामी। जगत्+ईशः=जगदीशः=संसार का स्वामी। रत्नमुट्+धावति रत्नमुड् धावति=रत्न चुराने वाला दौड़ता है। चित्+आनन्दः=चिदानन्दः=ज्ञान और आनन्द रूप भगवान्। क्षुध्+भिः=क्षुद्भिः=भूखों से। मधुलिट्+गुञ्जति=मधुलिड् गुञ्जति=भौंरा गूँजता है। ककुभ्+ईशः=ककुबीशः=दिशाओं का स्वामी। षट्+आम्राणि=षड् आम्राणि=छः आम के फल। कतिचित्+दिनानि=कतिचिद् दिनानि=कुछ दिन।

यर इति—पदान्त यर् के स्थान में अनुनासिक परे होने पर अनुनासिक विकल्प से हो।

एतन्मुरारिः (यह विष्णु)—'एतत्+मुरारिः' इस दशा में पदान्त यर् तकार के स्थान में अनुनासिक मकार परे होने से स्थानसाम्य से अनुनासिक नकार हो गया। पक्ष में 'एतद्मुरारिः' यह भी रहेगा।

अन्य उदाहरण—षड्+मासाः, षण्मासाः, षड्मासाः=छः महीने। धिक्+मूर्खम्=धिङ् मूर्खम्, धिग् मूर्खम्=मूर्ख को धिक्कार। त्वक्+मनसी=त्वङ्मनसी, त्वग्मनसी=त्वचा (चमड़ी) और मन। षड्+नवतिः=षण्णवतिः, षड्णवतिः=छियानवे। षट्+णगर्यः=षण्णगर्यः, षड्नगर्यः=छः शहर। मद्+नीतिः=मन्नीतिः, मद्नीतिः=मेरी नीति। सद्+मार्गः=सन्मार्गः, सद्मार्गः=अच्छा मार्ग। ककुप्+नायकः=ककुम्नायकः, ककुब्नायकः=दिशाओं का स्वामी।

(नित्यानुनासिकविधिवार्तिकम्)

(वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम् । तन्मात्रम् । चिन्मयम् ।

(तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णविधायकं सूत्रम्)

तोर्लि । ८ । ४ । ६० ।।

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः ।

तल्लयः । विद्वाल्ँ लिखति । नस्यानुनासिको लः ।

(वा०) प्रत्यय इति—अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो तो पदान्त यर् के स्थान में नित्य अनुनासिक आदेश हो ।

तन्मात्रम् (उतना ही)—'तद्+मात्रम्' इस अवस्था में अनुनासिक मकार आदि प्रत्यय मात्र परे होने से पदान्त यर् दकार को नित्य अनुनासिक नकार होकर रूप बना। यहाँ 'तदस्यपरिमाणम्' इस अर्थ में 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इस सूत्र से 'मात्रच्' प्रत्यय हुआ है ।

चिन्मयम् (ज्ञानस्वरूप, चेतनस्वरूप)—'चित्+मयम्' इस अवस्था में तकार को अनुनासिक नकार नित्य होता है। यहाँ 'चिदेव' इस अर्थ में 'तत्प्रकृतवचने मयट्' से मयट् प्रत्यय हुआ है।

अन्य उदाहरण—वाग्+मयम् वाङ्मयम्=शास्त्र । वाग्+मात्रम्=वाङ्मात्रम्=केवल वाणी । षड्+णाम्=षण्णाम्=छः का । अप्+मयम्=अम्मयम्=जलमय । मृड्+मयम्=मृण्मयम्=मिट्टी का ।

तोर्लीति=तवर्ग के स्थान में लकार परे होने पर परसवर्ण आदेश हो ।

तल्लयः (उसका नाश)—'तद्+लयः' इस दशा में 'लय' के आदि लकार के परे होने से पूर्व दकार तवर्ग के स्थान में पर लकार का सवर्ण लकार आदेश हो गया, क्योंकि दन्त स्थान से दोनों का साम्य है।

विद्वाल्ँ लिखति (विद्वान् लिखता है)—'विद्वान्+लिखति' इस दशा में तवर्ग नकार के स्थान में पर लकार का सवर्ण लकार ही आदेश

(उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णविधिसूत्रम्)

उदः[५] स्थास्तम्भोः[६] पूर्वस्य[६] ८।४।६१ ॥

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः ।

होता है, परन्तु अनुनासिक होने से नकार के स्थान में अनुनासिक लकार आदेश हुआ।

नस्येति—नकार के स्थान में आनुनासिक ही लकार आदेश हुआ।

लकार का सवर्ण तवर्ग के स्थान में स्थानसाम्य से लकार ही हो सकता है, अन्य नहीं, तब केवल 'पर' आदेश करने से भी काम चल सकता है, क्योंकि पर लकार ही है, वही आदेश होगा। सवर्ण कहने का फल नकार के स्थान में अनुनासिक लकार होता है, इसी अभिप्राय से 'नस्यानुनासिको ल.' यह कहा गया है। संज्ञा प्रकरण में 'अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा' इस वचन के द्वारा लकार का अनुनासिक होना बताया जा चुका है।

अन्य उदाहरण—चिद्+लीनः=**चिल्लीनः**=ज्ञान में मग्न, तद्+लीन=**तल्लीनः**—उस में लीन् तद्+लीला=**तल्लीला**=उसकी लीला, धीमान्+लिखति=**धीमालँ् लिखति**=बुद्धिमान् लिखता है, हसन्+लेढि=**हसलँ् लेढि**=हँसता हुआ चाटता है, कुशान्+लाति=**कुशालँ् लाति**=कुशों को ग्रहण करता है, जगद्+लीयते=**जगल्लीयते**-संसार नष्ट हो जाता है या लीन हो जाता है। हनूमान्+लङ्कां दहति=**हनूमालँ् लङ्कां दहति**=हनूमान् लङ्का को जलाता है।

उद इति—उद् उपसर्ग से पर स्था और स्तम्भ धातुओं के स्थान में पूर्वसवर्ण पूर्व वर्ण का सवर्ण—आदेश हो।

इसके उदाहरण आगे आनेवाले हैं—'उद्+स्थानम्' 'उद्+स्तम्भनम्'। यहाँ उद् उपसर्ग से 'स्था' और 'स्तम्भ' धातु पर हैं, ,स्थानम्' और 'स्तम्भनम्' ये दोनों 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं के रूप हैं। अतः इनको पूर्व दकार का सवर्ण आदेश होगा।

(स्थान्यादेशयोरव्यवधाननियामकं परिभाषासूत्रम्)

५ तस्मादित्युत्तरस्य ६ १ । १ । ६७ ॥

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

(आदेशस्य परादिस्थानित्वनियामकं परिभाषासूत्रम्)

५ आदेः ६ परस्य ६ १ । १ । ५४ ॥

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम् ।

इति सस्य थः ।

तस्मादिति—पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया गया हो, वह कार्य उस पञ्चम्यन्त के द्वारा बोधित वर्ण से—वर्णान्तर-अन्य वर्ण-से-अव्यवहित-व्यवधान रहित-परवर्ण के स्थान में हो अर्थात् निमित्त और स्थानी के बीच में अन्य वर्ण न आना चाहिए।

उदाहरण—'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्र में 'उदः' इस सूत्र में 'उदः' इस पञ्चम्यन्त का उच्चारण कर पूर्वसवर्ण आदेश का विधान किया गया है। अतः यह सूत्र 'उद्' और 'स्था' 'स्तम्भ' के बीच जब अन्य कोई वर्ण नहीं होगा तभी पूर्वसवर्ण कर सकेगा। 'उद्+स्तम्भनम्' इन उदाहरणों में 'उद्' तथा 'स्था' 'स्तम्भ' के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं, अतः सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

इस दशा में भी सम्पूर्ण 'स्था' और 'स्तम्भ' को पूर्वसवर्ण आदेश प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य वर्ण को प्राप्त होता है। उसकी अपवाद-बाधक-अग्रिम परिभाषा दी जाती है।

आदेरिति—जिस कार्य का पर पद के स्थान में विधान किया हो, वह पर के आदि वर्ण के स्थान में करना चाहिए।

इस परिभाषा से 'उद्+स्थानम्' और 'उद्+स्तम्भनम्' में पर के आदि वर्ण सकार के स्थान में पूर्व दकार का सवर्ण आदेश प्राप्त हुआ।

इति सस्य थ इति—इस प्रकार सकार के स्थान में थकार आदेश

(झर्लोपविधिसूत्रम्)

झरो झरि सवर्णे ८ । ४ । ६५ ॥

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि ।

(चर्त्वविधिसूत्रम्)

खरि च ८ । ४ । ५५ ॥

खरिः झलां चरः स्युः ।

इत्युदो दस्य तः—उत्थानम् उत्तम्भनम् ।

हुआ अर्थात् आन्तरतम्य—अत्यन्तसादृश्य-होने से विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण प्रयत्नवाले सकार के स्थान मे उसी प्रकार का थकार पूर्वसवर्ण आदेश हुआ ।

तब, उद् थ् थानम्' 'उद् थ् तम्भनम्' यह स्थिति बनी ।

झर इति—हल् से पर झर् का लोप हो सवर्ण झर् परे हो तो ।

'उद् थ् थानम्' और 'उद् थ् तम्भनम्' में हल् दकार से पर् थकार है और उससे पर सवर्ण झर् थकार और तकार है । अतः विकल्प से पूर्व थकार का लोप हुआ । तव 'उद् थानम्' 'उद् तम्भनम्' यह स्थिति बनी । अभाव पक्ष में यथावत् ही रहेगा ।

खरीति—खर् परे हो तो झलों के स्थान में चर् आदेश हों ।

इत्युद—इस से दकार के स्थान में तकार आदेश हुआ अर्थात् 'उद् थानम्' और 'उद् तम्भनम्' यहाँ खर् थकार और तकार के परे होने से पूर्व झल् दकार के स्थान में स्थानसाम्य होने कारण तकार आदेश हुआ । तब 'उत्थानम्' और उत्तम्भनम् रूप बने । लोप के अभाव पक्ष में भी दकार को तकार होगा और थकार को भी, अतः वहाँ तकार द्वित्व रहेगा—उत्त्थानम्, उत्त्तम्भनम् ।

अन्य उदाहरण—उद्+स्थापयति=उत्थापयति, उत्थापयति (उठाता

(झय्परहकास्य पूर्वसवर्णविधिसूत्रम्)

झयो हो ऽन्यतरस्याम् । ८ । ४ । ६२ ।

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः ।

नादस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः—वाग्घरिः, वाग्हरिः ।

है), उद्+स्थापकः=उत्थापकः उत्त्थापकः (उठानेवाला), उद्+स्तम्भते=उत्तम्भते, उत्तम्भते (उभरता है) ।

झय इति—झय् से पर हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश हो ।

नादस्येति—नाद घोष, संवार और महाप्राण यत्नवाले हकार के स्थान में उसी प्रकार के वर्गों का चतुर्थ वर्ण आदेश होगा अर्थात् हकार का नाद, घोष संवार और महाप्राण यत्न है और वर्णों के चतुर्थ वर्णों के भी यही यत्न हैं, अतः आन्तरतम्य—अत्यन्त सदृश—के कारण हकार के स्थान में यथा-क्रम से चतुर्थ वर्ण आदेश होगा। जहाँ पूर्व कवर्ग होगा, वहाँ कवर्ग का चतुर्थ वर्ण 'घ' कार और जहाँ पूर्व चवर्ग होगा, वहाँ चवर्ग का चतुर्थ वर्ण झकार आदेश होंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

वाग्घरिः (वाणी का सिंह अर्थात् बोलने में निपुण)—'वाक्+हरिः' इस दशा में झय् गकार से पर हकार के स्थान में आन्तरतम्य होने से घकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में 'वाग्हरिः' ऐसा होगा।

अन्य उदाहरण—दिग्+हस्ती=दिग्घस्ती, दिग्हस्ती (दिग्गज), अज्+हलौ=अज्झलौ, अज्हलौ (अच् और हल्), रत्नमुड्+हरति=रत्नमुड्ढहरति रत्नों का चोर चुराता है), वणिग्+हसति=वाणिग्घसति, वणिग्हसति (बनिया हँसता है), सम्पद्+हर्षः=संपद् धर्षः सम्पद् हर्षः (सम्पत्ति का

(शकारस्य छत्वविधायकं सूत्रम्)

शश्छोऽटि । ८ । ४ । ६३ ॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि।

तद्+शिवः' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इति जकारस्य चकारः—तच्छिवः, तच् शिवः ।

(अनुस्वारविधिसूत्रम्)

मोऽनुस्वारः ८। ३ । २३ ॥

मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारो हलि। हरिं वन्दे ।

हर्ष), ददद्+हसति=ददद् धसति, ददद् हसति (देता हुआ हँसता है), ककुब्+हस्ती=ककुब् भस्ती, ककुब् हस्ती (दिग्गज) ।

शश्छ इति—झय् से पर शकार के स्थान में छकार आदेश हो विकल्प से अट् परे होने पर।

तद् शिवः इति—'तद्+शिवः' यहाँ दकार के स्थान में श्चुत्व से जकार आदेश करने पर 'खरि च' से जकार को चकार हुआ। अर्थात् शकार के स्थान में छकार होने से पहले श्चुत्व और चर्त्व ह गे क्योंकि दोनों के प्रति 'शश्छोऽटि' सूत्र पर त्रिपादी होने से असिद्ध है। अतः 'तच्+शिवः' ऐसी स्थिति बन जाने पर झय् चकार से पर शकार के स्थान में इकार अट् परे होने से छकार आदेश होता है। तब 'तच्छिवः' यह प्रयोग सिद्ध होता है। छकार के अभावपक्ष में 'तच्+शिवः' यही रहता है।

अन्य उदाहरण—वाक्+शूरः=वाक्छूरः, वाग् शूरः (बोलने में तेज) विश्वसृट्ज्+शेते=विश्वसृट्छेते, विश्वसृट् शेते (ब्रह्मा सोता है) जगत्+शान्तिः जगच्छान्तिः, जगच्शान्तिः (संसार की शान्ति) । मत्+श्वशुरः=मच्छ्वशुरः, मच् श्वशुरः (मेरा श्वशुर)। यावत्+शक्यम् =यावच् छक्यम् यावच् शक्यम् (जितना हो सके, उतना), । गुप्+शूरता =गुप् छूरता, गुप् शूरता (रक्षक कों शूरता) ।

म इति—मान्त पद के स्थान में अनुस्वार आदेश हो हल् परे

(अनुस्वारविधिसूत्रम्)

नश्चाऽपदान्तस्य झलि । ८ । ३ । २५ ॥

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि, आक्रंस्यते । झलि किम्-मन्यसे ।

होने पर ।

'अलोन्त्यस्य' परिभाषा के बल से पद के अन्त्य मकार के स्थान में ही अनुस्वार आदेश होगा, न कि सम्पूर्ण मान्त पदके स्थान में, जैसा कि सूत्रार्थ में कहा गया है ।

हरिं वन्दे (भगवान् विष्णु को प्रणाम करता हूँ)—'हरिम्+वन्दे' इस दशा में मान्त पद 'हरिम्' के अन्त्य वर्ण मकार के स्थान में हल् 'वकार' परे होने से अनुस्वार आदेश होकर 'हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

अन्य उदाहरण—गृहम्+गच्छति=गृहं गच्छति (घर जाता है) । पुस्तकम्+पठति=पुस्तकं पठति (किताब पढ़ता है) । गुरुम्+नमति= गुरुं नमति (गुरु जी को प्रणाम करता है) । ईश्वरम्+भजति=ईश्वरं भजति (ईश्वर की पूजा करता है) । शत्रुम्+जयति=शत्रुं जयति (शत्रु को जीतता है) । दिव्यम्+सरः=दिव्यं सरः (दिव्य तालाब)

नश्चेति—अपदान्त नकार और मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश हो झल् परे होने पर ।

यशांसि (बहुत यश)—'यशान्+सि' इस स्थिति में अपदान्त होने के कारण नकार के स्थान में झल् सकार परे होने से अनुस्वार होकर 'यशांसि' रूप सिद्ध हुआ ।

आक्रंस्यते (आक्रमण होगा)—'आक्रम्+स्यते, इस दशा में पूर्ववत् अपदान्त होने से मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होता है ।

झलीति—'झल् परे होने पर' ऐसा क्यों कहा ? इसलिये कि **'मन्यसे'**

(परसवर्णविधिसूत्रम्)

अनुस्वारस्य[6] ययि[7] परसवर्णः[1] ८ । ४ । ५८ ।

स्पष्टम्[1] । शान्तः ।

यहाँ अपदान्त नकार को अनुस्वार न हो जाय । यहाँ झल् पर नहीं, यकार झल् में नहीं आता । अतः अनुस्वार नहीं हुआ ।

अन्य उदाहरण—पयान्+सि=पयांसि (बहुत दूध या जल), **सरान्+सि=सरांसि** (बहुत तालाब)। **संगम्+स्यते=संगंस्यते** (साथ मिलेगा, संगत होना) **अनम्+सीत्=अनंसीत्** (प्रणाम किया) ।

अनुस्वारस्येति—अनुस्वार के स्थान में यय् परे होने पर परसवर्ण आदेश हो अर्थात् पर वर्ण यय् का सवर्ण हो ।

अनुस्वार के स्थान में नासिका स्थानसाम्य से वर्गों के पञ्चम वर्ण ङ, ञ, ण, न और म आदेश होंगे । कवर्ग पर होगा तो ङकार आदेश होगा, चवर्ग पर होगा तो ञकार । इसी प्रकार आगे भी । यकार, वकार और लकार पर होंगे तो अनुनासिक यकार, वकार और लकार होंगे ।

शान्तः (शान्त, नष्ट)—'शां+त[2]' इस दशा में अनुस्वार के स्थान में, यय् तकार के परे होने से उसका सवर्ण अनुनासिक वर्ण नकार आदेश होकर 'शान्तः' रूप सिद्ध हुआ ।

अन्य उदाहरण—'अं+कित'=अङ्कितः (चिह्न लगा हुआ, लिखित)

---

१ वृत्तिकार का आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है—अर्थात् इस की वृत्ति लिखने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि इसमें किसी पद की अनुवृत्ति नहीं लानी पड़ती है । सूत्र में जितने पद हैं, उतने से ही अर्थ पूरा निकल आता है ।

२ यहाँ पहले मकार है । उसके स्थान में 'नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र से अनुस्वार हुआ है । आगे के सभी उदारहणों में भी यही प्रक्रिया है ।

(परसवर्णविधिसूत्रम्)

वा पदान्तस्य[६] ८ । ४ । ५८ ॥

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि ।

अं+चितः=अञ्चितः (पूजित) गुं+जित गुञ्जित (गूँजता है) । कुं+ठितः=कुण्ठितः (रुका[१] हुआ, खुंडा) । कां+तः=कान्तः (सुन्दर) गुं+फितः=गुम्फितः (गुंथा हुआ) ।

वेति—पदान्त अनुस्वार के स्थान में यय् परे होने पर परसवर्ण आदेश हो विकल्प से ।

पूर्व सूत्र और इस सूत्र से यह फलित हुआ कि अपदान्त अनुस्वार के स्थान में नित्य और पदान्त के स्थान में विकल्प से परसवर्ण आदेश होता है अर्थात् पदान्त अनुस्वार इस सूत्र का और अपदान्त पूर्व सूत्र का विषय रहेगा ।

त्वङ्करोषि—(तुम करते हो)—त्वं+करोषि इस दशा में अनुस्वार के स्थान में, झय् ककार के परे होने से उसका सवर्ण अनुनासिक ङकार विकल्प से होकर 'त्वङ्करोषि' रूप सिद्ध हुआ । अभाव पक्ष में 'त्वं करोषि' ऐसा अनुस्वारयुक्त ही रूप रहता है । यहाँ अनुस्वार पदान्त है ।

यहाँ पहले मकार है, उसके स्थान में 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होता है, इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये ।

अन्य उदाहरण—भूमिं+खनति=भूमिङ्खनति, भूमिं खनति (जमीन खोदता है) । मधुरं+गायति=मधुरङ्गायति, मधुरं गायति (मधुर गाता है) । आम्रं+चूषति=आम्रञ्चूषति, आम्रं चूषति (आम चूषता है) ऊर्ध्वं+डीयते=ऊर्ध्वण्डीयते, ऊर्ध्वं डीयते (ऊपर उड़ता है) । नदीं+तरति=नदीन्तरति, नदीं तरति (नदी पार करता) । शंखं+धमति=

---

१ जैसे चाकू कुण्ठित है । कुण्ठित=रुका हुआ अर्थात् खुण्डा है तेज नहीं । बुद्धि कुण्ठित है अर्थात् रुकी हुई है, काम नहीं कर सकती ।

(अनुस्वारापवादसूत्रम्)

मो[६] राजि[७] समः[६] क्वौ[७]। ८। ३। २५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

(अनुस्वारबाधकं सूत्रम्)

हे[७] मपरे[७] वा। ८। ३। २६॥

मपरे हकारे परे मस्य मो वा॥ किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति।

शंखन्धमति, शंखं धमति (शंख बजाता है)। शिवं+भजति=शिवम्भजति, शिवं भजति=(शिव की पूजा करता है)। जलं+पिबति=जलम्पिबति, जलं पिबति (जल पीता है)।

परसवर्णवाले रूप का प्रयोग अब प्रायः कम किया जाने लगा है।

मो राजीति—क्विप्[1] प्रत्ययान्त राज्धातु परे होने पर सम् मकार के स्थान के मकार ही आदेश हो अर्थात् अनुस्वार न हो।

यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' का अपवाद है।

सम्राट् (चक्रवर्ती राजा)—सम्+राट्' यहाँ 'राट्' यह क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु है। उसके परे होने से सम् के मकार के स्थान में मकार हुआ, अनुस्वार नहीं हुआ। हल् रेफ पर होने से सम् के मकार को अनुस्वार प्राप्त है।

हे मपरे इति—मकारपरक (जिस से मकार पर हो) हकार पर

१—सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्। ३। २। ६१॥ १ इस सूत्र से राज् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ और तब 'वचभ्रस्जसृजमृजराजभ्राजच्छशां षः ८। २। ३६॥' से जकार के स्थान में षकार होता है। अन्त में जश्त्व और चर्त्व होकर 'राट्' बनता है।

(अनुस्वारस्य यवलविधायकं वार्तिकम्)

(वा) यवलपरे यवला वा ।

कियँ ह्यः, किं ह्यः । किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति किं ह्लादयति ।

रहते मकार के स्थान में मकार ही आदेश होता है अर्थात् अनुस्वार नहीं होता विकल्प से ।

किम्ह्मलयति—(क्या चलता या हिलता है ?)—'किम्+ह्मलयति' इस दशा में मकारपरक हकार पर होने से 'किम्' के मकार के स्थान में इस दशा में मकारपरक हकार पर होने से 'किम्' के मकार के स्थान में मकार ही आदेश विकल्प से होकर 'किम्ह्मलयति' रूप सिद्ध होता है। पक्ष में मकार को 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होकर 'किं ह्मलयति' ।

(वा) यवलेति—यकार, वकार और लकार परक हकार पर रहते मकार के स्थान में क्रम से यकार, वकार और लकार हो विकल्प से ।

मकार स्थानी अनुनासिक है, अतः स्थानकृत सादृश्य के कारण उसके स्थान में य, व, ल, आदेश अनुनासिक ही होंगे ।

कियँ ह्यः (कल क्या ?)—'किं+ह्यः' इस दशा में यकारपरक हकार पर होने से मकार के स्थान में अनुनासिक[1] यकार होकर कियँ

---

१ यहाँ अनुनासिक का विधान 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा का विचार न करके किया गया है । 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' इस सूत्र में 'अप्रत्ययः' के द्वारा भी यही कहा गया है कि विधीयमान अण् सवर्ण का ग्राहक नहीं होता। यहाँ यवल विधीयमान हैं अर्थात् इनका विधान हो रहा है । अतः पूर्वोक्त परिभाषा और सूत्र के अनुरोध से ये सवर्ण का ग्रहण नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त 'तोर्लि' सूत्र पर 'नस्यानुनासिको लः' यह जो कहा गया है, वह परसवर्ण आदेश कहने से संगत हो जाता है, अन्यथा 'पर' कहने से ही काम चल जाता, 'सवर्ण' साथ क्यों कहा ?

(मकारस्य नकारविधिसूत्रम्)

नपरे[७] नः[६] ८ । ३ । २७ ।।

नह रे हकारे मस्य नो वा । किन् ह्नुते, किं ह्नुते ।

(टित्कितोराद्यन्तावयवविधानपरिभाषासूत्रम्)

आद्यन्तौ[२] टकितौ[२] १ । १ । ४६ ।।

टित्कितौ यस्योक्तौ, तस्य क्रमादाद्यन्तवायवौ स्तः ।

ह्यः प्रयोग सिद्ध हुआ । पक्ष में—अनुस्वार ही हो जायगा ।

'किव्ँ ह्वलयति' आदि प्रयोग भी पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होते हैं ।

नपर इति—नकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान में नकार आदेश हो विकल्प से ।

किन् ह्नुते (क्या छिपाता है ?)—'किं ह्नुते' इस दशा में नकार-परक हकार पर होने से मकार के स्थान में नकार आदेश होकर 'किन् ह्नुते' रूप बनता है । पक्ष में मोऽनुस्वारः से अनुस्वार ही होगा ।

आद्यन्ताबि—टित् और कित् (आगम) जिस समुदाय के स्थान में कहे गये हों, वे आगम उस समुदाय के आदि और अन्त अवयव हों अर्थात् टित् आगम आदि में—पूर्व—हो और कित् अन्त में-आगे ।

जैसे—'प्राङ+षष्ठः' यहाँ 'ङणोः कुक् टुक् शरि ८ । ३ । २८' इस अग्रिम सूत्र से ङकार को कुक् का विधान किया गया है । 'कुक्' कित् है, अतः इस परिभाषा के अनुसार ङकार का अन्त्यावयव बनकर उससे आगे होगा । इसी प्रकार 'डः सि धुट्' से सकार को 'धुट्' से कहा गया है । वह टित् है, अतः वह सकार का आद्यवयव बनेगा और उसके पूर्व में होगा ।

('कुक्टुक्' विधिसूत्रम्)

ङणोः[६] कुक्[१] टुक् शरि[७] ८ । ३ । २८

वा स्तः ।

(वा०) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ।

प्राङ्ख् षठः, प्राङ क्षष्ठः, प्राङ षठः । सुगणठ् षष्ठः, सुगणट् षष्ठ सुगण् षष्ठः ।

ङणोरति—ङकार और णकार को क्रम से कुक् और टुक् (आगम) हों शर् परे रहते विकल्प से।

कुक् और टुक् आगम मित्रवत् होते हैं अर्थात् वे आदेश के समान किसी के स्थान में उसे हटाकर नहीं होते, अपितु उसके अवयव बनकर होते हैं। इसीलिये कहा जाता है 'शत्रुवदादेश:, मित्रवदागमः' अर्थात् आदेश शत्रु के समान होते हैं और आगम मित्र के समान।

कुक् और टुक् का 'उक्' मात्र इत्संज्ञक है, अत: 'कुक् और टुक्' दोनों कित् हैं और इसीलिये दोनों अन्त अवयव होकर आगे होंगे।

उदाहरण—'प्राङ+षष्ठः' यहाँ शर् षकार पर होने से ङकार को कुक् आगम होता है। वह पूर्वोक्त परिभाषा के बल से ङकार का अवयव बनेगा और उसीके आगे प्रयुक्त होगा। तब 'प्राङक् षष्ठः' ऐसी स्थिति बन जायगी। इसी प्रकार 'सुगण्+षष्ठः' में टुक् होकर 'सुगण् ट् षष्ठः' यह स्थिति बनेगी।

(वा) चय इति—चयों (प्रथम वर्णों) के स्थान में द्वितीय वर्ण आदेश हों शर् परे होने पर 'पौष्करसादि' आचार्य के मत में।

'पौष्करसादि' के मत में कहने से फलित हुआ कि पाणिनि के मत में यह नहीं होता अतः विकल्प से कार्य होगा। विकल्पार्थक वा अर्थ न कह कर आचार्य के नाम का उल्लेख करना आदर-प्रदर्शन के लिये है।

'प्राङ क् षष्ठः' यहाँ चय् ककार है और शर् सकार पर है। अतः ककार के स्थान में द्वितीय वर्ण खकार हो जायगा। इस प्रकार 'प्राङ ख् षष्ठः' यह प्रयोग सिद्ध हुआ। पक्ष में ककार और षकार को मिलाकर

(धुडागमविधिसूत्रम्)

डः[6] सि[7] धुट्[1] ८ । ३ । २९ ॥

डात्परस्य सस्य धुड्वा । षट् त् सन्तः ।

'क्ष' बनकर 'प्राङ क्षष्ठः' बनता है और कुक् के अभाव पक्ष में 'प्राङ षष्ठः' ऐसी ही रूप रहेगा ।

इसी प्रकार सुगण्ठ् षष्ठः', 'सुगण् ट् षष्ठः' और सुगण् षष्ठः' ये तीन रूप बनेंगे

अन्य उदाहरण—प्राङ+शूरः=प्राङ ख् शूरः प्राङ क् शूरः प्राङशूरः, (पहला शूर) । उदङ+सर्ता=उदङ ख्सर्ता उदङ क् सर्ता, उदङ सर्ता (उत्तर को जानेवाला) । सुगण्+शेते=सुगण् ठ् शेते, सुगण् ट् शेते सुगण् शेते (अच्छा गणितज्ञ सोता है) । सुगण्+सरति=सुगण् ठ् सरति, सुगण् ट् सरति सुगण् सरति (अच्छा गणितज्ञ जाता है) ।

कुक् टुक् वाले और पौष्करसादि के प्रयोग आजकल प्रायः प्रयुक्त नहीं होते ।

ड इति—डकार से पर सकार को धुट् आगम हो विकल्प से ।

'धुट्' का 'उट्' इत्संज्ञक हैं, अतः यह टित् है, इसीलिये यह सकार का अवयव बनेना और उसके पहले होगा ।

षट् त् सन्तः (छः सज्जन)—'षड्+सन्तः' इस दशा में डकार से पर सकार को 'धुट्' आगम हुआ । वह सकार के पूर्व होगा । तब 'षड्' ध् सन्तः ऐसी दशा होने पर पहले धकार को चर्त्व—तकार और डकार के स्थान में चर्त्व—टकार होकर 'षट् त्सन्तः' यह रूप सिद्ध हुआ । पक्ष में डकार के स्थान में टकार होकर चर् होकर 'षट् सन्तः' यह रूप बनता है ।

यद्यपि 'षड् सन्तः' यहाँ धुट् होने से पहले ही चर्त्व प्राप्त है । तथापि धुट्विधायक इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से चर्त्वविधायक 'खरिच'

"नश्च ८ । ३ । ३० ॥

नान्तात् परस्य सस्य धुड् वा । सन् त् सः, सन् सः ।

(तुगागमविधिसूत्रम्)

शि" तुक्[1] ८ । ३ । ३१ ।

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा । सञ्‌ छ्म्भुः सञ्‌च् छ्म्भुः, सञ्‌च् शम्भुः, सञ्‌ शम्भूः ।

सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । 'धुट्' होने के अनन्तर पहले धकार के स्थान में चर् तकार आदेश होता है । तव तकार खर् परे होने से पूर्व डकार को चर्–टकार होता है ।

अन्य उदाहरण—लिड्+सु=लिट्त्सु लिट्सु (चाटनेवालों में) । षड्+सुखानि=षट् त् सुखानि, षट् सुखानि (छः सुख) । तुराषाड्+संसरति=तुराषाट् त् संसरति, तुराषाट् संसरति (इन्द्र जाता है) ।

ध्यान रहे अब धुट् वाला प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता ।

नश्चेति—नकारान्त पद से पर सकार को धुट् हो विकल्प से ।

सन् त् सः (वह सज्जन)—'सन्+सः' यहाँ नकार से पर सकार को धुट् हुआ । उट् मात्र की इत्संज्ञा और लोप होने पर धकार को 'खरि च' से चर् तकार होकर 'सन् त् सः' यह रूप वना । पक्ष में—'सन् सः' जैसे का तैसा रहा ।

अन्य उदाहरण—विद्वान्+सहते=विद्वान् त् सहते, विद्वान् सहते (विद्वान् सहता है) । आलस्यवान्+स्वपिति=आलस्यवान् त् स्वपिति आलस्यवान् स्वपिति (आलसी सो रहा है) । अप्रज्ञावान्+संशेते=अप्रज्ञावान् त् संशेते, अप्रज्ञावान् संशेते (मूर्ख सन्देह करता है) ।

शीति—पदान्त नकार को शकार परे रहते तुक् आगम हो विकल्प से ।

'सन्+शम्भुः' यहाँ '८८ शि तुक् ८ । ३ । ३१ ॥' से 'आद्यन्तौ

(ङमुडागमविधिसूत्रम्)

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८ । ३ । ३२

ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदम्, तस्मात् परस्याचो ङमुट् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः ! सन्नच्युतः ।

टकितौ १ । १ । ४६' की सहायता द्वारा नकार को विकल्प से अन्तावयव तुगागम हुआ और 'उक्' मात्र की इत्संज्ञा और लोप । 'सन् त् शम्भुः' ऐसी स्थिति हो जाने पर 'शश्छोऽटि ८ । ४ । ६३' सूत्र की प्राप्ति थी । परन्तु 'स्तोःश्चुना श्चुः' की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण पहले श्चुत्व से त् को चकार हो गया । पुनः चकार के योग होने से पूर्व नकार को श्चुत्व ञकार हुआ । तव 'सञ् च् शम्भुः' यह स्थिति होने पर 'शश्छोटि ८ । ४ । ६३' से झय् चकार से उत्तरवर्ती अट् अकारपरक शकार को विकल्प से छकार होने पर 'झरो झरि सवर्णे ८ । ४ । ६५' से झर चकार का सवर्ण झर् छकार होने से विकल्प से लोप होकर 'सञ् छम्भुः' रूप सिद्ध हुआ । तुक्, छत्व और चकारलोप—इन तीन विकल्पों के कारण लोपाभावपक्ष में 'सञ् च् छम्भुः' 'सञ् च् शम्भुः' और तुगभाव पक्ष में 'सञ् शम्भुः' ये रूप बने । इन रूपों का स्वरूपबोधक श्लोक है—

'ञछौ, ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम् ।
सूत्राणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्' ॥

अन्य उदाहरण—विद्वान्+शोभते=**विद्वाञ् छोभते, विद्वाञ् च् छोभते, विद्वाञ्च् शोभते, विद्वान् शोभते** (विद्वान् शोभित होता है) । पुत्रान्+शाययति=**पुत्राञ् छाययति, पुत्राञ्च् छाययति, पुत्राञ्च् शाययति, पुत्राञ् शायति** (पुत्रों को सुलाती है) ।

ङम इति—ह्रस्व से पर जो ङम्, तदन्त जो पद, उससे पर अच् को नित्य ङमुट् आगम हो ।

(रुत्वविधिसूत्रम्)

समः[१] सुँटि८ । ३ । ५ ॥

समो रुः सुटि ।

ङमुट्' में ङम् प्रत्याहार है, ङ, ण, न की संज्ञा है। उकार उच्चारणार्थ और ट् इत्संज्ञक । 'ङम्' संज्ञा का लक्ष्य में प्रयोग न होने से उसका टित्व निरर्थक है। अतः संज्ञा के टित्त्र का संज्ञी ङ, ण और न प्रत्येक से सम्बन्ध किया जाता हैं । अतः ङुट् णुट् और नुट् ये आगम फलित होते हैं ।

प्रत्यङ्ङ् आत्मा, सुगण् ण् ईशः, सन् न् अच्युतः—इन उदाहरणों में ङ, ण् और न् का ही आगम होकर ङकार, णकार और नकार दो हो गये हैं ।

अन्य उदाहरण—एकस्मिन्+अहनि=एकस्मिन्नहनि (एक दिन में) जानन्+अपि=जानन्नपि (जानते हुए भी)। धावन्+अपतत्=धावन्नपतत् (दौड़ते हुए गिर पड़ा)। हसन्+आगच्छति=हसन्नागच्छति (हँनते हुए आ रहा है) ।

इस सूत्र में दिए हुये नित्य' शब्द का अभिप्राय 'प्रायः' अर्थात् अधिकतर, अक्सर है। इसलिए–तिङ+अन्तः=तिङन्तः (तिङ प्रत्ययान्त पद), सन्+आदिः=सनादिः (सन् आदि में है जिनके वे) धातु इत्यादि प्रयोग बनते हैं। इसका प्रमाण सूत्रकार पाणिनि मुनि का स्वयं कई स्थलों पर 'ङमुड्' का न करन्ा है। जैसे—'सुप्तिङन्तं पदम् १ । ४ । १४' 'इकोयणचि ६ । १ ७७ ॥' 'सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ ॥' इत्यादि सूत्र हैं। सन्नन्तान्न सनिष्यते' इस कारिका में अतएव' सन्नन्तात्' इस एक स्थल में 'नुट किया गया है और इसी में 'सनिष्यते' इस दूसरे प्रयोग में नहीं किया गया ।

सम इति—सम् के मकार के स्थान में रु आदेश हो सुट् परे होने पर। 'रु' में उकार इत्संज्ञक है।

(अनुनासिकविधिसूत्रम्)

अत्रानुनासिकः[१] पूर्वस्य[२] तु वा ८ । ३ । २ ॥

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा ।

(अनुस्वारविधिसूत्रम्)

[२]अनुनासिकात्परो[१] ऽनुस्वारः[१] ८ । ३ । ४ ॥

अनुनासिकं[१] विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः ।

'सम्+स्कर्ता' यहाँ सम् के मकार को इस सूत्र से रु होगा क्योंकि आगे 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे ६ । १ । १३ ॥' से हुए सुट् का सकार है। तब 'स रु+स्कर्ता' ऐसी स्थिति हुई।

अत्रेति—इस 'रु' के प्रकरण में रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक विकल्प से हो ।

इस 'रु' के प्रकरण में कहने में यह अभिप्राय है कि रु के दो प्रकार हैं। एक आठवें अध्याय के दूसरे पाद में 'ससजुषो रुः ८ । २ । ६६' सूत्र-वाला और दूसरा आठवें अध्याय के तीसरे पाद के प्रारम्भ से 'मतुवसो रुः सम्बुद्धौ' सूत्र से 'कानाम्रेडिते ८। ३ ९२' सूत्र तक है। इस दूसरे प्रकरण के सूत्रों से ही विहित 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुनासिक होगा।

'स रु+स्कर्ता' इस दशा में इस सूत्र से रु से पूर्व अनुनासिक होकर 'सँ रु स्कर्ता' यह स्थिति बन गई। अनुनासिक के अभावपक्ष में—

अनुनासिकेति—अनुनासिकवाले पक्ष को छोड़कर रु से पूर्व वर्ण को अनुस्वार आगम होता है।

'स रु स्कर्ता' इस दशा में रु से पूर्व वर्ण के आगे अनुस्वार आ गया। तब 'सं रु+स्कर्ता' यह स्थिति हुई। 'रु' के उकार की इत्संज्ञा है यह पहले कहा जा चुका है, अतः उसका दोनों पक्ष में लोप हो गया। तब 'सँर् स्कर्ता' और 'सं र् स्कर्ता' ऐसी स्थिति हुई।

---

१ 'अनुनासिकात्' यहाँ पञ्चमी ल्यब्लोप में है। अतएव अर्थ किया गया है 'अनुनासिकं विहाय' ।

(विसर्गविधिसूत्रम)

खरवसान[१] योर्विस[२]र्जनीयः ९ । ३ । १५ :।

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः ॥

(सकारविधिवार्तिकभ्)

(वा) संपुंकानां सो वक्तव्यः । सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ।

खरवेति—खर् परे होने पर और अवसान में पदान्त रकार को विसर्ग हों ।

पूर्वोक्त दोनों स्थलों में खर् सकार परे होने से रेफ को विसर्ग हो गये । तव 'सँः स्कर्ता' 'संः स्कर्ता' ऐसी स्थिति वनी ।

(**वा॰**) **समिति**—सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग[२] के स्थान में सकार आदेश कहना चाहिए ।

जैसे—'सँः+स्कर्ता' और 'संः+स्कर्ता' इन दो स्थलों में सम् के विसर्ग होने से इसके स्थान में सकार हो गया । तव रूप वने **'संस्स्कर्ता'**, और **'संस्स्कर्ता'** (संस्कार करनेवाला, सजानेवाला) ।

अन्य उदाहरण—सम्+स्कारः=**सँस्स्कारः**, **संस्स्कारः**=सजाना । सम्+स्कृतम्=**सँस्स्कृतम्**, **संस्स्कृतम्** (संस्कार किया हुआ) । सम्+स्करोति=**सँस्स्करोति**, **संस्स्करोति**, (संस्कार करता है, सजाता है) ।

'समो वा लोपम्' इस भाष्यवचन से मकार का लोप भी विकल्प से होता है । अतः एक सकारवाला रूप भी वनता है । लोप भी रु प्रकरण में है । इसलिए अनुनासिक और अनुस्वार दोनों पक्ष के रूप बनते हैं—**सँस्कर्ता**, **संस्कर्ता** आदि ।

---

२ विसर्ग के स्थान में 'विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३३ ॥' इससे सकार प्राप्त हुआ । इसको वाध कर 'वा शरि ८ । ३ । ३३ ॥' सूत्र से विसर्गों के स्थान में विकल्प से विसर्ग प्राप्त हुए । इसको वाधकर 'सम्पुंकानां वक्तव्यः' । यह वार्तिक है । इससे विसर्ग को सकार हो जाता है ।

[4]पुमः [5]खय्यम्परे [6]८ । ३ । ६ ॥

अम्परे खयि पुमो रुः । पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः

(रुविधिसूत्रम्)

[5]नश्छव्य[6] प्रशान् ८ । ३ । ७ ॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः ।

पुम इति—अम्परक खय् परेहोने पर पु म् के स्थान में रुआदेश हो।

पुम् को कहने पर भी रु 'अलोऽन्त्यस्य १ । १ । ५२' इस परिभाषा से अन्त्य अल् मकार के स्थान में ही होता है।

जैसे—पुम्+कोकिलः=पुरु+कोकिलः पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः (नर कोयल)। सारी साधनप्रक्रिया 'सम्+स्कर्ता' के समान ही यहाँ होती है।

अन्य उदाहरण—पुम्+चरित्रम्+पु रु+चरित्रम्, पुँरु+चरित्रम् पुं रु+चरित्रम्=पुं:+चरित्रम्=पुँ:+चरित्रम्=पुँस्+चरित्रम्, पुंस्+ चरित्रम्=पुँश्चरित्रम्, पुंश्चरित्रम् (पुरुष का चरित्र)। यहां सकार को चवर्ग चकार के योग होने से 'स्तोः श्चुनाश्चुः ८।४।४०' से सकार हुआ। एवं–पुम्+टिट्टिभः=पुँष्टिट्टिभः पुंष्टिट्टिभः (नर टिटिहरी) यहाँ सकार को टवर्ग का योग होने से 'ष्टुना ष्टुः ८।४।४१' से षकार हुआ। पुम्+खनित्रम्=पुँस्खनित्रम् पुंस्खनित्रम् (पुरुष का खनित्र फावड़ा)।

नश्छवीति—अम्परक छव् परे होने पर नान्त पद के स्थान में रु आदेश होता है प्रशान् शब्द को छोड़कर।

'अलोऽन्त्यस्य १ । १ । ५२' परिभाषा के अनुसार नान्त पद के अन्त्य अल् नकार के ही स्थान में रु होगा।

'चक्रिन्+त्रायस्व' यहाँ नान्त पद 'चक्रिन' है, इसके अन्त्य अल्

(सकारविधिसूत्रम्)

विसर्जनीयस्य सः[1] ८ । ३ । ३४ ॥

खरि । चक्रिस्त्रायस्व । अप्रशान् किम्—प्रशान्तनोति । पदान्तस्येति किम्—हन्ति ।

नकार को रु होगा आगे छव् तकार पड़ा है और उसके आगे अम् रकार है। अतः इस सूत्र से नकार को रु होकर 'चक्रि रु त्रायस्व' यह स्थिति हुई। पुनः सारी साधन-प्रक्रिया सम्+स्कर्ता' के जैसे होगी। अन्त में 'चक्रिँः+त्रायस्व' और 'चक्रिः+त्रायस्व' ऐसी स्थिति बन जाने पर—

विसर्जनीयस्येति—विसर्गों के स्थान में सकार आदेश हो खर् परे होने पर।

उपर्युक्त दोनों स्थलों पर विसर्ग को सकार होने से रूप बने—**चक्रिँस्त्रायस्व' 'चक्रिस्त्रायस्व'** (भगवान् विष्णो, रक्षा करो)।

अप्रशानिति—'प्रशान्' को छोड़कर ऐसा क्यों कहा ? 'प्रशान्+तनोति' यहाँ रुत्व न हो इसलिये। **प्रशान्तनोति** (शान्ति करने वाला विस्तार करता है)।

पदान्त इति—पदान्त में क्यों कहा ? इसलिए कि 'हन्+ति' यहाँ रुत्व न हो। यहाँ नकार पदान्त नहीं। रूप बना—**हन्ति** (मारता है)।

अन्य उदाहरण—भास्वान्+चरति=**भास्वाँश्चरति, भास्वांश्चरति** (सूर्य चलता है।) यहाँ सकार को चवर्ग का योग होने से शकार हुआ हैं। भवान्+छिनत्ति=**भवाँश्छिनत्ति, भवांश्छिनत्ति** (आप काटते हैं)। कस्मिन्+चित्=**कस्मिँश्चित्, कस्मिंश्चित्** (किसी में)। बुद्धिमान्+छात्रः=**बुद्धिमाँश्छात्रः, बुद्धिमांश्छात्रः** (बुद्धिमान् छात्र)। चञ्चुमान्+टिटिट्भः=**चञ्चुमाँष्टिट्टिभः, चञ्चुमांष्टिट्टिभः** (चोंच वाली टिटहरी)।

(रुविधिसूत्रम्)

नॄन् पे ८ । ३ । १० ॥

नॄन् इत्यस्य रुर्वा पे ।

(जिह्वामूलीयोपध्मानीयविधिसूत्रम्)

कुप्वोः ≍क ≍पौ च ८ । ३ । ३७

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ≍क ≍पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि, नॄँःपाहि, नॄंःपाहि, नॄन् पाहि ।

नॄनिति—'नॄन्' इस पद को रु विकल्प से हो पकार परे होने पर । अलोऽन्त्य परिभाषा से अन्त्य अल् नकार ही के स्थान में रु आदेश होगा ।

'नॄन्+पाहि' यहाँ पकार परे होने से 'नॄन्' के नकार को रु हो गया । तब बना 'नॄ रु पाहि' यह रूप । पूर्ववत् अनुनासिक और अनुस्वार होकर 'नॄँ रु पाहि' और 'नॄं रु पाहि' यह स्थिति हुई । रकार के स्थान में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः । ८ ३ । १५' से विसर्ग हो गये । विसर्ग के स्थान में 'विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३४' से सकार प्राप्त हुआ ।

कुप्वोरिति—कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय भी होते हैं ।

चादिति—च (भी) कहने से पक्ष में विसर्ग भी होंगे ।

इस सूत्र से उपर्युक्त दोनों स्थलों पर पवर्ग पकार पर होने से विसर्गों के स्थान में उपध्मानीय हो गया और पक्ष में विसर्ग भी रहे । इस प्रकार 'नॄँ≍पाहि' 'नॄँः≍पाहि' 'नॄँःपाहि' और 'नॄंःपाहि' ये चार रूप सिद्ध हुए । रु भी विकल्प से होता है। इसलिए पक्ष में यथा-वत् रूप भी रहा—'नॄन् पाहि'=(मनुष्यों की रक्षा करो) ।

अन्य उदारहण—नॄन्+प्रतिषेधति=नॄँ≍प्रतिषेधति, नॄँ≍प्रति-षेधति, नॄँःप्रतिषेधति, नॄंःप्रतिषेधति, 'नॄन् प्रतिषेधति (मनुष्यों को मना करता है।) एवं—'नॄन्+पालयस्व, नॄन् प्रति' आदि के भी रूप बनेंगे ।

(आम्रेडितसंज्ञासूत्रम्)

तस्य[६] [१]परमाम्रेडितम्[१] ८ । १ । २ ॥

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात् ।

(रुत्वविधिसूत्रम्)

[६]कानाम्रेडिते ८ । ३ १२ ॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते । काँस्कान् कांस्कान् ।

(तुगागमविधिसूत्रम्)

छे[७] च ~~८ । ३ । १२ ।~~ 6 | 1/73/

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया ।

तस्येति—जो दो बार कहा गया हो उसके पर भाग की आम्रेडित संज्ञा हो ।

'कान्+कान्' यहाँ 'कान्' शब्द दो बार कहा गया है, इसमें अगले 'कान्' की 'आम्रेडित' संज्ञा हुई ।

कानति—कान् शब्द के नकार के स्थान में रु आदेश हो आम्रेडित परे होने पर ।

'कान्+कान्' यहाँ दूसरा 'कान्' आम्रेडित परे है । इसलिये प्रथम 'कान्' के नकार को 'रु' हुआ । पुनः अनुनासिक और अनुस्वार दोनों पक्षों में 'काँर्'+कान्' और 'कांर् कान्' यह स्थिति हुई । तब '९३ खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से विसर्ग और 'सम्पुम्कानां सो वक्तव्यः' इस वार्तिक से सकार होकर **'काँस्कान् और 'कांस्कान्'** (किन किन को) ये दो रूप वने । यहाँ भी विसर्ग होने पर 'विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ ।३४' से विसर्ग के स्थान में सकार और उसको वाधकर 'वा शरि ८ । ३ । ३६' से विकल्प से विसर्ग प्राप्त था उसका 'सम्पुम्कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक ने बाध किया ।

छे चेति—ह्रस्व को छकार परे होने पर तुक् का आगम हो ।

(वैकल्पिकतुगागमविधिसूत्रम्)

पदान्ताद्वा ६ । १ । ५६ ॥

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग् वा । लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया ।

इति हल्सन्धिः ।

शिव+छाया=शिवत्+छाया=शिवच्छाया (शिव की कान्ति)। यहाँ ह्रस्व को तुक् आगम होने पर 'शिवत् छाया' ऐसी स्थिति होने पर श्चुत्व के असिद्ध होने से पहले जश्त्व से दकार, तब चर्त्व के असिद्ध होने से पहले श्चुत्वेन जकार, तब चर्त्वेन चकार होकर **शिवच्छाया** रूप बना।

अन्य उदाहरण—वृक्ष+छाया=**वृक्षच्छाया** (वृक्ष की छाया)। स्व+छात्रः=**स्वच्छात्रः** (अपना छात्र)।

पदान्तेति—पदान्त दीर्घ को छकार परे रहते तुक् आगम विकल्प से हो।

लक्ष्मी+छाया=**लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया** (लक्ष्मी की कान्ति)। यहाँ भी साधन प्रक्रिया 'शिवच्छाया' के समान ही होगी।

हल्सन्धि समाप्त।

———

अथ विसर्गसन्धिः ।

(सत्वविधिसूत्रम्)

विसर्जनीस्य[1] सः[2] ८ । ३ । ३४ ॥

खरि । विष्णुस्त्राता ।

(सत्वबाधकसूत्रम्)

वा [3]शरि ८ । ३ ३६ ॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा । हरिः शेते, हरिश्शेते ।

विसर्जनीयेति—विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हो खर् परे होने पर।

विष्णुः+त्राता=**विष्णुस्त्राता** (विष्णु भगवान् रक्षक हैं) । यहाँ खर् तकार परे होने से विसर्ग को सकार हुआ ।

अन्य उदाहरण—छात्रः+तिष्ठति=**छात्रस्तिष्ठति** (छात्र खड़ा है) । गौः+चरति+गौस्+चरति=**गौश्चरति** (गाय चरती है) यहाँ सकार को चवर्ग का योग होने से श्चुत्व से शकार हो गया ।

खरों में से क, ख, प और फ के परे रहने पर ९८ कुप्वोः⌣क⌣पौ च । ३ । ३' इस सूत्र से क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होंगे । रामः+करोति **राम⌣करोति, रामः करोति** (राम करता है) । देवदत्तः+पचति=**देवदत्त⌣पचति देवदत्तः पचति** (देवदत्त पकाता है ।)

वेति=शर् परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग विकल्प से हो ।

हरि : शेते, हरिश्शेते (हरि सोता है) हरिः+शेते यहाँ शर् शकार परे है, 'विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३४ ॥' से विसर्ग को सकार प्राप्त था । इसको बाधकर इस सूत्र से विसर्ग को विसर्ग विकल्प से हुआ । विसर्ग पक्ष में 'हरिः शेते' और अभाव पक्ष में विसर्ग को 'विसजीयस्य

(रुत्वविधिसूत्रम्)

ससजुषो रुः ८ । २ । ६६ ॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात् ।

(उत्वविसूत्रम्)

अतो रो रप्लुतादप्लुते ६ । १ । ११३ ॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः ।

सः' इस सूत्र से सकार हुआ । तब सकार को शकार का योग होने से श्चुत्व शकार होकर **हरिश्शेते** रूप बना ।

अन्य उदाहरण—कविः+शृणोति=**कविः शृणोति, कविश्शृणोति** (कवि सुनता है) । गुणाः+षट्=**गुणाष्षट् गुणा षट्** (गुण छ हैं) । एवं—छात्राः सन्ति=**छात्राः सन्ति, छात्रास्सन्ति** (छात्र हैं) । पदार्थाः+सप्त=**पदार्थाः सप्त, पदार्थास्सप्त** (पदार्थ सात हैं) ।

ससजुषो इति—पदान्त सकार और सजुष् के सकार के स्थान में रु आदेश हो ।

'शिवस्' यहाँ 'सकार' पदान्त है, अत एव 'रु' हो गया । इत्सञ्ज्ञक होने से 'रु' के उकार का लोप हो गया । तब 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः ६ । १ । १५' से अवसान में होने के कारण रु को विसर्ग हो गया । एवं-रामस्=**रामः** । हरिस्=**हरिः** ।

अत इति—अप्लुत अकार से पर 'रु' के स्थान में उकार हो अप्लुत अकार परे होने पर ।

शिवोऽर्च्यः=(शिव पूज्य हैं) शिवरु+अर्च्यः=शिव उ+अर्च्यः=शिवो+अर्च्यः **शिवोऽर्च्यः** । 'शिवस्+अर्च्यः' यहाँ पहले '१०५ ससजुषो रुः ८ । २ । ६६' से सकार के स्थान में 'रु' हुआ । 'रु' को '१०६ अतो रोरप्लुतादप्लुते ६ । १ । १३३ ॥' से 'उ' हुआ । तब '२७ आद् गुणः ६ । १ । ८७' से वकारोत्तरवर्ती अकार अवर्ण और उकार अच् के स्थान

(उत्वविधिसूत्रम्)

हशि च ६ । १ । ११४ ॥

तथा । शिवो वन्द्यः ।

(यत्वविधिसूत्रम्)

भो भगो अघो अपूर्वस्य यो ऽशि ८ । ३ । १७ ॥

एतत् पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह, देवायिह । भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—

में गुण ओकार एकादेश होकर 'शिवो अर्च्यः' यह स्थिति हुई यहाँ '४३ एङः पदान्तादति ६ । १ । १०९' से ओकार और अकार को पूर्वरूप ओकार होने से 'शिवोऽर्च्यः' रूप सिद्ध हुआ ।

अन्य उदाहरण—'सस्+अपि=स रु+अपि=स उ+अपि=सो+'अपि=सोऽपि' (वह भी) । छात्रस्+अयम्=छात्र रु+अयम्=छात्र उ+अयम्=छात्रो+अयम् छात्रोऽयम् (यह छात्र) । नृपस्+अस्ति=नृप रु+अस्ति=नृप उ+अस्ति=नृपो+अस्ति=नृपोस्ति (राजा है) । सोऽवदत् रामोऽब्रवीत् ।

हशि चेति—हश् परे रहने पर भी अप्लुत अकार से परे रु के स्थान में उकार हो।

शिवो वन्द्यः=(शिव वन्दनीय हैं) 'शिवस्+वन्द्यः' यहाँ भी पहले '१०५ ससजुषो रुः ८ । २ । ६६' से सकार को रु और रु को '१०७ हशि' से हश् वकार परे होने से 'उ' हुआ । तब 'शिव उ+वन्द्यः ऐसी स्थिति में '२७ आद् गुणः ६ । १ । ७८' से गुण होकर शिवो वन्द्यः रूप बना ।

अन्य उदाहरण—छात्र+हसति=छात्रस् रु+हसति=छात्र उ+हसति =छात्रो हसति (छात्र हँसता है) । मृगस्+धावति=मृग रु+धावति =मृग उ+धावति=मृगो धावति (मृग दौड़ रहा है)। एवम्—रामो ब्रवीति । नृपो गच्छति । कर्णो ददाति । कृष्णो जयति । देवदत्तो मन्यते ।

भो इति—भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्व रु के स्थान में यकार आदेश हो अश् परे होने पर ।

यहाँ पहले अवर्ण पूर्व 'स' का उदाहरण दिया गया है।

देवा इह देवायिह—देवास्+इह' इस दशा में सर्व प्रथम सकार के स्थान में 'ससजुषो रुः' से रु आदेश हुआ। तब 'रु' से पूर्व वकारोत्तरवर्ती आकार अवर्ण है, अतः इस सूत्र से रु के स्थान में यकार आदेश हो गया। 'देवा य् इह' ऐसी स्थिति में '३० लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९' से अश् इकार पर होने से पदान्त यकार का लोप हुआ। त्रिपादीस्थ होने से '३१ पूर्वत्राऽसिद्धम् ८।२।१' से असिद्ध है। अत एव '२७ आद्गुणः ६।१।८७' से गुण नहीं हुआ। लोपाभाव पक्ष में **'देवायिह'** यह रूप बना।

अन्य उदाहरण—विप्रास्+आगताः=विप्रा रु+आगताः=विप्राय् +आगता=विप्रा आगताः, विप्रायागताः (ब्राह्मण आगये)। मृगस्+एति=मृग रु+एति+मृगय् एति मृगयेति (मृग जाता है)। एवम्—देव आयाति, देवयायाति (देवता आता है)। छात्र इच्छति, छात्रयिच्छति लता आकम्पन्ते लतायाकम्पन्ते (लतायें हिल रही हैं)।

शाकल्य के मत में यकार का लोप होता है पाणिनि के मत में नहीं। परन्तु अब शाकल्य के लोपपक्ष का ही अधिकतर प्रयोग होता है। पाणिनि का यकारवाला प्रयोग कट्टर वैयाकरण ही करते हैं, सर्वसाधारण नहीं।

भोसिति—भोस्, भगोस् और अघोस् ये सकारान्त निपात हैं। भोस् साधारण सम्बोधन में, भगोस् आदरपूर्वक बुलाने में, अघोस् अनादर से सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं। वास्तव में भोस्, भगोस् और अघोस् भवत् भगवत् और अघवत् शब्दों के क्रमशः सूचक सम्बोधन पद हैं। इसीलिए भोस् का प्रयोग साधारण सम्बोधन में, भगोस् का प्रयोग आदर पूर्वक सम्बोधन में तथा अघोस् का निरादर पूर्वक सम्बोधन में होता है।

(यलोपविधिसूत्रम्)

हलि सर्वेषाम् ८ । ३ । २२ ॥

भो भगो अघो अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि ।

हलीति—भोस्, भगोस् और अघस् पूर्वक तथा अवर्ण पूर्वक यकार का लोप हो हल् परे होने पर सब के मत में ।

भो देवाः (हे देवताओ)—'भोस्+देवाः' इस स्थिति में 'ससजुषो रुः' से सकार के स्थान में रु आदेश होने पर भोभगो अघो अपूर्वस्य 'योऽशि' प इस सूत्र से स के स्थान में यकार आदेश हुआ। तब प्रकृत सूत्र 'हलि सर्वेषाम्' से हल परे होने के कारण यकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ है ।

भगो नमस्ते—(भगवान्, अपको नमस्कार) यहाँ 'भगोस्+नमस्ते' इस स्थिति में भो देवाः, के समान सकार को रु, रु के स्थान में यकार और उसका प्रकृत सूत्र से लोप हुआ ।

अघो याहि—(अरे दुष्टा चला जा) अघोस्+याहि' इस स्थिति में पूर्वोक्त प्रयोगों के समान सकार को रु, रु को यकार और यकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भोस् का प्रयोग साधारण बुलाने में 'भगोस्' का प्रयोग आदर पूर्वक बुलाने में और 'अघोस्' का प्रयोग अनादर से बुलाने में है । अतः स्पष्ट है कि 'भोस्' का मूल 'भवत्' शब्द, 'भगोस्' का मूल 'भवत्' शब्द तथा 'अघोस्' का मूल 'अघवत्—पापी' शब्द है अर्थात् ये क्रमशः भवन्, भगवन् और 'अघवन्' इन सम्बोधन पदों के स्थानापन्न हैं । तभी इनसे पूर्वोक्त भाव प्रकट होते हैं ।

अवर्णपूर्व के उदाहरण—छात्रास्+हसन्ति=छाया रु+हसन्ति= छात्राय्+हसन्ति=**छात्रा हसन्ति** (छात्र हँसते हैं) । नृपास्+ददति=

(सुलोपविधिसूत्रम्)

तत्तदोःसुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६ । १ । १३२

...ककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ् समासे। ...ष्णुः : स शम्भुः। अकोः किम्—एषको रुद्रः। अनञ्समासे ...असः शिवः। हलि किम्—एषोऽत्र।

...ाता है। अतः यहाँ तुल्यबलविरोध अर्थात् प्रतिषेध है। तब प्रकृत ...शि पर कार्य की अनुमति मिलती है। पर कार्य 'रो रि' है।

...इतीति—इसलिये पर होने इस सूत्र के अनुसार लोप प्राप्त हुआ। ...'पूर्वत्रासिद्धम् ८। २। १' इस सूत्र से 'रो रि' के असिद्ध होने से ...ी हुआ।

...'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' में अपरम्' यह छेद भी किया जाता है। ...। अर्थ यह हो जाता कि अपर अर्थात् इष्ट कार्य हो। यहाँ इष्ट कार्य ...है, वही होगा।

...मनोरथः (अभिलाषा)—'मनर्+रथः' यहाँ '१११ रो रि ८।३।१४।' ...दोस्थ होने से सपादसप्ताध्यायीस्थ '१०७ हशि च ९। १। ११४।' ...असिद्ध है। इसलिये लोप नहीं हुआ, उत्व ही हुआ सिद्ध ...में तुल्य वल नहीं होता, अतः न्याय्य होने से उत्व ही हुआ यह

...त्र' से उत्व होकर अकार और उकार के स्थान में गुण ओ ...।

...रिति—ककाररहित एतद् और तद् शब्द का जो सु, ...भक्ति का एक वचन) उसका लोप हो हल् परे होने पर ...समास में न हो।

एष विष्णुः (यह विष्णु)—एष सु+विष्णु:' यहाँ प्रकृत सूत्र से सु का लोप होने से रूप सिद्ध हुआ।

स शम्भुः (वह शिव)—'स सु+शम्भु' यहाँ भी प्रकृत सूत्र से सु का लोप होने से रूप सिद्ध हुआ।

इन दोनों रूपों में सकार को रु ओर रकार को विसर्ग आदि कार्य प्राप्त थे।

अकोरिति—ककाररहित को क्यों कहा ? इसलिए कि—[1]'एषकस्+रुद्र:=एषको[1] रुद्रः (यह भगवान् रुद्र हैं) यहाँ न हो। यहाँ एतद् सब्द ककाररहित नहीं। अत: (११४) प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न हुईहीं। तब स् को '१०५ ससजुषो रु: ८।२।६६' से रु और '१०७ हशि च ६।१।११४॥' से रु को उ हुआ। 'आद्गुण:' से गुण होकर 'एषको रुद्रः' रूप सिद्ध हुआ।

अनञिति—नञ् समास में न हो—यह क्यों कहा ? इसलिये कि 'असस्+शिव:=असः शिवः, असश्शिवः (उससे भिन्न शिव) यहाँ न हो। यहाँ नञ् समास[2] है। इसलिए (११४) प्रकृत सूत्र की प्रवृ नहीं हुई।

हलीति किम्—हल् परे हो—ऐसा क्यों कहा ? इसलिए कि 'एषस्+अत्र'=एषोऽत्र (यह यहाँ है) यहाँ न हो। यहाँ हल् परे नहीं है, 'अत्र'

१ एतद् शब्द से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टे:' इस सूत्र से टि अद् से पहले अकच् प्रत्यय हुआ। अच् की इत्संज्ञा और लोप होकर 'एतकद्' बन जाने पर स्वादिकार्य के पश्चात् "एषक:" रूप बना।

२ '९४८ नञ् २।२।६' इस सूत्र से नञ् समास होता है 'न स:' इति विग्रह में 'न तद्' इस स्थिति में '९४९ नलोपो नञः ६।३।७।' सूत्र से न के आदि नकार का लोप हो गया। तब अकार रहा—'अतद्' यह रूप बना। पश्चात् स्वादिकार्य होने से 'अस:'।